भारतीय संगीत के संदर्भ में ताल का विवेचनात्मक अध्ययन

चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ
को संगीत में 'डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी' की उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

2002

निर्देशिका :
डा0 सुनीता सक्सैना
एम0 ए0, पी-एच0 डी0
रीडर एवं अध्यक्षा संगीत विभाग
रघुनाथ गर्ल्स स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
मेरठ।

शोधकर्त्री :
श्रीमती रेखा शर्मा
एम0 ए0 संगीत वादन (तबला)
बी0 एड0
मेरठ विश्वविद्यालय,
मेरठ।

भारतीय संगीत के संदर्भ में ताल का विवेचनात्मक अध्ययन

चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ
को संगीत में 'डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी' की उपाधि हेतू
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

2002

निर्देशिका :
डा० सुनीता सक्सैना
एम०ए०, पी-एच०डी०
रीडर एवं अध्यक्षा संगीत विभाग
रघुनाथ गर्ल्स स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
मेरठ।

शोधकर्त्री :
श्रीमती रेखा शर्मा
एम. ए. संगीत वादन (तबला)
बी० एड०
मेरठ विश्वविद्यालय,
मेरठ।

डा० सुनीता सक्सैना
एम.ए., पी-एच.डी.
रीडर एवं अध्यक्षा संगीत विभाग
रघुनाथ गर्ल्स पी. जी. कॉलिज, मेरठ

© : 643014
'ध्वनिका'
343, शिवाजी मार्ग,
मेरठ-250 001

दिनांक : 6-11-2002

प्रमाण-पत्र

मैं प्रमाणित करती हूँ कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध **'भारतीय संगीत के संदर्भ में ताल का विवेचनात्मक अध्ययन' श्रीमती रेखा शर्मा** का मौलिक शोधकार्य है जो **चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ से संगीत वादन (तबला)** में पी-एच०डी० उपाधि हेतु प्रेषित किया जा रहा है। यह सम्पूर्ण कार्य मेरे निर्देशन में सम्पादित हुआ है तथा श्रीमती रेखा शर्मा ने विश्वविद्यालय के नियमानुसार निर्धारित उपस्थिति भी पूर्ण की है।

S. Saxena

(डा० सुनीता सक्सैना)

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

प्राक्कथन

छंद समय का समानुपात है जो प्रकृति की सभी प्रक्रियाओं में अंतर्निहित है। संगीत में छंद मात्र ही वह तत्व नहीं जो धुन का सौंदर्य बढ़ाता है बल्कि यह कल्पना की जीवनी शक्ति है। अतः ऐसा कहा गया है कि छंद धुनं का विश्व स्पन्दन है। छंद क्या है, यह एक चैतन्यमय गति है, जो सामंजस्य प्रतिबंधों से उत्पन्न होती है व नियमित होती है। यह कलाकार की रचनात्मक शक्ति है। सदियों के सांगीतिक विकास से ही मानव ने छंद की अपनी अनुभूति को ताल में व धुन को राग में परिणत किया। ताल व राग दोनों ही छंद और धुन का उन्नत रूप हैं।

लय शोणित वपु ताल में, मात्रा नाड़ी जान।
त्वच आघात प्रमाणिये, कहत सबै बुधियान ॥

अर्थात ताल ब्रह्म दिव्य शरीर धारी एक शाश्वत सत्य है; जिसे हम भिन्न-भिन्न नामों से स्वीकार करते हैं। संगीत की उत्पत्ति से विकास तक गायन, वादन व नृत्य के साथ ताल का प्रयोग अत्यंत प्राचीन काल से होता चला आ रहा है जिसका प्रमाण इतिहास में भी मिलता है।

संगीत में तीनों ही कलायें अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। ध्वनि तथा गति के मिश्रण से निर्मित संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य तीनों का समावेश है। ताल तथा लय संगीत का आवश्यक तत्व होने के साथ-साथ प्रकृति को भी अपने अनुरूप ढालकर चलाने में अपना योगदान देते हैं। प्रकृति के समस्त कार्य एक लय में अवतरित होकर चलते हैं। चूँकि आदिकाल में मानव नितांत प्राकृतिक अवस्था में था फिर भी वह संगीत से अछूता नहीं था। मानव मुख से निकलने वाली विचित्र ध्वनि ही उनका संगीत थी। आधुनिक काल में भारतीय संगीत-वाद्यों का ज्ञान हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों के उत्खननों, वेदों तथा वाल्मिकी रामायण, महाभारत, बौद्ध एवं जैन ग्रंथों, पुराणों और प्राचीन प्राप्त शिल्पों या अन्य उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है। इसके उपरान्त भरत कालीन संगीत पर नाट्य-शास्त्र ग्रंथ उपलब्ध है जिसमें ताल व वाद्यों पर विशद विवेचन किया गया

है। संगीत का कोई भी अंग ताल से अछूता नहीं है। संगीत को कालबद्ध करने के लिये ताल की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार संपूर्ण शरीर के नीचे रहकर, शरीर को धारण करने के कारण पैर के नीचे का भाग 'पदतल' कहलाता है, पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को अपने ऊपर धारण करती है। इसीलिये 'अवनितल' या 'पृथ्वीतल' शब्दों का प्रयोग होता है। इस आधार से काल का जो क्रियात्मक, आवृत्त होने वाला खण्डगीत वाद्य और नृत्य को अपने ऊपर धारण करता है, वही "ताल" है।

इस प्रकार यदि गूढ़ता से विचार किया जाये तो संगीत की उत्पत्ति का मूल आधार ईश्वर द्वारा विचरित प्रकृति ही है तथा नाद व गति ये दोनों तत्व भी हमें प्रकृति की देन हैं, जिसका विस्तार करके मानव ने अपने विवेक द्वारा परिष्कृत तथा परिमार्जित रूप प्रदान किया। इसी के अन्तर्गत 'ताल' एक विस्तृत रूप है। संगीत का प्रत्येक अंग चाहे वह शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाये अथवा अन्य रूप में दृष्टिगोचर हो, किसी भी अवस्था में वह ताल के अभाव में अधूरा है। संगीत में गायन-वादन अथवा नृत्य का सौंदर्य ताल पर ही निर्धारित है। 'ताल' संगीत का एक ऐसा अंग है जो बड़ी कुशलता से लय के आधार पर उसमें परिवर्तन कर अनेकों सौंदर्यपूर्ण रूप दे देता है। गायन, वादन अथवा नृत्य, संगीत के सभी अंग ताल द्वारा परिवर्तित हो उसको सुख, दुख, वियोग, संयोग, विरह, चंचलता व इसके अतिरिक्त न जाने कितने परिवर्तन ताल द्वारा संगीत में दिखाये जाते हैं। इसी कारण 'ताल' को संगीत का प्राण कहा जाता है। ताल संगीत का एक ऐसा प्रतिष्ठित रूप है जिसके प्रभाव से विश्व का कोई भी सांगीतिक रूप वंचित नहीं है। अर्थात ताल विश्व के प्रत्येक संगीत से जुड़ी हुई है।

संगीत में ताल की उत्पत्ति को एक ओर यदि योगीराज शंकर के तांडव नृत्य में उनके वाद्य डमरु-वादन से ताल की उत्पत्ति मानी गयी है, वहीं दूसरी ओर ताल की उत्पत्ति ताल के अंग लघु, गुरु, प्लुत आदि के आधार पर भी मानी गयी है।

ताल संगीत को एक व्यवस्थित रूप प्रदान करता है। ताल संगीत के प्रत्येक अंग को सुनियमित गति प्रदान कर चाहे वह नृत्य हो अथवा गायन, एक निश्चित नियम अथवा

समय के बंधन में बाँधता है। ताल के अभाव में नृत्य अथवा गायन सभी संगीत रसहीन हो जाता है, किंतु ताल बद्ध होकर वही संगीत मनोरंजक एवं श्रवणप्रिय हो जाता है। नृत्य संगीत का मुख्य अंग माना जाता है किंतु इसके विभिन्न रूप उदाहरण के लिये शास्त्रीय नृत्य के अंतर्गत–कत्थक नृत्य, भरतनाट्यम, कथकलि अथवा मणिपुरी। सभी प्रकार के नृत्य ताल पर ही आधारित हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे नृत्य भी ताल के साथ ही किये जाते हैं।

वर्तमान समय में हमारा सामाजिक जीवन संगीत से अत्यधिक जुड़ा हुआ है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो संगीत वर्तमान समय में मानव तो मानव पशु-पक्षी भी संगीत से वंचित नहीं हैं। वह भी संगीत का ज्ञान रखते हैं, उदाहरण हेतु एक वानर पशु भी लय का ज्ञान रखता है तभी वह अपने मालिक के इशारे पर सौंदर्यपूर्ण नृत्य करता है। एक सर्प 'बीन' की लचक पर नृत्य से बँधा होता है क्योंकि सर्प सुन नहीं सकता। वह केवल बीन की एक लचक अथवा लय का ही अनुभव कर सकता है।

एक ही ताल के विभिन्न रूपों द्वारा विभिन्न भावों को प्रकट किया जाता है उदाहरण हेतु–कहरवा ताल को यदि द्रुत लय में बजाया जाये तो वह सुख व चंचलता का भाव प्रकट करेगी। इसके विपरीत मध्य लय गजल अथवा राग का रूप दर्शाती है। कहरवा में राग (ख्याल) नहीं गाये जाते। अतः हम कह सकते हैं कि ताल में लय का अत्यंत महत्व है उसके बढ़ाने या घटाने से भाव बदल जाता है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत ताल संबंधी भारतीय व पाश्चात्य अवधारणाओं का वर्णन किया गया है। भारतीय संगीत का अवलोकन किया जाये तो ज्ञान होगा कि भारतीय संगीत विभिन्न रसों से सुसज्जित व भरपूर है तथा साहिल में जिन नौ रसों का उल्लेख मिलता है ये सभी रस ताल द्वारा दर्शाये जा सकते है। भारतीय संगीत की मुख्य विशेषता चूँकि इस संगीत का नियमों में संतुलित व अनुशासित होना है तथा यही विशेषता इस कला का रूप और अधिक निखारती है। भारतीय विद्वानों का मानना है कि भारतीय संगीत शब्दार्थ रहित होते हुये भी काव्य के समान रसों से भरपूर आनंद प्रदान करने वाली कला है।

भारतीय संगीत के विषय में अनेकों पाश्चात्य अवधारणायें हैं। पाश्चात्य देशों में भी हमारा संगीत अपना पूरा महत्व रखता है। भारतीय संगीत में वादन-पद्धति का जो स्वरूप है वह पाश्चात्य संगीत में नजर नहीं आता। इसके अतिरिक्त भारतीय संगीत में अनेकों विशेषतायें हैं जिनके कारण पाश्चात्य संगीतज्ञ भारतीय संगीत को ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनके अनुसार पाश्चात्य संगीत में लयात्मक स्वरों अथवा बोलों की वह पद्धति नहीं है जैसी कि भारतीय संगीत में है। कुछ पाश्चात्य संगीतज्ञों के अनुसार तालों का रूप छोटा होने का कारण भी यही मानते हैं। पाश्चात्य कलाकारों ने भारतीय संगीत का अनुकरण किया है तथा हिन्दुस्तानी संगीत को इतना अधिक महत्व दिया है कि इस संगीत पद्धति को अपना गुरुं माना है क्योंकि यह प्रकृति के समीप व अध्यात्म से जुड़ा है। यह पूजा, जप, तप, ध्यान से ऊँचा है और ईश्वर की प्राप्ति का साधन है। इसीलिये साधक, साधना करता है।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत विभिन्न प्रांतों के लोक-संगीत तथा लोक-नृत्यों में ताल के स्वरूप का विवरण है। लोक संगीत ताल व लय की प्रधानता लिये हुये उन्मुक्त रूप से गाया जाने वाला विभिन्न प्रांतों में प्रादेशिक संस्कृति की आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न अवसरों पर प्रस्तुत किया जाने वाला संगीत है। लोक संगीत शास्त्रीय संगीत के समान तकनीकी विशेषताओं से रहित होने के कारण सहज व सरलता से जन-मन को आकर्षित करने की क्षमता रखता है, किंतु फिर भी वह ताल से विहीन नहीं है। यह संगीत ताल के सरल रूप से सुसज्जित होता है तथा बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक की उम्र में सहज ग्राह्य होता है। इस संगीत में ताल का रूप भी छोटा होने के कारण यह शीघ्र समझ आता है।

इसी प्रकार अनेकों लोक-नृत्य भारत में प्रचलित हैं जिनकी पहचान उनकी जाति, समाज, प्रदेश आदि से की जाती है। इन नृत्यों के ताल-वाद्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं जिनमें मुख्य स्थान ढोलक का है। यही वाद्य लोक-नृत्यों के लिये सर्वाधिक लोकप्रिय है तथा छोटा-सा बालक भी कुछ ना जानते हुये भी इसकी ध्वनि व रिद्म पर थिरक उठता है। नृत्य में ताल का प्रदर्शन चूँकि पद संचालन हेतु किया जाता है इसीलिये विद्वानों का भी मानना है कि नृत्य में पद-संचालन तालानुसार ही होना चाहिये।

चतुर्थ अध्याय उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत से ताल कहाँ तक जुड़ी है यह जानकारी प्रदान करता है। भारतीय संगीत अत्यंत प्राचीन संगीत है। पाश्चात्य विद्वान भी भारतीय संगीत का जन्म ईसा से लगभग पन्द्रह-बीस सहस्र वर्ष पूर्व मानते हैं। इस विषय में विद्वानों के अनेकों मत हैं। हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत नियमों से नियंत्रित होते हुये भी अपने आपमें एक पूर्णतः स्वतंत्र कला है। राग-गायन व ताल-वादन में कलाकार उसे कुछ नियमों व एक निश्चित स्वरूप के अन्तर्गत सीमित करके मनचाहा विस्तार प्रदान कर सकता है। शास्त्रीय संगीत के निबद्ध व अनिबद्ध दोनों ही रूप मनोरंजक व आकर्षक होने के कारण मनोहारी होते हैं। इसका मुख्य श्रेय ताल को ही दिया जाता है। रागों का मूल आधार लय ही होता है तथा राग की गति लय से घनिष्ठ संबंध रखती है। ताल को शास्त्रीय संगीत की 'आत्मा' माना जाता है।

पंचम अध्याय में दक्षिण भारतीय संगीत में ताल के सौंदर्यात्मक रूप का प्रदर्शन है। जिस प्रकार उत्तर भारतीय संगीत शास्त्रीय रूप लिये हुये है, उसी प्रकार दक्षिण भारतीय संगीत का सौंदर्य ''शास्त्रीय रूप'' ही है। दक्षिण भारतीय संगीत का प्राचीनकाल से ही अत्यंत लयात्मक स्वरूप रहा है। ताल क्षेत्र में गणित के सिद्धांतों का प्रयोग अत्यधिक सूक्ष्मता से किया गया है। उत्तर भारतीय व दक्षिण भारतीय संगीत का तुलनात्मक अध्ययन में इस अध्याय में यह दर्शाया गया है कि संगीत की दोनों ही शैली एक दूसरे से पृथक होते हुये भी ताल द्वारा किस प्रकार जुड़ी हुई हैं। ताल का स्वरूप भी दोनों ही शैलियों में कुछ पृथक भी दिखाई देता है किंतु अंत में यही कहा जायेगा कि ताल का रूप पृथक होकर भी शास्त्रीय संगीत ताल द्वारा ही सौंदर्यपूर्ण बनाया जाता सकता है। ताल के अभाव में गायन, वादन तथा नृत्य का सौंदर्य समाप्त हो जाता है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की रचना शोधकर्त्री ने **सरस्वती सुर-मंदिर** की **आराधिका, तपस्विनी, गौरव शालिनी, वात्सल्यमयी स्नेहशीला, कारुणिका एवं 'रघुनाथ गर्ल्स पी०जी० कालेज' मेरठ की 'संगीत विभागाध्यक्षा' एवं रीडर, डा० सुनीता सक्सेना जी** की शरण में रहकर की है। आदरणीया दीदी ने अपने मौलिक विचारों के आलोक से कार्य को गति प्रदान कर मुझे यह शोधप्रबन्ध कार्य के लिये उत्साहित एवं प्रेरित किया। यही मेरी महान

गुरु व ममतामयी प्रेरणा हैं जिन्होंने मुझे ताल से संबंधित विषय पर लिखने की प्रेरणा दी तथा इस कठिन कार्य के सहज संपादन में मुझे साहस, शक्ति बुद्धि आदि की जागृत अवस्था प्रदान की। आपने तालों के सैद्धांतिक रूप को समझाने में मेरा मार्गदर्शन किया तथा मुझे शोध प्रबन्ध के प्रत्येक अध्याय को कठिनता से सरलता की धारा में प्रवाहित कर, उसकी सौंदर्यपूर्ण एवं मौलिक क्षमता प्रदान की। इसीलिये आज यह शोध प्रबन्ध पूर्ण हो सका है।

शोध कार्य के मध्य जब भी दुविधा के क्षण आये तो इन्हीं परम विदुषी, स्वरमूर्ति, संगीतमयी, सर्वप्रेरक एवं उदार हृदया माननीया दीदी ने मेरे प्रति मातृभाव रखते हुये मेरे इस कार्य में आने वाली समस्याओं को समझा व मुझमें साहस व आशा का नवसंचार करके मेरे कार्य को सरल बनाया। मुझे स्वयं इस विषय के संचालन हेतु पुस्तकों के विषय में ज्ञान दिया तथा व्यक्तिगत पुस्तकालय, जहाँ अप्राप्य ग्रन्थ हैं, वहाँ पढ़ने की अनुमति दी।

शोध प्रबन्ध प्रस्तुति में द्वितीय सहायिका स्वर कोकिला एवं उदार हृदया मेरी प्रिय सखी **डा० शेफाली शर्मा** की मैं आभारी हूं जिन्होंने मेरे शो हेतु पुस्तकों द्वारा सहायता करके मेरे कार्य को सरल बनाया व अन्य समस्याओं का भी समाधान किया। **डा० शेफाली शर्मा** ने निःस्वार्थ भावना से मेरी सहायता करके मुझे अपने प्रति कृतज्ञता हेतु बाध्य कर दिया है।

शोधकार्य के मध्य जहाँ-जहाँ से सहायता प्राप्त की, वहाँ संगीत कार्यालय हाथरस, मेरठ के **महान् विद्वान डा० प्रेमप्रकाश जौहरी जी** का व्यक्तिगत पुस्तकालय, तथा कुछ विद्वानों से साक्षात्कार **डा० श्रीमती सुधा अग्रवाल, प्राचार्या कोटा, डा० श्री गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव ''रीडर'' इलाहाबाद विश्व विद्यालय** (अवकाश प्राप्त) तथा कुछ अन्य विद्वान हैं।

'रघुनाथ गर्ल्स कालेज मेरठ' के **पुस्तकालय** द्वारा मुझे शोध प्रबन्ध हेतु जिस प्रकार पुस्तकें प्राप्त करने में मुझे सहयोग मिला है उसके लिये मैं सदा उनकी ऋणी रहूँगी।

शोध प्रबन्ध प्रस्तुति में सहायक विभूतियाँ मेरे परिवार के सदस्य हैं जिनके परम सहयोग से ही आज मैं यह शोध प्रबंध सम्पन्न करने में सफल हो पाई हूँ। इन सदस्यों में

सर्वप्रथम सहायिका **ममतामयी सासु माँ श्रीमती कश्मीरी देवी** हैं जिन्होंने मुझे समय देकर मेरा सहयोग किया। **स्नेहमयी पिता समान श्वसुर श्री जय भगवान शर्मा** जिन्होंने स्थान-2 पर मार्गदर्शन करके मेरी सहायता की। इनके अतिरिक्त मेरे **दोनों प्रिय पुत्र मा० ऋषि शर्मा एवं शिवम शर्मा एवं प्रिय नैन्सी** की भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से अनेक क्षेत्रों में मेरा सहयोग किया है।

मेरे शोध प्रबंध को अति सौंदर्यात्मक एवं व्यवस्थित मुद्रण के लिये मैं **अनुराग वर्मा, यूनिक कम्प्यूटर सैन्टर**, शारदा रोड, मेरठ की हृदय से आभारी हूँ तथा इनके सहयोग के लिये अनुराग जी का धन्यवाद करती हूँ।

अंत में मैं अपने शोध प्रबंध प्रस्तुति के मुख्य सहायक अपने **पति श्री अनिल शर्मा** को आभार व्यक्त करने का साहस जुटा रही हूं, क्योंकि वही हर प्रकार से मेरे जीवन के पूरक हैं। यदि उनका सहयोग न मिलता तो सम्भवतः यह शोध-प्रबन्ध भी नहीं होता। इस सहयोग से निश्चित ही उनके लिये मेरे हृदय में सम्मान बढ़ा है। आभार शब्दों से नहीं दिया जा सकता।

अंततः शोध प्रबंध में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अपने गुरुजनों, लेखकों, सखी, परिवारजनों व पुस्तकालय आदि सभी के सहयोग की आभारी हूँ तथा आप सभी के शुभ आशीर्वाद की आकाँक्षिणी हूँ। जो कमी इस शोध में रह गई है उसे मेरी अज्ञानता समझकर गुणिजन क्षमा करें।

-x-x-x-x-x-x-x-x-x-x-

प्रथम अध्याय

ताल और उसका महत्व

1. ताल का उद्‌गम
2. संगीत और नृत्य से ताल का संबंध
3. सामाजिकता के विकास में ताल की भूमिका ।

ताल का उद्गम

ताल शब्द तल धातु से बना है। तल का अर्थ उस भाग से होता है जिसके बल पर कोई वस्तु टिकी या स्थित रहती है। भारतीय संगीत के अन्तर्गत गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों ताल पर टिके रहते हैं। इस तथ्य की पुष्टि 'शारंगदेव' ने अपने ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' में ताल के संबंध में यह कहकर दी है—

तालस्तल प्रतिष्ठायामिति धातोर्धञि स्मृतः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्त यतस्ताले प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात प्रतिष्ठार्थक 'तल्' धातु के पश्चात अधिकरणार्थक 'धञ' प्रत्यय लगने से ताल शब्द बनता है क्योंकि गीत, वाद्य, नृत्य ताल में ही प्रतिष्ठित होते हैं। 'प्रतिष्ठा' का अर्थ होता है—व्यवस्थित करना, आधार देना या स्थिरता प्रदान करना। तबला, पखावज इत्यादि ताल वाद्यों से जब गाने के समय को नापा जाता है तो एक विशेष प्रकार का आनंद प्राप्त होता है। वास्तव में 'ताल' संगीत की जान है, ताल पर ही संगीत की इमारत खड़ी हुई है।[1] समय के नाप को ताल कहते हैं। संगीतज्ञ भी यही कहते है कि संगीत बेसुरा भले ही हो, बेताला नहीं होना चाहिये। 'भरतमुनि' ने संगीत में काल के नापने के साधन को 'ताल' कहा है। जिस प्रकार भाषा में व्याकरण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार संगीत में ताल की आवश्यकता होती है। गायन, वादन तथा नृत्य की शोभा 'ताल' से ही है।

'ताल' वाद्य रूपी झरने की वह धार है जो अपने अनेक रूपों से संगीत के (चाहे वह गायन हो अथवा नृत्य) सौंदर्य को बढ़ाकर दोगुना-चौगुना कर देता है। वाद्य संगीत गायन और नृत्य के बीच स्थित है जो इन दोनों की सहायता तो करती ही है किन्तु वाद्य की अपनी स्वतन्त्र अस्मिता भी है।

---

1. चित्रा गुप्ता — संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता—1992— पृ०सं० 24

मध्यकाल में वाद्य, गायन तथा नृत्यों को संगत प्रदान करता था लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में अपनी अलग पहचान कायम कर ली। वाद्य शब्द की व्याख्या ओंकार नाथ ठाकुर ने इस प्रकार की है—''वाद्य शब्द का अर्थ केवल बाजा नहीं है 'वद' धातु का अर्थ है बोलना। इसी धातु से बना णिजन्त रूप है 'वादन' अर्थात बुलवाना।[2]

वदन शब्द का अर्थ—''बोलना तथा जिससे बोला जाता है'' दोनों ही है। यह वाद्य 'गेय' के समकक्ष है। गान के प्रसंग में 'गेय' शब्द गीत (गाया हुआ) के समकक्ष है... इसीलिये वादन की प्रयोग निष्पत्ति को भी वादन कहा गया है और इन्हीं वाद्यों में तालों का समावेश है जो अनेक लयों से संगीत का सौन्दर्य बढ़ाती है।

कहा जाता है कि 'ताल' संगीत रूपी शरीर का अस्थि पंजर है। जिस प्रकार बिना अस्थि पंजर के शरीर का स्थिर रहना कठिन है उसी प्रकार बिना ताल के राग अथवा नृत्य केवल एक उन्माद मात्र प्रतीत होता है। यह निश्चित है कि संपूर्ण जगत का आधार केवल लय है। यदि लय क्षण मात्र को भी अपने कार्य से हट जाये तो यह बेलय का रूप धारण कर लेगी। तब यदि ताल का आधार भी लय ही है तो आश्चर्य नहीं। निश्चित और निर्धारित लय एवं ताल पर अनंतकाल से महाकाल चलता आ रहा है। एक निश्चित गति पर ही दिन और रात होते हैं। जीवन की हर चेतना में हर गति में एक निश्चित लय रहती है। बिना लय के तो सृष्टि की गति ही रुक जाये। जीवन की चेतना ही जड़ बन जाये। तभी तो सजीव चेतना की लय एक ताल बद्ध संगीत की धारा के समान होती है।

संगीत में स्वर की भाँति ताल भी रस का परिपाक करने में सहायता प्रदान करता है।

'श्रुतिमाता लयः पिता' के अनुसार श्रुति माता है और लय पिता। इस माता व पिता का आश्रय लेकर संगीतज्ञ संगीत के क्षेत्र में निर्भीक होकर विचरण करता है। वह अपनी विविध कल्पनाओं को स्वर समूहों तथा लय और ताल के विभिन्न प्रयोगों द्वारा व्यक्त

2. डा० कविता चक्रवर्ती—**भारतीय संगीत में वाद्य वृन्द** (प्रथम संस्करण—1991) पृ०सं० 2-3

करता है। लय को तालबद्ध करने से और तालों को विभागों तथा ताली-खाली आदि में विभाजित करने से गायक को और भी अधिक सुविधा मिल जाती है।[3]

केवल सुर ही नहीं बल्कि एक निश्चित लय और गति उसकी रचना के लिये अनिवार्य है। संगीत को कलाबद्ध किया जाता है ताल से। शारंगदेव ने गीत, वाद्य, नृत्य को परमित करने वाले तथा सशब्द व निःशुल्क क्रियाओं द्वारा लघु, गुरु, प्लुतादि में परिछिन्न होकर परिमाप किये जाने वाले काल को ताल बताया है।

के० वासुदेव शास्त्री ने काल के संबंध में लिखा है—''काल और 'मान' दोनों को मिलाने से ताल उत्पन्न होती है। ताल का स्वरूप स्पन्द है, संसार में सारी शक्तियाँ स्पंदन के रूप में कहा गया है कि ताल शब्द का अर्थ 'शिव शक्ति' (ता = शिव, ल = शक्ति) है। 'ताल मंजरी' के अनुसार 'ता' शब्द शिवजी के तांडव नृत्य से, 'ल' शब्द पार्वती जी के लास्य नृत्य से ही 'ताल' शब्द की उत्पत्ति हुई है। कुछ प्राचीन ग्रंथकारों के अनुसार ताल शब्द की उत्पत्ति शंकर जी के डिमडिम से हुई है। भगवान शिव ने सर्वप्रथम अपने जीवन में ताल का उपयोग किया था।

'नाट्य शास्त्र' के प्रणेता 'भरत मुनि' के द्वारा दी गई ताल की परिभाषा सरल एवं स्पष्ट है। उनके अनुसार—''कला (क्रिया) के परिमाण निर्धारक काल के समय का नाम 'ताल है।''

कहा जाता है कि योगीराज शंकर ने जब तांडव नृत्य में डमरु बजाया तो उसमें से अनेकों ताल निकल पड़ीं।[4]

तालोत्पत्ति बहुत समय से ताल के अंग लघु, गुरु, प्लुत आदि के आधार पर है। ये तीनों शब्द अक्षरों के मात्रा काल हैं। इसलिये यह प्रतीत होता है कि तालों की उत्पत्ति वृत्तों के गुरु, लघु आदि के अक्षर नियम अर्थात छंद से ही हुई है।

---

3. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव—''ताल परिचय'' भाग-2 (2001 नवीन संस्करण) पृ०सं० 132
4. चित्रा गुप्ता — संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता—1992— पृ०सं० 35

'शंकर श्री सुत घनश्याम' 'पखावजी' ने ताल, मात्रा आदि के विषय में संपूर्ण जानकारी दी है। उन्होंने अपने ग्रंथ में मात्रा प्रमाण के साथ-साथ मात्रा के विषय में व ताल कैसे बनी उसका पूर्ण विवरण दिया है। इसके लिये पुराने ग्रंथों का आश्रय लिया गया है। उनके अनुसार तालों का निर्माण निम्न प्रकार हुआ—

यथाः-

शंकर कहेत्त कारकोः ऊमीया कहेलकार
शिव शक्ति संयोगतेः होत ताल विस्तार।(1)
एक कमलदल वेधे जबलोः छिन प्रमान कहेत बलो।(2)
आठ छी मन कों एकलव होईः आठ लव ऐक काष्ठा जोई।(3)
आठ काष्टा ऐक निमेषः आठ निमेष नकला विसेष।(4)
कला युगल सो होतु हैं, चत्रु लाबी पुनि एक,
त्रुटि ताही को कहत है, चित्त में करि सुख टेक।(5)
द्वे द्रुत को पुनि लघु हे होतुः, द्वे लघुले गुरु करे उद्योतु।(6)[5]
कहे तीन लघु प्लुत निरधारः, जे जानत हैं काल हे काल विचारा।(7)

अक्षरों का नियम ऋग्वेद-काल से चला आता है इस नियम का नाम 'छंद' है। मंत्र का छादन या छिपाकर रक्षण करने के कारण इसका नाम छंदस पड़ा। छंदों की उत्पत्ति के विषय में वेदों में एक कहानी है। देवासुर युद्ध में देवता मंत्र बल के सहारे युद्ध करने लगे। असुर लोग इन मंत्रों के रूप को अपनी आसुरी माया से अस्त-व्यस्त करने लगे। मंत्रों को अस्त-व्यस्तता से बचाने के लिए हर मंत्र का एक कवच रूप 'छंद' अर्थात गुरु, लघु और प्लुत के अक्षरों के नियम बनाये गये। फलतः मंत्रों का रक्षण हुआ वेदों में 'देवता' एवं 'असुर' शब्द 'सात्विक' 'राजस' या 'तामस' स्वभावों के अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। 'देवता' शब्द से बुद्धि का प्रकाश और मन का अवधान सूचित किया जाता है। 'असुर'

5. शंकर जी सुत घनश्याम (पखावजी)—''मृदंग सागर''—1967 पृ०सं० 1-2

शब्द इंद्रियों के वश में पड़कर मन का अवधान सूचित किया जाता है। असुर शब्द इंद्रियों के वश में पड़कर मन की इच्छा के अनुसार चलने के मनोभाव, असावधानी इत्यादि का सूचक है। इसलिये छंद का लाभ यह हुआ कि असावधान लोगों से भी मंत्र अस्त-व्यस्त न हो पाया। इसी तरह गीत, वाद्य और नृत्यों के स्वरूप के रक्षण के लिये वृताक्षरों के नाम अर्थात् लघु, गुरु व प्लुत शब्दों से ही ताल के अंग उत्पन्न हुये हैं।[6]

अतः कुछ समय तक यकीनन गीत के लिये ताल की आवश्यकता नहीं है परन्तु नृत्य के लिये ताल प्राण रूप है, इसीलिये गीत शास्त्रों की अपेक्षा नर्तन शास्त्रों में ताल का विवरण अधिक मिलता है।

'पं० अमर सिंह' के 'अमरकोष' में ताल की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—''ताल, काल क्रियामानम् अर्थात काल क्रिया के मान (नाप) को ही ताल कहते हैं।''

''दत्तिल' जी ने ताल के संबंध में लिखा है—''ताल से साम्य होता है क्योंकि 'लय' ताल का ही मुख्य अंग है। साम्य भाव हो जाने से वह सिद्ध समझा जाता है। ताल में कला, पात तथा पाद-भाग जानना आवश्यक है।''[7]

'पार्श्वदेव' जी ने ताल की परिभाषा इस प्रकार दी है—''प्रतिष्ठार्थक (तल) धातु से ताल शब्द की निष्पत्ति हुई है, वह (ताल) क्रिया के द्वारा परिकल्पित काल मान है।''[8]

कविवर निराला जी के विचार में—संगीत में 'ताल' एक रुढ़ शब्द है जो लय बद्धता का द्योतक है—निराला जी ने अपने काव्य में ताल शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है—

''और देखूंगा देते ताल
कर तल पल्लव दल से
निर्जन वन के सभी तमाल।''[9]

ताल काल मापक है और सांगीतिक क्रियाओं का आधार है। जिस प्रकार तल अथवा धरातल पर सृष्टि निर्भर रहती है उसी प्रकार सांगीतिक सृष्टि तालाधारित है।

---

6. प्रताप नारायण सिंह— संगीत—''संगीत का प्राण ताल'' —1983 पृ०सं० 71-72
7. चित्रा गुप्ता – संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता—1992— पृ०सं० 25
8. वही पृ०—26
9. वही पृ०—26

Pingle ने ताल के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है–

"Tale (Time-measures), which is an important factor of every school of music regulaters the relative duration of musical sounds and as such to have considerably engrossed the Indian mind."[10]

इसी प्रकार डा० ''धर्मावती श्रीवास्तव'' के शब्दों में–''काल की नियमित गति जो कुछ नियमों से बद्ध होती है वह ताल कहलाती है।''[11]

अर्थात कहने का अर्थ यही है कि ताल ही संगीत का प्राण है और उसके बिना संगीत का कोई रूप नहीं, आनंद नहीं। ताल ही संगीत के पद हैं इस विषय को उजागर करते हुए 'भरत मुनि' ने 'गांधर्व' अर्थात संगीत को 'स्वर ताल पदात्मकम्' कहा है। क्योंकि संगीत में मूलतः तीन तत्वों की अपेक्षा होती है स्वर, पद और ताल।

आचार्य भरत के अनुसार–कला, पात और लय से युक्त जो काल का विभाग या परिणात्मक प्रमाण है वह ताल कहलाता है। यह विषय घनवाद्य के अंतर्गत आता है–

तालाधेन इति प्रोक्तः कला पात लयन्वितः।
कलातस्य प्रमाण वै विज्ञेय तालयोक्तृभिः॥

संगीत प्रयोग के अवसर पर जब ताल का व्यवहार होता है तब उसे समय का 'परिमापक काल' कहा जाता है तब इसका अर्थ भी ताल मापक 'काल' होता है। अर्थात संगीत में काल (समय) का जो भाग कला, पात और लय से युक्त है वह 'ताल' नाम से जाना जाता है। उसका कार्य है संगीत को मापना।

उपर्युक्त परिभाषा में 'कला' शब्द का उपयोग हुआ है। इस कला शब्द का अर्थ लौकिक व्यवहार में प्रयुक्त-कला, काष्ठा, निमेष या फल जैसे समय का परिमाण नहीं वरन् संगीत मापक ताल के प्रसंग में प्रयुक्त कला है। वह कला मात्राओं के योग से बनती है।

---

10. चित्रा गुप्ता – संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता–1992– पृ०सं० 26
11. वही पृ०–26

मात्रा पाँच निमेष के बराबर समय को कहते हैं। पाँच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण काल को अर्थात "क ख. ग. घ ड़" इन व्यंजनों के पृथक अवभास युक्त उच्चारण काल को मात्रा कहते हैं।

अभिनव गुप्ताचार्य जी के अनुसार—"पञ्चनिमेषाह्रस्वाक्षर पञ्चक यावत"

"क ख ग घ ङ इति व्यंञ्जन कालस्य पृथवावभास इति"

दो मात्राओं के उच्चारण के बीच का समय जो उपर्युक्त पाँच लघु उच्चारण का काल है इसी से लय का निर्माण होता है। ताल को मापने के लिए जो दोनों हाथों से भिन्न-भिन्न प्रकार से ताली बजाई जाती है या संकेत किया जाता है उसे पात कहते हैं। इस प्रकार ताल में 'कला पात और लय' के आधार पर समय (काल) को मापा जाता है और इस माप का जो परिणात्मक प्रमाण है वही 'ताल' है। इस विवेचना के आधार पर निम्नांकित नाट्यशास्त्र में उपलब्ध श्लोक है—"या लौकिकी कला काष्ठा निमेषञ्चस्मताबुधैः।"

"न सा ताल कलाज्ञेया ह्यन्यैषा तालजा कला॥

निमेषाः पञ्चमात्रा स्यान्मात्रायोगात् कलाः स्मृताः।

निमेषाः पञ्चविज्ञेया गीतकाले कलान्तरम्॥

ततः कला-काल कृतो लय इत्यभिसशितः।[12]

'स्वर' का तात्पर्य संगीतोपयोगी ध्वनि से है, 'पद' का अर्थ शब्द-संपत्ति से तथा काल-मापक साधन से है। संगीत में स्वर, शब्द और ताल का अपूर्व मिलन ही संगीत की उत्कृष्टता का द्योतक है। किसी विद्वान ने ठीक ही कहा है कि अनिबद्ध या ताल लय विहीन संगीत आरण्यक संगीत है तथा निबद्ध या ताल युक्त संगीत सामाजिक संगीत है। बिना ताल के केवल स्वरों का आनंद हृदय में उल्लास व उत्तेजना का सृजन करने में असमर्थ होता है एवं अनिबद्ध संगीत के निरंतर श्रवण से हृदय में उदासीनता छा जाती है। ध्रुपद या ख्याल गायकों के विस्तृत तालहीन अलापों में "लीयते परमानन्दें यथात्मा सा परा

12. तुलसीराम देवांगन, भारतीय संगीत शास्त्र (प्रथम संस्करण) 1997 पृ०सं० 171

कला'' की अभिव्यक्ति हेतु ही संभवतः मृदंग या तबले की थाप पर अनिबद्धता की समाप्ति दर्शाते हैं एवं ज्योंही ताल, शब्द एवं स्वरों का समन्वय होता है, रसिक मन उल्लसित और उत्तेजित हो उठता है। गायक-वादक के मस्तक संचालन को श्रोताओं की सहानुभूति प्राप्त होती है संगीत में छन्द और ताल ही यर्थाथतः स्वरों को गति प्रदान करते हैं।[13]

ताल संगीत के मूल्यांकन का एक प्रमुख साधन है। कहते हैं एक बार को 'बेसुरा' ग्राह्य होता है 'बेताला' नहीं। डा० अरुण सेन लिखते हैं कि—स्वर से किंचित रस्खलित संगीत भी ताल की जीवनी-शक्ति के कारण रसिकों को अप्रिय नहीं लगता किंतु सस्वर मधुर संगीत भी बेताला होने पर अप्रिय हो जाता है। किंचित बेसुरा होना मार्ग पर एक साधारण ठोकर लगना है किन्तु किंचित बेताल होना मार्ग पर फिसलकर गिर पड़ने के समान है। ठोकर खाकर सँभल जाने वाले पर अन्य पथिकों की दृष्टि उतनी आकृष्ट नहीं होती जितनी मार्ग पर अव्यवस्थित फिसलकर पड़े हुये दयनीय व्यक्ति पर होती है।[14] जिस प्रकार रणभूमि में योद्धा को और कवि सम्मेलन में कवि को उसकी क्षणिक शक्ति या प्रतिमा के कारण सम्मान या असम्मान प्राप्त होता है, उसी प्रकार 'ताल' की आशु प्रतिमा के ही बल पर एक संगीतज्ञ उत्तम और दूसरा संगीतज्ञ अधम घोषित किया जाता है। जैसे—

संग्रामेषु भटेन्द्राणां कवीनां कविमण्डले।
दीप्तिर्वा दीप्तिहानिर्वा मुहूर्तेनैव जायते।

वास्तव में संगीत का छंद ताल है और यह केवल भारतीय संगीत नहीं बल्कि विश्व संगीत के क्रमिक एतिहासिक विकास में नीहित है। लय का माहत्म्य क्या भारतीय और क्या विदेशी, किसी विद्वान से छिपा नहीं है। महाकवि शेक्सपियर संगीतज्ञ न होते हुये भी ताल की अनुभूति से अपरिचित नहीं थे। संगीत के समय विभाजक ताल का गुणगान उनके निम्न शब्दों में विद्यमान है—

---

13. डा० अरूण कुमार सेन—भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन—1973 पृ०सं० 49
14. चित्रा गुप्ता—संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता—1992 पृ०सं० 31

"Ha Ha keep time, how sour sweet music is,

When time is broke, and no proportion kept."[15]

भारतीय संगीत के तीन मूल उपकरणों—स्वर, ताल और पद तीनों में से ताल का विशेष स्थान है, क्योंकि वही गीत, वाद्य, नृत्य को आधार प्रदान करता है यहाँ तक कि मानसोल्लास में ताल को इसका कारण कहा गया है—

न तालेन बिना गीतं, न वाद्यं ताल वर्जितम्॥

न नृत्यं तालहीनं स्यादतस्तालोऽत्र कारणम्।

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रितयं येन लम्यते॥

तेन ताल इति ख्यातः सोमेश्वरभही भुजा।[16]

इसीलिये गायक-वादक आदि के लिये ताल का पूरा ज्ञान और उसमें अवधान अनिवार्य माना गयाहै। ताल को न जानने वाला गायक या वादक कहलाने का अधिकारी नहीं है इसीलिए भरत ने कहा है—

यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कार्यं तालावधारणम्!॥[17]

अर्थात जिसे ताल का ज्ञान नहीं है वह गायक, वादक कहलाने योग्य नहीं है इसीलिये सब प्रकार से ताल को ग्रहण करना चाहिये। 'पार्श्वदेव' ने ताल की महत्ता को इस प्रकार दर्शाया है—

ताल मूलानि गेयानि ताले सर्व प्रतिष्ठतम्।

ताल ही नानि गेयानि मन्त्र ही ना यथा हुतिः॥

ताल को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किये जाने पर उसका मूल भाव एक ही निकलता है कि—ताल संगीत (गायन, वादन, नृत्य) में लगने वाले समय की चाल को नापने का साधन है। लय स्वयं एक व्यापक एवं अखंडित क्रिया है। इसको वांछित अंतराल से

15 डा० अरूण कुमार सेन—भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन—1973 पृ०सं० 55

16. सुभद्रा चौधरी—भारतीय संगीत में ताल और रूप विधान—1984 पृ०सं० 56

17. वही पृ०सं० 56?

बाँधकर क्रिया से दर्शाना ही 'ताल' है। ताली शब्द–जो ताल से निकलता है–लय को दर्शाने की क्रिया का सूचक है। इसके अतिरिक्त किसी भी संगीतज्ञ एवं नृत्यकार की सत्यता को जाँचने के लिये ताल एक मोटा साधन है। जिसे साधारण व्यक्ति भी समझ लेता है।

संगीत विद्वानों ने ताल के विषय में अनेकों मत तो प्रदान किये ही हैं साथ ही ताल वाद्य के विषय पर भी अनेकों छंद निर्मित किये हैं। वाद्य संगीत को भी चार भागों में वितरित किया गया है। घनवाद्य–इनके अंतर्गत, कांस्यताल, घंटा क्षुद्र घंटा (घुँघरू), मञ्जीरा, जलतरंग आदि वाद्य आते हैं। कालिदास-प्रयुक्त 'ताल' शब्द का प्रयोग वीणा-वादन के साथ ताल प्रदान करने के लिये किया जाता था। यह वाद्य आधुनिक मंजीरे से मिलता था। इस वाद्य का एक मात्र उल्लेख मेघदूत के प्रस्तुत पद्य में हुआ है–

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टिर्मूले,
बद्ध मणिभिरनतिप्रौढ़वंशप्रकाशैः।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः।[18]

अर्थात उस माधवी-मण्डप में अर्द्धपक्ववंश के समान चमकते हुए पन्नों से निचले भाग में जड़ी स्फटिक से निर्मित ऊपरी भाग वाली सुवर्णमयीवासयष्टि (अड्डा) है जहाँ पर मेरी प्रियतमा के द्वारा बजती हुई चूड़ियों से मनोहर ताल (वाद्य विशेष या करतल ध्वनि) से नचाया गया तुम्हारा मित्र मोर बैठा करता है।

गायन, वादन तथा नृत्य से यदि ताल को निकाल लें तो उनका कलेवर प्राणशून्य जान पड़ेगा। मानव का जीवन संगीत है और संगीत का जीवन ताल। ताल की कुशल एवं कल्याणी पुत्री है नर्तकी।

---

18. डा० सुषमा कुलश्रेष्ठ–कालिदास साहित्य एवं वादन कला–1966 पृ०सं०181

यदि संगीत ताल रहित होता ?

जिस प्रकार मानव सभ्यता की वृद्धि एवं रक्षा के लिये, उसकी उन्नति एवं विकास के लिये समाज ने अनेक प्रतिबंध निश्चित किये हैं, उसी प्रकार संगीत में भी सौंदर्योत्पादन एवं आनंद कीवृद्धि के लिये कई महत्वपूर्ण प्रतिबंध लगाये गये हैं। मनुष्य, समाज तो क्या प्रकृति भी इन प्रतिबंधों से मुक्त नहीं है। सूर्य, चंद्र, पृथ्वी तथा नक्षत्रादि सभी एक विशेष नियमित गतिनुसार चलते हैं, जिसे छोड़ने पर प्रलय भी असंभव नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये प्रतिबन्ध तथा नियमता ही विकास एवं उन्नति के प्रेरक हैं फिर संगीत ही क्यों इससे अछूता रहे? जिस प्रकार किसी राग को कुछ निश्चित स्वरों के साथ किसी निश्चित समय पर गाये जाने का प्रतिबंध है उसी प्रकार ताल में भी गायन-वादन करने का भी एक निश्चित एवं सौंदर्यात्मक प्रतिबंध है। संगीत के तीनों ही अंगों गायन, वादन तथा नृत्य में ताल की महत्ता स्वीकार की गयी है।

संगीत का मुख्य लक्ष्य आनंद की उत्पत्ति करना है जो ताल के अभाव में असंभव है। संगीत शास्त्र को प्रमाणिक रूप देने में भी ताल का महत्व है। ताल-प्रमाण में बद्ध होकर संगीत श्रवणप्रिय हो जाता है। स्वर अलंकार रूपी पुष्पों को ताल रूपी धागों में बाँध व पिरोकर संगीतज्ञ अपने श्रोताओं के लिये संगीत रूपी एक सुंदर हार तैयार करता है। ताल के बंधन के अभाव में स्वर अलंकार आदि बिखरे पुष्प की भाँति ही प्रतीत होंगे।[19]

वाद्य वादन तथा नृत्य में भी लय और ताल का महत्त्व बहुत अधिक है। सितार आदि के तोड़े व झाले एवं नृत्य के ततकार तथा परन, बोल भाव आदि का गहरा संबंध तबला, पखावज आदि के बोल विस्तारों से है।

शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त संगीत के अन्य प्रकारों उदाहरणार्थ—लोक-संगीत, भजन एवं कीर्तन आदि में भी लय ताल का अत्यधिक महत्व एवं व्यापक स्थान है। इस

---

19. गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव—ताल परिचय, भाग-2, 2001, पृ०सं०-131

लय और ताल के अभाव में संगीत निष्क्रिय, नीरस एवं प्राणहीन प्रतीत होगा तथा आनंद की उत्पत्ति, जो उसका लक्ष्य है उससे भी विमुख हो जायेगी।[20]

इस प्रकार ताल को जितने रूप दिये जायें वह कम हैं। अंत में यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार जीवन में निश्चित समय क्रम का अभाव, सुख और समृद्धि का अभाव है, उसी प्रकार तालहीन विश्रृंखल संगीत में सार्थकता नहीं। ताल संगीत में विभिन्न सौंदर्यपूर्ण चलन शैलियों का विकास करता है, जिसमें संगीत के संयम की रक्षा होती है। 'ताल' संगीत को अनुशासित कर उसके सुगठित रूप, स्थायित्व एवं चमत्कारिता से श्रोताओं को विभोर कर देता है। ताल के ही कारण प्राचीन एवं वर्तमान संगीत को स्वर एवं बोललिपि द्वारा भविष्य के लिये सुरक्षित रखना संभव हुआ है। निश्चित ताल गति के फलस्वरूप ही संगीत के क्रमिक आरोह, अवरोह, विराम आदि अत्यंत प्रभावोत्पादक हो जाते हैं।

अंत में शोधकर्त्री के अनुसार निःसंदेहात्मक रूप से कहा जा सकता है कि संगीत की सरसता को प्रभावपूर्ण बनाने में ताल और लय का विशेष महत्व है। लय व ताल एक-दूसरे से संबंधित अवश्य हैं पर संगीत के दो भिन्न तत्व हैं। ताल-चक्र के अन्तर्गत ही गायक-वादक को अपना कार्य करना होता है अर्थात् ताल-चक्र के अन्तर्गत ताल की प्रथम मात्रा से प्रारंभ हो कर अंतिम मात्रा तक जाकर फिर प्रथम पर आना होता है। संक्षिप्त में दो मात्राओं के बीच का अंतराल गति और गति मापक ताल है।

----

20. गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव–ताल परिचय, भाग-2, 2001 पृ०सं०-132

संगीत और नृत्य से ताल का संबंध

विद्वानों का मत है कि संगीत की उत्पत्ति 'ओम्' शब्द से हुई है। 'ओम्' शब्द एकाक्षर होते हुए भी, 'अ-उ-म', इन तीनों अक्षरों के मेल से बना है। तीनों अक्षरों के मिलने के उपरान्त इसकी ध्वनि एक अक्षर की भाँति लगती है। इसमें तीनों अक्षर तीन शक्तियों को प्रदर्शित करते हैं।

अ— सृष्टिकर्ता, ब्रह्मा उत्पत्तिकारक,

उ— पालनकर्ता, रक्षक, शक्ति के प्रतीक विष्णु।

म— संहारकारक महेश शक्ति स्वरूप 'भगवान शंकर'।

तीनों शक्तियों का समविष्ट रूप त्रिमूर्ति ही परमेश्वर है। इसलिए स्वर—ईश्वर का एक रूप माना गया है।

वस्तुतः यही 'ओम्' शब्द संगीत के जन्म का मूल स्रोत है। प्रायः सभी कलायें इसी ओम् शब्द के विशाल गर्भ से अविर्भूत हुई हैं, जिसमें लय, ताल, स्वर सभी कुछ हैं।[1]

किसी विद्वान ने ठीक ही कहा है कि अनिबद्ध या ताल, लयविहीन संगीत आरण्यक संगीत है तथा निबद्ध या तालयुक्त संगीत सामाजिक संगीत है। बिना ताल के, केवल स्वरों का आनंद हृदय में उल्लास व उत्तेजना का सृजन करने में असमर्थ होता है तथा इसके निरंतर श्रवण से हृदय में उदासीनता छा जाती है। ध्रुपद या ख्याल गायकों के विस्तृत तालहीन अलापों में ''लीयते परमानन्दे यथात्मा सा परां कला''[2] की अभिव्यक्ति हेतु ही संभवतः मृदंग या तबले की थाप पर अनिबद्धता की समाप्ति दर्शाते हैं एवं ज्योंहि ताल, शब्द एवं स्वरों का समन्व्य होता है, रसिक मन उल्लसित और उत्तेजित हो उठता है। गायक, वादक के मस्तक संचालन को श्रोताओं की सहानुभूति प्राप्त होती है। संगीत में छंद

---

1. डा० साहित्य कुमार नाहर — **भारतीय शास्त्रीय संगीत एक मनोवैज्ञानिक आयाम**—1999— पृ०सं० 6
2. डा० अरूण कुमार सेन— **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन**—1973 पृ०सं० 49

और ताल ही यथार्थतः स्वरों को गति प्रदान करते हैं। 'ताल' संगीत में विभिन्न सौंदर्यपूर्ण चलनशैलियों का विकास करती है तथा संगीत को अनुशासित कर उसके सुगठित रूप, स्थायित्व एवं चमत्कारिता से श्रोताओं को विभोर कर देती है। ताल के ही कारण प्राचीन एवं वर्तमान संगीत को स्वर एवं बोल लिपि द्वारा भविष्य के लिये सुरक्षित रखना संभव हुआ है। निश्चित ताल गति के फलस्वरूप ही संगीत के क्रमिक आरोह, अवरोह, विराम आदि अत्यंत प्रभावोत्पादक हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त तालों में गति भेद उत्पन्न कर रस निष्पत्ति संभव होती है। करुण, शृंगार, रौद्र, वीभत्स आदि रसों के लिये तालों की विभन्नि गतियों का बड़ा महत्व है। "संगीत रत्नाकर" व "नारदार्थ रागमाला" के निम्न श्लोक में कहा गया है कि–

मुख प्रधान देहस्य नासिका मुख मध्यके।
तालहीनं तथा गीतं नासाहीनं मुखं यथा ॥[3]

अर्थात जिस प्रकार देहप्रधान मुख है और मुख में नासिका, उसी प्रकार ताल विहीन संगीत, नासिका-विहीन मुख के समान है। सांगीतिक क्रियाओं को कलाबद्ध करने के लिये ताल की आवश्यकता होती है। काल मापक ताल का उद्देश्य गायन, वादन तथा नृत्य को सुनियमित गति प्रदान कर एक निश्चित नियम या समय के बंधन में बाँधना है। ताल के विषय में कहा जाता है कि जिस प्रकार पृथ्वी अपने ऊपर सृष्टि का भार वहन करती है उसी प्रकार ताल गायन, वादन तथा नृत्य को अपने ऊपर धारण करती है, इसीलिये ताल को संगीत का धरातल कहना भी अनुचित न होगा। किसी भी ताल के ठेके को समान गति देकर आवृतियाँ करते हुये लय में पूर्ण स्थित रहकर ताल देने वाला संगीत ही लय को नियंत्रित और व्यवस्थित कर अनुशासित करता है और गायक, वादक के गायन, वादन में होने वाली सूक्ष्म त्रुटि पर भी सुंदर आवरण डाल देता है।

ताल का संगीत से संबंध उसी प्रकार माना गया है जिस प्रकार नानाविध पुष्पों को

---

3. डा० अरूण कुमार सेन– भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन–1973 पृ०सं० 50

एक सूत्र में पिरोकर माला के रूप में गुम्फित कर दिया जाता है उसी प्रकार ताल रूपी धागे में स्वर, अलंकार रूपी प्रसूनों को क्रमबद्ध कर संगीतज्ञ अपने श्रोताओं के सम्मुख संगीत का एक मनोहारी तथा आकर्षक रूप प्रस्तुत करता है। ताल के प्रतिबंध के कारण ही भारतीय संगीतज्ञ को राग विस्तार के लिये सहारा मिलता है। लय को तालबद्ध कर विभागों, ताली, खाली आदि में विभाजित कर दिया जाता है और इन्हीं अंगों की सहायता से एक गायक, वादक या नर्तक यह सहज ही ज्ञात कर लेता है कि वह गायन, वादन या नर्तन के मध्य किस समय, किस स्थान पर है। यह जानकर ही वह सम पकड़ पाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि संगीत में दक्षता प्राप्त करने हेतु ताल का ज्ञान आवश्यक है।

सदियों के सांगीतिक विकास के साथ ही मानव ने अपने छंद को ताल में और धुन को राग में परिणित किया। ताल और राग दोनों ही छंद और धुन का उन्नत रूप हैं।[4] छंद का प्राणत्व लय है, जो अन्तर्वेग से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। यह लय हमारे हृदय, हमारे फेफड़े, हमारी नाड़ियों को प्रभावित कर देती है। अतएव भावानुभूति की प्रभावोत्पादक और मन को छूकर तद्नुरूप अनुभूति जगा देने वाली अभिव्यक्ति का लय आदि से संबंध होना स्वाभाविक है।

छंदों में जहाँ मात्राओं का मुख्य स्थान है वही संगीत में ताल का[5]। ताल एवं मात्रा एक दूसरे से घनिष्ठतः संबंधित हैं। संगीत में ताल के द्वारा मात्रिक छंद में मात्रा के द्वारा विशिष्ट लय व संतुलन का संचार होता है। काव्य में छंद विधान से जो उपलब्धि होती है वही संगीत में ताल और लय के समावेश से होती है। संगीत में छंद और लय ही यथार्थतः स्वरों को गति प्रदान करते हैं। ताल, शब्द और स्वरों का ज्योंहि समन्वय होता है रसिक मन उल्लसित और उत्तेजित हो उठता है। अतः छंद और ताल का अटूट संबंध है। स्वादिष्ट भोजन भी जिस प्रकार नमक के अभाव में अरुचिकर होता है, उसी प्रकार उत्कृष्ट संगीत ताल के अभाव में अप्रिय हो जाता है। यह तत्व काव्यात्मक अथवा सांगीतिक सौंदर्यबोध से इतना घुला मिला है कि छंद या ताल शास्त्र संबंधी ज्ञान न रखने वालों को भी उन तत्वों

---

4. डा० अमिता मेहता– संगीत (पत्रिका) मार्च 1993 – पृ०सं० 19
5. वही– पृ०सं० 20

की परोक्ष अनुभूति होती रहती है।

लय की ध्वन्यात्मकता की आवृति ताल है, जो तबला, ढोलक, मृदंग इत्यादि अवनद्ध वाद्यों से दी जा सकती है। इन वाद्यों के स्वरों में लय है जिसके स्पष्टीकरण के लिये या उसके अनुरणन के लिये जब वाद्य-यंत्रों का प्रयोग होता है तो उससे निकली हुई ध्वनियाँ ताल कहलाती हैं।[6] इसीलिये संगीत छंद (ताल का भी) एक निश्चित ठेका है, किन्तु उसमें सहस्त्रों प्रकार किये जा सकते हैं। गीत का निश्चित संगीत ताल में निबद्ध होता है किंतु उनमें आलप्ति या कौशलपूर्ण कलात्मक अभिव्यक्तियों में प्रतिबंध नहीं रहता है एवं उस समय संगीत छंद (ताल) केवल निश्चित समय के आवर्तन का द्योतक मात्र बन जाता है। गायन में विश्रांति भी ताल नैचित्य का एक अभिनव साधन है। भारतीय संगीत में छंद शब्द का प्रयोग ताल के लिये न होता हो, किन्तु आंग्ल भाषा में छंद अथवा ताल, दोनों के लिये प्रयोग होता है।

''कला काल कृतोलयः''

यह परिभाषा भरत मुनि द्वारा दी गयी है। घड़ी के लम्बक द्वारा समान परिमाण में समय के अखण्ड गतिमापन को लय कहते हैं। लय के तीन रूप विलम्बित, मध्य व द्रुत माने जाते हैं। भरत काल में गति के संकेत स्वरूप द्विकल, चतुष्कल, अष्टकाल एवं द्वादशकाल जैसी संज्ञायें पायी जाती हैं, जिनको लय प्रकार बताया गया है। आज हिंदुस्तानी ताल पद्धति में विलंबित, मध्य एवं द्रुत इन प्रमुख तीन लयों के आधार पर बने अन्य अनेक लय प्रकार दिखाई देते हैं, जिनका आधार मध्यलय अर्थात बराबर की लय का स्वीकृत प्रमाण मानना चाहिये। भरत ने भी–

''यस्तत्र तुलयो मध्यः तत्प्रमाण कलामतः।''

इस सूत्र द्वारा इसकी पुष्टि की है।[7]

---

6. डा० अमिता मेहता–संगीत (पत्रिका) – 1993 मार्च पृ०सं० 21
7. गोविंद राव राजुरकर–संगीत शास्त्र पराग–1982 पृ०सं० 71

ताल की जननी लय, स्वर को सुसज्जित करके संगीत के क्षेत्र में प्रवेश करती है। स्वर यदि रस का सागर है तो लय उसकी मथानी है। राग यदि रंजकता का अगम पारावार है तो ताल उसका आधारयंत्र।[8] स्वर जहाँ चाहे वहाँ नहीं जा सकता, वह लय के बंधन में है, उससे बँधकर ही उसे चलना होगा, तभी वह रस की सृष्टि कर सकेगा। इस प्रकार ताल एवं छंद का अटूट् संबंध है। संगीत में लय एवं ताल के द्वारा छंद वैचित्र्यता किस प्रकार उत्पन्न की जा सकती है यह भी देखा जा सकता है—

लय की विभिन्नता ही स्वर में विभिन्न चालें उत्पन्न कर सकती है। स्वर यदि एक ही लय में चलें तो उनमें विभिन्नता नहीं आ सकती। संगीत छंद या ताल में लय-गति परिवर्तन के अनेक प्रकार हैं जैसे—ड्योढ़ी, सवाई, पौने दोगुनी व दुगुनी। लय गतियों का प्रयोग संगीत में होता है, इन्हीं को आड़ी, कुआड़ी एवं बिआड़ी लय कहा जाता है। जिससे संगीत में छंद वैचित्र्य का प्रदर्शन होता है।[9] इन लयों का प्रदर्शन निम्न प्रकार है—

आड़ लय—इस लय में एक मात्रा काल में 1-1/2 मात्रा अर्थात 2 मात्रा काल में तीन मात्राओं को बोलना चाहिये जैसे—दादरा ताल की आड़ :

1S2 S3S 4S5	S6S 1S2 S3S	4S5 S6S 1S2	S3S 4S5 S6S
×	o	×	o

कुआड़ लय—इसमें चार मात्राओं के काल में पाँच मात्राओं को सम्मिलित करके बोला जायेगा। चार मात्राओं में पाँच मात्रायें अर्थात एक मात्रा में 1-1/4 मात्रा बोली जायेंगी। जैसे—

1SSS2 SSS3S SS4SS	S5SSS 6SSS1 SSS2S
×	o

8. डा० अमिता मेहता-संगीत (पत्रिका) – 1993 मार्च पृ०सं० 21

9. डा० अमिता मेहता संगीत (पत्रिका) – 1993 मार्च पृ०सं० 22

SS3SS S4SSS 5SSS6 SSS1S SS2SS S3SSS

× o

4SSS5 SSS6S SS1SS S2SSS 3SSS4 SSS5S

× o

SS6SS S1SSS 2SSS3 SSS4S SS5SS S6SSS[10]

× o

बिआड़ लय—इस लय में चार मात्राओं में सात मात्रायें बोली जायेंगी, अर्थात एक मात्रा में 1-3/4 (पौने दो) बोली जायेंगी जैसे—

1SSS2SS S3SSS4S SS5SSS6 SSS1SSS 2SSS3SS S4SSS5S !

× o

इसी प्रकार दादरा ताल विभागों के अनुसार क्रमशः लिखने के लिये प्रत्येक 1-3/4 मात्रा समाप्ति का समय संपूर्ण छः मात्रा समाप्ति तक लिखा जायेगा।

उपर्युक्त बराबर (ठाह) दुगुन, चौगुन, छगुन, आड़, कुआड़ तथा बिआड़ लय के प्रकार आज मृदंग व तबला वादन में स्वतंत्र रूप से बजाये जाते हैं तथा ध्रुपद, धमार गायक उपर्युक्त लयकारियाँ अति कौशल से अपनी गायकी में प्रयुक्त करते पाये जाते हैं। हिंदुस्तानी ताल-वादन में ये लयकारियाँ एक विशेष महत्व रखती हैं।

संगीत में स्वर को उत्पन्न करना और गति प्रदान करने के पश्चात उचित समय पर विश्रांति देना ही एक मात्र राग में रंजकता उत्पन्न करना है। इसके लिये लय, मात्रा, काल एवं एक विशेष मापदंड 'ताल' की आवश्यकता है। तबला मृदंग आदि में जो दमदार या बेदमदार छंदों का प्रयोग होता है, उनका आधार भी विराम अथवा विश्रांति ही है।

---

10. गोविंद राव राजुरकर संगीत शास्त्र पराग—1982 पृ०सं० 72

कुशल गायक जिस प्रकार रागों का तिरोभाव एवं आविर्भाव करके रसिक श्रोताओं को आनंदित करते हैं उसी प्रकार कुशल तालज्ञ तालों का भी तिरोभाव, आविर्भाव करके श्रोताओं को लय वैचित्र्य का आनंद प्रदान करते हैं। तालाघात में परिवर्तन से तात्पर्य जैसे झपताल को घातक्रम 2/3 / 2/3 को बदलकर 3/2 / 3/2 का अस्थायी रूप से प्रादुर्भाव किया जाये तो लय वैचित्र्य होगा।

इसी प्रकार किसी-किसी अक्षर को अधिक काल तक स्थित रखते हुये मीड़ या गमक के द्वारा अक्षर को कौशलपूर्ण तरीके से दीर्धता देते हुए भी छंद वैचित्र्यता का प्रदर्शन संगीत में होता है। जैसे राग मारुविहाग का छोटा ख्याल ''कल ना ऽऽ परे ऽ'' में रे के अवग्रह को दीर्घ करने या अवग्रह हीन करके या सम् के स्थान को बदलकर छंद अथवा ताल वैचित्र्य का निर्माण किया जाता है।[11]

उच्चारण शैली में अंतर करने पर भी छंद अथवा ताल वैचित्र्य का प्रादुर्भाव होता है। संगीत छंद के दो भेद 'सम्' एवं 'विषम' हैं, उन्हीं लयों से खेलकर गायक श्रोताओं को चमत्कृत कर देता है—तथा संगीत छंद में भी विचित्रता पैदा कर देता है। संगीत में 'छंद' प्राण या चैतन्यमय गति है और चेतना या प्राण की इस गति को संगीतकार ताल में बदलता है ठीक उसी तरह जिस तरह ध्रुव को अंततः बदलकर राग का रूप दिया जाता है। राग में आकर्षण, सौंदर्य या लालित्य उत्पन्न करने की समग्र भूमिका यही प्रक्रिया निभाती है, इसीलिये छंद और ताल का संबंध संगीत तत्व में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, किंतु जैसा कि संगीतकारों ने इसे अमूर्त या सूक्ष्मतम रूप में या परिणिति में आध्यात्मिक रूप देकर परिभाषित करने का प्रयास किया है, स्वरों का आरोह, अवरोह उसकी आवृति और अन्ततः लय को संगीतकार को अर्जित करना पड़ता है। यह अर्जन प्रतिभा के साथ-साथ मूलतः व्युत्पत्ति या अभ्यास पर निर्भर करता है। जो संगीतकार निरंतर इस प्रक्रिया में बार-बार आवृत्तमय या अभ्यासरत रहता है, वही स्वरों को बदलकर तालों में रूपायित कर नये-नये

---

11. डा० अमिता मेहता संगीत (पत्रिका) – 1993 मार्च पृ०सं० 22

रागों की सृष्टि किया करता है। मूलतः यही संगीत कला के सृजन की सबसे अधिक उपादेय प्रक्रिया भी है।

मध्यकाल के सर्वश्रेष्ठ संगीत ग्रंथ ''संगीत रत्नाकर'' में शांरगदेव ने (13वीं सदी) समयानुकूल भरत के मार्गी तथा प्रचलित देशी तालों का विस्तृत विवेचन किया है।[12] उन्होंने मर्दल को ही मृदंग के समान मानकर मर्दल एवं पटह के वादन की विधि का विस्तृत विवेचन किया है। इन्होंने भी ताल के निश्चित पाटाक्षर (ठेके) नहीं बताये। भरतकाल से शारंगदेव के काल तक अवनद्ध-वाद्य-वादक ताल नहीं अपितु लय धारण करता था तथा गायन, वादन, नृत्य में प्रयुक्त तालों के आधार पर बोलों की रचना करके संगीत को मनोरंजक बनाता था। प्राचीन काल से मध्यकाल तक मृदंग या मृदंग समान वाद्य ही ताल संगत के साधन थे। प्राचीन मृदंग तीन भागों में होता था। इनमें एक भाग 'आंकिक' था और वह पृथ्वी पर लेटा रहता था मृदंग का यही भाग सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। भरत काल में 'मृंदग' अथवा 'मुरज' अथवा 'पुष्कर त्रय' में (तबले का दाँया बाँया समान) उस समय तीन भाग थे। इस प्रकार भरत कालीन मृदंग में वादन करने के लिये चार मुख होते थे। इनमें आंकिक का वादन दोनों मुखों से किया जाता था। इसके अतिरिक्त उर्ध्वक और आलिंग्य दो वाद्य ऐसे थे जिनके एक ओर चमड़ा मढ़ा रहता था और वे खड़े रखे जाते थे। यह भी कहा गया है कि मृदंग के इन तीन भागों में छठी, सातवीं शताब्दी से परिवर्तन होने लगा, तत्पश्चात् कुछ दिनों तक गोद का एक भाग आंकिक तथा एक खड़ा भाग प्रयुक्त होता रहा। क्रमशः मृदंग का वह उर्ध्वमुखी वाद्य भी हट गया और उसका आंकिक भाग ही मृदंग अथवा मर्दल नाम से प्रचलित हो गया।[13] प्राचीन गीत प्रकारों का प्रचलन धीरे-धीरे कम होने लगा एवं ख्याल, ठुमरी, टप्पा, गजल, भजन आदि गीत प्रकार विशेषकर उत्तरी भारत में प्रचार में आये तथा इनके लिये मृदंग का प्रचलन कम होकर तबला वाद्य संगत के लिये प्रचार में आया। वर्तमान काल में अनेकों गीत प्रकारों के साथ उनके अनुसार ही

---

12. मनोहर लाल चंद्रराव मराठे-ताल वाद्य शास्त्र पृ०सं० 54

13. भगवत शरण शर्मा–हिंदुस्तानी संगीत शास्त्र–1986, पृ०सं०-44

कायदे, पेशकार, रेले, परनें, गतें तिहाइयाँ तथा विभिन्न लयकारियों के सुंदर वादन के साथ संगत कर ताल ने संगीत में शीर्ष स्थान प्राप्त कर लिया।

कंठ संगीत के साथ ताल की संगत गायक की गायकी पर अवलंबित होती है। शास्त्रीय गायन के साथ संगत करते समय तबला संगतकार को गीत प्रकार, गीत का वजन उसके अर्थ, रसभाव आदि का ध्यान रखते हुए निश्चित ताल का चुनाव करके ताल रचना के विभागों को उसके कम या अधिक जोर कस बोलों द्वारा खाली भरी को महत्व देकर वजनदार ठेका लगाना श्रेयस्कार होता है।[14] समान मात्रा वाले तालों में से किस ताल के ठेके से संगत करनी है इसका ठीक-ठीक चुनाव करना अत्यंत आवश्यक होता है। कौन से गीत के साथ कौन से ताल का ठेका किस वजन से धरना चाहिये यह ध्यान रखना अति आवश्यक होता है। इसके लिये वादक का ताल ज्ञान अत्यधिक होना आवश्यक है।

''गांधर्व मार्ग कुशलः कांस्य ताल धरोपरः।

गातु सहायकर्ता स्यात् प्रमाद विनिवृतये ॥''[15]

अर्थात संगीतज्ञ कितना भी कुशल क्यों न हो किन्तु उससे भूल होना स्वाभाविक है। ताल का पक्का होने पर भूल हो ही नहीं सकती, और यदि हो भी गई हो तो उसका शीघ्र सुधार हो जाता है।

गायन की संगति के समय विलंबित लय में ठेका धारण करने पर धीमी लय में उत्पन्न रिक्त स्थान को भरने के लिये वजनदार ठेके द्वारा ही आंदोलन उत्पन्न कर उसे भरा जा सकता है। विलंबित लय में जहाँ तक बने वहाँ तक दाँये और बाँये के आंस और धुमक के द्वारा रिक्त स्थान भरने में कठिन जा रहा हो तो त्रक, तिरकिट, धागे त्रक, आदि बोलों का सहारा लेते हैं। गायक के साथ सम पर आते समय छोटे-छोटे सुंदर दमदार बोल समूहों को बजाकर अथवा छोटी तिहाइयाँ बजाकर सम् दर्शायी जाती हैं। यदि संगत के वादन में ठेके बीच-2 में एक या दो मात्राओं के द्रुत गति के बोल समूह को बजाकर पुनः ठेका धारण किया जाये तो विलंबित गति के स्वर प्रधान गायकी के लिये अधिक पोषक होता है।[16]

---

14. मनोहर लाल चंद्रराव मराठे—ताल वाद्य शास्त्र पृ०सं० 56
15. श्री जय भगवान दास (मृदंगाचार्य) मृदंग तबला प्रभाकर (प्रथम सं०) पृ०स० 3
16. मनोहर लाल चंद्रराव मराठे—ताल वाद्य शास्त्र—पृ०सं० 56

लय प्रधान अर्थात मध्य या द्रुतलय की गायकी की संगत करते समय ठेके का विभिन्न प्रकारों के साथ वादन करते हैं। जब गायक विशेष लयकारी में बोलालाप आदि का गायन प्रस्तुत करता है तो उसे उस समय गायन की लय तथा वजन के अनुरूप दुगुन, आड़, चौगुन आदि बोल प्रकारों से संगत करना प्रस्तुतीकरण को अधिक रंजकता प्रदान करता है। गायक का तानों के समान उसी लयकारी में टुकड़ों का या बोल समूह का वादन अत्यंत आकर्षक होता है। ख्याल, ठुमरी, टप्पा, दादरा, तराना आदि गीत प्रकारों के साथ संगत गीत के अंगों के समान ही होनी चाहिये। यद्यपि ठुमरी, टप्पा, दादरा आदि गीत प्रकारों को सुगम संगीत के अंतर्गत मान्यता प्राप्त है तथापि ये गीत प्रकार शास्त्रीय स्वर राग-ताल नियमों के अंतर्गत ही गाये जाते हैं। अतः हम इन्हें शास्त्रीय सुगम संगीत कह सकते हैं। इनके साथ वादन में ताल के ठेके के निश्चित बोल की अपेक्षा गीत के अंग के अनुसार उसके ही वजन का उतनी ही मात्रा का ठेका किन्हीं भी बोलों के आधार पर बजाने की थोड़ी स्वतन्त्रता होती है। अतः संगतकार को गीत का वजन का समझकर ठेका धारण करना होता है तथा गायक के झटकों एवं खटकों के समान ही उपयुक्त संगत करनी पड़ती है। कलाकार के मौका देते ही विभिन्न लयकारियों में लग्गी आदि का वादन भी करना होता है।

इसी प्रकार वाद्यों के साथ संगत भी ताल द्वारा ही की जाती है यद्यपि वाद्य संगत-गायन की संगत करने से अलग हैं फिर भी यह संगत ताल से अछूती नहीं है। प्रायः गायक तथा नर्तक के साथ ताल-वाद्य एवं तत् या सुषिर वाद्य से उनके स्वर, गीत प्रकार, नृत्य प्रकार, गति प्रकृति, नृत्य प्रकृति, ताल एवं लय के अनुसार संगत की जाती है। तत् तथा सुषिर वाद्यों के साथ ताल-वाद्य से संगत की जाती है। ताल-वाद्य के साथ तत् या सुषिर वाद्य से संगत की जाती है। नृत्य में प्रायः अवनद्ध तथा घन दोनों प्रकार के वाद्यों से लय धारणा की जाती है। दक्षिण भारतीय संगीत में अवनद्ध वाद्य, घन वाद्य तथा तालक

द्वारा हाथ की सशब्द और निःशब्द क्रिया से गायन, वादन, और नृत्य में लय धारणा के लिये संगत की जाती है। संगीत में लय एवं ताल का अत्यंत महत्व होता है। ऐसा कहा गया है कि तालविहीन संगीत ''आरण्यक संगीत' होता है।[17] प्राचीन काल में संगीत में ताल की धारणा 'ताल' नाम घन वाद्य से की जाती थी। सशब्द और निःशब्द क्रिया को ताली एवं खाली से ताल को दर्शाने का कार्य 'तालक' (ताल देने वाला) किया करता था। अवनद्ध-वादक ताल मात्राओं के आधार पर लघु-गुरु आदि वर्णाक्षरों से वादन कर संगीत में रसभाव और रंजकत्व बढ़ाने का कार्य मात्र करते थे। सर्वप्रथम तालों का उल्लेख 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ में उपलब्ध होता है। भरत ने अपने समय के संगीत के लिये उपयुक्त पुष्कर (त्रिपुष्कर, आलिंग्य, आंकिक, उर्ध्वक) नामक अवनद्ध वाद्य का विस्तृत विवेचन अपने ग्रंथ में किया है।[18]

इसी प्रकार कालिदास जी ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है। उनके अनुसार सभी टीकाकारों में केवल वल्लभदेव जी ने अपनी 'पञ्चिका' टीका में इसका ईषत् संकेत किया है—

''मत्कान्तया शिञ्जानकनक कटकमनोहरेः तालैः वाद्यैर्नर्तितः।''

'ताल' शब्द से यहाँ अभिप्राय ताल नामक घनवाद्य (तालवाद्य) से है। यक्षिणी स्वर्ण-कङ्कण तो पहने ही है उन्हीं हाथों से वह 'ताल' नामक वाद्य (आधुनिक मंजीरा सदृश) बजाकर अपने प्रिय मयूर को नचाया करती थी। 'ताल' कोई ऐसा वाद्य नहीं है कि जिसके वादन के लिये विधिपूर्वक बैठकर संगीत-साधना करनी हो। यह तो अति साधारण सा लोक-वाद्य सदृश है जिसका वादन यक्षिणी द्वारा अपने मयूर को नचाये जाने में सहज ही किया जां सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने विशेष अर्थ में यहाँ 'ताल' शब्द प्रयुक्त है,जो कालिदास संगीत-वाद्य-विषयक सूक्ष्म ज्ञान का परिचायक है। समग्र कालिदास-साहित्य में केवल इसी पद्य में 'ताल' नामक घनवाद्य का उल्लेख मिलता है। चूँकि

---

17. मनोहर लाल चंद्रराव मराठे—**ताल वाद्य शास्त्र**—पृ०सं० 53
18. वही – पृ०सं० 54

केवल एक ही बार इसका कवि ने प्रयोग किया, संभवतः इसीलिये वह टीकाकारों की सूक्ष्म दृष्टि से वंचित रह गया।[19]

इस प्रकार संगीत में ताल के महत्व को समझने का अर्थ है—''गायन, वादन एवं नृत्य से ताल का संबंध'' क्योंकि—**''गीतं वाद्यं तथा नृत्यं, त्रयं संगीत मुच्यते''**। किसी भी संगीतज्ञ एवं नृत्यकार की सत्यता को जाँचने के लिये ताल एक अच्छा साधन है। जिसे साधारण व्यक्ति भी समझ लेता है। संगीत रत्नाकार के अनुसार—**''गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्''**—अर्थात गायन वादन तथा नृत्य ताल से ही शोभा पाते हैं।[20]

नृत्य में ताल का विशेष स्थान होता है या कहना चाहिये कि ताल के अभाव में नृत्य फीका जान पड़ता है। नृत्यकार के घुँघरू की आवाज नृत्य के बोलों के मुताबिक ही होनी चाहिये। नृत्यकार की तरह ही एक वादक भी ताल में तन्मय होकर झूम उठता है। सम आते ही उसके शरीर के समस्त अंग, प्रत्यंग जैसे सम का स्वागत करने हेतु एक ओर झुक जाते हैं यह सब क्या है? ताल का कमाल ही तो है।[21]

हमारी वैदिक परंपरा के अनुसार ब्रह्मा ने भरत मुनि को प्रथम नाट्यशास्त्र सिखाया। नृत्य की उत्पत्ति शिव से हुई है यह भी माना जाता है कि यह नृत्य भगवान शिवजी ने नंदिकेश्वर को सिखाया और नंदिकेश्वर ने आगे चलकर यह विद्या भरत मुनि को सिखायी। अर्थात यह कहना अनुचित नहीं होगा कि नृत्य कला सर्वप्रथम शिवजी से निर्मित हुई। इसीलिये शिव को नटराज अथवा नृत्य का राजा माना जाता है।

भारत में मूलतः चार शास्त्रीय नृत्य हैं—कत्थक, भरतनाट्यम, कथकलि और मणिपुरी। इनके अतिरिक्त उड़ीसी, कुचिपुड़ी, मोहिनी अट्टम व छाऊ नृत्य भी शास्त्रीय नृत्य की श्रेणी में स्थान पा चुके हैं।[22] नृत्य शिक्षा स्थूलतया दो रूपों में मिलती है व्यवहारिक तथा सैद्धांतिक। व्यवहारिक को क्रियात्मक पक्ष भी कह सकते हैं। नृत्य शिक्षा में क्रियात्मक शिक्षा का ज्ञान बच्चों को देना इतना आसान नहीं जितना कि समझा जाता है। नृत्य शैली

---

19. डा० सुषमा कुलश्रेष्ठ—कालिदास साहित्य एवं वादन-कला—1966, पृ०सं०181
20. श्रीमती प्रेम दुबे **संगीत** (पत्रिका) — 1983 मई, पृ०सं० 15
21. वही — पृ०सं० 16
22. छाया भटनागर—**संगीत** (पत्रिका) —1984 जन-फरवरी, पृ०सं० 185

के अनुसार विद्यार्थियों को ढालने में एक लंबा समय लगता है। नृत्य कला प्राचीन काल से ही चली आ रही है। आदिकाल से संगीत जीवन का अभिन्न अंग रहा है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वेदों में ऐसा उल्लेख है कि युवतियाँ विभिन्न समारोहों और वरूण देवता को संतुष्ट करने के लिये गाती थी और यज्ञ के चारों ओर नृत्य करती थीं। स्वयं भगवान ने भी कहा है कि—उन्हें 'नाम संकीर्तने' करने वाले भक्तों के समूह में देखा जा सकता है। संगीत से चाहे वह लोक संगीत हो या रागदारी, मानसिक शांति मिलती है। लोगों में एकात्मता की भावना जाग्रत होती है और उसका उदात्त देवत्व रूप हमें सर्वशक्तिमान के निकट ले जाता है।[23] रागदारी संगीत और नृत्य वस्तुतः चिंरतन भंडार है—जिन्हें 'तेजोमयम्' कहा जा सकता है। शास्त्रीय कला की दीप्ती कभी क्षीण नहीं होती। इसका अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि गत दो हजार वर्षों में हमारे देश में अगणित, ऐतिहासिक और अन्य परिवर्तन हुये किंतु नृत्य और संगीत जैसी महान कला ने सभी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थतियों और थपेड़ों के बावजूद अपना उदात्त स्वरूप कायम रखा है।[24]

संगीत के अंतर्गत गायन तथा नृत्य दोनों कला ही ताल पर आधारित हैं। यद्यपि गायक कुछ गायन बिना ताल के ही कर सकता है किंतु नर्तक नृत्य की मुद्रा ही ताल के आधार पर लेगा। विशेष तौर से शास्त्रीय नृत्य ताल पर पूर्ण रूप से समर्पित है। ताल व लय पर अधिकार करना नृत्यकार के लिये निहायत जरूरी है अन्यथा वह बेताला कहलायेगा। इसके लिये शिक्षक को भी नियमित रूप से अभ्यास की आवश्यकता होती है। अधिकतर नृत्यों में तीनताल, झपताल, एकताल, रुपक आदि ताल प्रयोग में लिये जाते हैं तथा ताल की मात्राओं का ज्ञान, ताल के रूप, जाति, गति आदि के विषय में पूर्ण रूप से जानकारी प्राप्त की जाती है। अच्छा अभ्यास ही ताल-लय पर काबू पा सकता है।[25] नृत्य के कुछ बोल इस प्रकार होते हैं जिन्हें ताल व लयबद्ध करके नृत्य किया जाता है। नृत्यकार नृत्य के अतिरिक्त ताल में बोलने का भी अभ्यास करते हैं। अतः नृत्यकार को ताल के साथ-साथ नृत्य बोलों की जानकारी भी अति आवश्यक है।

---

23. श्रीमती राजी नारायण—संगीत (पत्रिका) – 1990 नवम्बर, पृ०सं० 43
24. वही – पृ०सं० 43
25. छाया भटनागर संगीत (पत्रिका) –1984 जन-फरवरी, पृ०सं० 187

नृत्य के साथ संगत, नृत्यकार के साथ संगत का अभ्यास करने पर अधिक हितावह होती है। नृत्य के साथ संगीत। नृत्य की संगत गायन एवं वादन दोनों से ही भिन्न होती है। प्रायः प्रत्येक नर्तक अपने संगतकार निश्चित रखता है। क्योंकि नृत्य की संगत एकाएक करने में तबला वादक को काफी परेशानी होती है। नृत्य की संगत के लिये नृत्यकार को बोल, तोड़े, परन आदि याद होने चाहिये, तभी संगति कुशलता पूर्वक की जा सकती है।[26] नृत्य के बोल हू-ब-हू तबले पर नहीं निकाले जाते हैं वरन् उन बोलो को सुनकर उतनी ही मात्रा में बोल तथा उसी वजन के बोल बजाये जाते हैं, इसलिये नृत्य के एक ही बोल का निकास अलग-अलग तबला वादक अपने-2 ढंग व उपज अनुसार अलग-अलग प्रकार से करते हैं। उदाहरण के लिये जैसे—यदि नृत्यकार का बोल है—''तत तत थेई'' तो कुछ वादक इसे तबले के अनुरूप—''तत तत धान'' या कुछ—''धातिर किटतक धा'' बजायेंगे तथा जिन वादकों की तैयारी अच्छी होगी वह—''धिरधिर किटतक धा'' भी बजायेंगे।[27] कहने का अभिप्राय यह है कि एक ही बोल को जिस स्तर का वादक होगा उसी स्तर से बजायेगा, हिसाब से बजायेगा।

इसके अतिरिक्त नृत्य में गत बनाने का अलग ही तरीका है। गत निकास में नर्तक पैर से जो चाल चलता है उसी चाल के वजन का ठेका तबले पर बजता है जो कि मध्य या द्रुत-मध्य लय में होता है। जब नृत्यकार, गत-भाव प्रस्तुत करते हैं, उस समय भी तबला-वादक उसके पद-संचालन को देखते हुये जहाँ आवश्यकता होती है, बजाते हैं, अन्यथा भाव में सीधा ठेका ही बजाया जाता है। इसके पश्चात तत्कार तथा तत्कार के प्रकार आते हैं। तत्कार का अर्थ है द्रुत-गति में पद-संचालन कर पैर की तैयारी प्रदर्शित करना। इसमें तबला वादक तीनताल का ठेका द्रुत लय में बजाते हैं। ''तत्कार'' को कत्थक का आधार माना गया है—यह चार बोलों का एक टुकड़ा होता है जैसे तबले पर ''ना धिन निध ना'' होता है वैसे ही कत्थक नृत्य में इसका रूप ''ता थेई थेई तत्'' है।[28] जैसे कि ऊपर भी बताया गया है। शुरू में दाहिने पाँव के बाद बाँया, फिर दाहिना, फिर

---

26. मनोहर लाल चंद्रराव मराठे—**ताल वाद्य शास्त्र**—पृ०सं० 59
27. वही— पृ०सं० 59
28. वही— पृ०सं० 60

बाँया। इस क्रम से जमीन पर आघात किया जाता है किन्तु प्रथम बार के बाद दूसरी बार प्रारंभ बाँये में होगा, फिर तीसरी बार प्रारंभ दाहिने से। इस प्रकार हर चार मात्राओं के बाद पाँव बदलता रहेगा। ताल वादक इसमें तीन ताल का द्रुत-लय में ठेका बजाते हैं। जहाँ-जहाँ पर नर्तक तत्कार बदलते हैं या उसमें अन्य बोल लगाकर उसके प्रकार बनाते हैं उसी प्रकार तबला वादक को भी बजाना पड़ता है।

उदाहरण के लिये जेसे—द्रुत गति में—

ता थेई थेई तत, आ थेई थेई तत

ता थेई थेई तत, तकिट तकिट तक

यह बोल तबले पर भी इसी प्रकार बजेगा। जैसे—

धा धिं धिं धा, धा धिं धिं धा।

धा तिं तिं ता, तकि टत किट तक।

इसी क्रम में नृत्यकार और ताल-वादक के सवाल जवाब भी होते हैं। पहले नृत्यकार अपने पैरों से कुछ बोल निकालते हैं, जिसे सुनकर वादक अपनी सूझ के अनुसार उसी वजन का बोल उतनी ही मात्रा में बजाते हैं। यही क्रम कत्थक नृत्य में पूर्ण संगति में चलता है। इसके अतिरिक्त तत्कार का ख्याल रखते हुये कभी आधे कभी पूरे अथवा ताल में रहकर लगातार घूमकर भी चक्कर निकाले जाते हैं। इसके अतिरिक्त संगीत की भाँति इस नृत्य में भी निश्चित मात्राओं के क्रम से एक विशेष स्थान पर आना होता है। इसे "सम" कहते हैं।[29] एक सम से दूसरे सम तक एक पूरा भाव व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। वर्णनात्मक बोलों के चमत्कृत करने वाले तेज अंशों को टुकड़ा कहते है, जिन्हें दुगुन, तिगुन, चौगुन में चतुराई से प्रयोग किया जाता है। यह टुकड़े नर्तक को स्वयं पढ़ने होते हैं तथा इतनी खूबी से कलाकार पढ़ता है व नृत्य प्रस्तुत करता है कि दर्शक मंत्रमुग्ध हो जाते हैं।

---

29. पं० डी० मोहन नेहरू — संगीत (पत्रिका)—1960 नवम्बर, पृ०सं० 29

इसी प्रकार 'भरतनाट्यम' नृत्य भी पूर्ण रूप से ताल को ही समर्पित है। 'भरत नाट्यम' का अर्थ बुद्धिवादी लोग ''भारतीय नृत्य कला'' इस प्रकार करते हैं। इस शब्द के तीन अर्थ होते हैं–भ = भाव, र = राग और त = ताल। भाव, राग और ताल ही इस कला के तीन प्राथमिक विभाग हैं तथा ये तीनों अर्थ ही इस कला के प्राण हैं।[30] प्राचीनकाल से भरत नाट्यम में कई परिवर्तन हुये हैं । इसका मुख्य कारण है स्थानीय लोगों की अभिरूचि और रीतिरिवाज और उस पर वहाँ के कलाकारों ने अपनी कल्पना के जो आविष्कार किये उससे उसका रंग-रूप बदलता गया और यह स्वाभाविक ही है। तंजौर के राजाश्रय के कारण आज का भरत नाट्यम दक्षिण हिन्दुस्तान में रह सका है। दक्षिण हिन्दुस्तान में इस कला की शुद्धता बहुत हद तक जीवित रह पायी है। फिर भी कुछ तथाकथित उच्चभ्रू लोगों के कारण इस कला में कुछ विकृति आने लगी है।

यह नृत्य दो भागों में विभाजित हो गया है।

1. नृत्त अथवा शुद्ध नृत्य।

2. अभिनय अथवा अंग संचालन।

नतर्क अपने भाव, अपने अंग संचालन के द्वारा प्रकट करने का प्रयास करता है। ये हलचलें लय, ताल और छंद में निबद्ध होती हैं। पार्श्व संगीत और वाद्य भी उसकी सहायता करते हैं। विशेषतया पैर, बाजू और गर्दन इन अंगों की हलचलों का समावेश अभिनय में होता है। इनमें भी नेत्र, गर्दन, सिर तथा बाजुओं की हलचलें सूक्ष्म होती हैं। हाथ और उंगलियों की हलचलें विशेष होती हैं जिन्हें मुद्रा कहते है।[31]

कर्नाटक संगीत में पल्लवी, अनुपल्लवी, चरनम् उनकी पाँच जातियाँ–तिसरम, मिसरम, खंड, संकीर्णम और सतवैसरम्, उसके सात ताल आदि–अट्ट, ध्रुव, मट्ठ, रूपक, त्रिपुट और झंप आदि। इसके अतिरिक्त राग और राग-मालिका की पृष्ठभूमि पर अभिनय

---

30. नरसिंह सरंगी– संगीत कला विहार (पत्रिका)–1978 जनवरी, पृ०सं० 13

31. वही – पृ०सं० 14

किया जाता है। प्रत्यक्ष नृत्य में राग की अपेक्षा ताल एवं ताल के बोलों का महत्व अधिक रहता है। इस नृत्य में शुरूआत प्रार्थना से की जाती है तत्पश्चात ही अंग संचालन करती हुई नर्तिका तरह-तरह से मुद्रायें बनाकर भावों को दर्शाती हैं तथा फिर 'दीर्घा-दीर्घा' तर्ज पर पदन्यास करती है। ये पदन्यास अलग-अलग ताल छंदों पर किये जाते हैं यही शुद्ध नृत्य है।[32]

तत्पश्चात 'जातिस्वरम्' का नृत्य होता है इस नृत्य में संगीत और हाव-भाव एक दूसरे में उलझे तथा जटिल होते हैं। तालों में 3, 4, 5, 7 तथा 9वीं मात्रा से उत्पन्न समय दर्शक लय के ही नाम जाती है। इनमें अनेकों जातियों में नृत्य किया जाता है। इस नृत्य में शिक्षक पीछे बैठकर हाथों से ताल पकड़ते हैं वाद्यकार अपने ताल वाद्यों पर अत्यंत सुंदर तथा जटिल बोल निकालते हैं। इन बोलों में नर्तक अपने पदन्यासों को बुनता जाता है।

इस प्रकार यह नृत्य संगीत व ताल की संगत के साथ काफी समय तक (लगभग ढाई तीन घंटों) चलता है कहने का अभिप्राय यही है कि ताल वाद्य तथा पदन्यास के द्रुतलय के मिश्रण, मुद्राओं भावों आदि में यह नृत्य प्रकार समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार अंत में शोधकर्त्री इस निष्कर्ष पर पहूँचतीं है कि संगीत तथा नृत्य के साथ ताल का संबंध शरीर के साथ प्राण जैसा है। संगीत की नियमितता दृष्टिगत होती है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक मनुष्य के हृदय स्पंदन तक ये गति रहती है। किसी व्यक्ति के हृदय को यदि हम देखें तो हम पायेंगे कि कोई मशीन भी काम में इतनी सफल नहीं हुई है। हमारे साँस लेने में भी लय, गति (Rhythm) है। विभिन्न ग्रहों की अपनी परिधि पर या दूसरे ग्रहों के चारों ओर घूमने के काल में किंचित मात्र भी अंतर होने से वह महाप्रलय का कारण बन सकता है। इस प्रकार कहने का अभिप्राय यही है कि जीवन के अणु-अणु में ताल व्याप्त है। गायन वादन तथा नृत्य ये यदि ताल को निकाल लें तो उनका कलेवर प्राण शून्य जान पड़ेगा।

---

32. नरसिंह सरंगी– संगीत कला विहार (पत्रिका)–1978 जनवरी, पृ०सं० पृ०सं० 14

सामाजिकता के विकास में ताल की भूमिका

''उत्पत्त्यादि त्रयं लोके यतस्तालेन जायते।

कीटकादि पशूनां च तालेनैव गतिर्भवेत॥

यानि कानि च कर्माणि लोके वाला श्रितानि च।

आदित्यादि ग्रहानांच तालेनैव गतिर्भवेत॥

वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि समस्त ब्रह्माण्ड लय से बंधा हुआ है। दैनन्दिन जीवन में मानव पशु-पक्षी, चर-अचर, सभी निश्चित समय पर अपना कार्य करते हैं। समय अखण्ड है किंतु उसकी उपयोगिता की वृद्धि के लिए उसे घंटों, प्रहरों, दिनों, महीनों एवं वर्षों में विभाजित किया गया है। पृथ्वी सूर्य की एक प्रदक्षिणा चौबीस घंटों में करती है। नदियों के ज्वारभाटे का भी एक निश्चित क्रम है। विश्व-विधाता द्वारा सृजित समस्त प्रकृति में समय क्रम की जो निश्चित गति है, वही संगीत में ताल बनकर उसे उपयोगी, रसपूर्ण और स्थायी स्वरूप देती है।[1]

संगीत एवं अन्य ललित कलाओं के विकास में दो ही मुख्य साधन होते हैं। एक समाज तथा दूसरा प्रशासन। समाज अपने रीति-रिवाज, धार्मिक उत्सव सामाजिक पर्व तथा सामाजिक एकत्रिता द्वारा कला का विकास एवं कला को जीवित रखने का प्रयास करता है परन्तु कला-प्रेमी व्यक्ति कम ही होते हैं कला को विकसित करने के लिए कलाकारों को प्रोत्साहित करना अति आवश्यक है।[2]

आदिकाल से ही मानव ने अपने हृदय के सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के साधन अपनी परिस्थिति के अनुसार ढूँढ निकाले थे और उसी के प्रयास में समय-समय पर उसने विभिन्न कलाओं का विकास किया। इस प्रक्रिया में जहाँ स्वतः स्फूर्त स्वरों का विकास

---

1. डा० अरूण कुमार सेन – भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन–1973– पृ०सं०51
2. डा० जोगेन्द्र सिंह बावरा – भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास –1994 पृ०सं० 12-13

हुआ, वहाँ प्रकृति प्रदत्त स्पंदनानुभूति से उसने लय (Rhytham) का अविष्कार किया।[3] ध्वनि की लहरें वायुमंडल में प्रकंपित वस्तु के चारो ओर बनती, बढ़ती और मिटती जाती हैं। इन लहरों का स्वरूप पानी में पत्थर फेंकने से उत्पन्न लहरों के समान होता है। तार को छेड़ने से उसमें आंदोलन होते हैं जब तक वह आंदोलित होता रहता है। तब तक वायु में तरंगे उठती हैं और वही तरंगें हमारे कान से टकराकर हमें स्वर ध्वनि का आनंद प्रदान करती है।[4]

हृदय दर्पण के इन छाया चित्रों को जब ताल और स्वर के आधार पर व्यक्त किया जाता है तब उसकी संज्ञा ''संगीत'' होती है।[5] संगीत में गायन, वादन एवं नृत्य तीनों का समावेश है। स्वर आत्मा का नाद है और आत्मा परमात्मा का स्वरूप। जिस प्रकार आत्मा का संबंध परमात्मा से माना जाता है उसी प्रकार स्वर का संबंध आत्मा से मानना पड़ेगा। इस युक्ति से संगीत और आत्मा का संबंध भी सुदृढ़ सिद्ध होता है। भावुकता से हीन कोई कैसा भी पाषाण हृदय क्यों न हो, किंतु संगीत से विमुख होने का दावा उसका भी नहीं माना जा सकता। कहावत है कि...गाना और रोना सभी को आता है। वैसे ध्वनियों में इतनी अधिक विविधता है कि सीमित श्रवण क्षमता के कारण उन्हें साधारण कानों से सुना ही नहीं जा सकता।[6]

भारतीय संगीत के प्राचीनतम आधार ग्रंथ ''भरत नाट्य शास्त्र'' के अनुसार 'त्रिपुष्कर' के आविष्कार की प्रेरणा स्वातिमुनि को वर्षा ऋतु में पुष्कर (तालाब) के बड़े-बड़े मध्यम व छोटे आकार वाले कमल पत्तों पर गिरती हुई जल की बूँदों से उत्पन्न 'पट-पट' शब्द की विभिन्न गंभीर और मधुर ध्वनियों से मिली थी, इसीलिये इन्हें 'पुष्कर' वाद्य कहा गया।[7] पुष्कर वाद्य सबसे पहले विश्वकर्मा की सहायता से दुंदुभि वाद्य के आधार पर आंकिक, उर्ध्वक और आलिंग्य इन तीनों रूपों में मिट्टी से बनाये गये थे। अतः तीनों रूपों में निर्मित होने के कारण इन्हें 'त्रिपुष्कर' या 'पुष्करत्रय' और मिट्टी से बनाये जाने के कारण 'मृदंग' या 'मुरज' भी कहा गया।

---

3. डा० श्रीमती योगमाया शुक्ला – **संगीत (पत्रिका)**– 1984 जन०-फर० पृ०सं० 184
4. डा० अरूण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन**–1973– पृ०सं०185
5. जवाहर लाल नायक – **संगीत कला विहार (पत्रिका)** – 1978, जुलाई, पृ०सं० 290
6. डा० जगदीश सहाय कुलश्रेष्ठ – **संगीत शास्त्र** – 1992 अप्रैल, पृ०सं० 11
7. डा० श्रीमती योगमाया शुक्ला – **संगीत (पत्रिका)**– 1984 जन०-फर० पृ०सं० 188

प्रकृति ने ध्वनि को भी अनेकों रूप दिये हैं जिनके न जाने कितने प्रकार हैं। कुछ परिचित ध्वनियाँ जैसे—पवन की सरसराहट, पत्तों की खड़खराहट, बादलों की गड़गड़ाहट, पंखों की फड़फड़ाहट, मच्छरों की भनभनाहट, घोड़े की हिनहिनाहट, नदी की कलकल, सिंह की गर्जना, हाथी की चिंघाड़, तोप का धमाका, संगीत की स्वरात्मकता, घुड़सवार की टाप, जनसमुदाय का शोरगुल आदि का हमसे निकट संपर्क रहने के कारण हम इन ध्वनियों को पहचान कर उनका वर्गीकरण कर सकते हैं। भारतीय संगीत के संदर्भ में कहा गया है कि श्रुति इसकी जननी और लय जनक है। इस कथन में बहुत कुछ सत्यता है।[8]

तालमय ध्वनि से तात्पर्य उन रंजक लयात्मक ध्वनियों से है, जिनमें निश्चित ध्वनि क्रम के आवर्तन होते रहें। विश्वनियन्ता की व्यवस्थित प्रकृति का लघुरूप ही मानों ताल-ध्वनियों में प्रस्फुटित होता है।

चर-प्राणियों में मानव श्रेष्ठतम माना गया है एवं उस पर ताल ध्वनियों का जो प्रभाव पड़ता है उसका विस्तृत विवेचन आवश्यक नहीं। नैसर्गिक लयात्मकता की पृष्ठभूमि पर अपनी बुद्धि द्वारा मानव ने प्रस्तर युग से आज तक विविध लय स्वरूपों का सृजन किया है और यह क्रम अनन्त काल तक चलता रहेगा।

वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि मनुष्य से कई गुना अधिक ध्वनि संग्राहक शक्ति पशुओं में है और वे इतनी अधिक ध्वनियों को एक साथ सुन सकते हैं जो कि मनुष्य के लिये सुनना असंभव है। लय ध्वनियाँ निश्चय ही उन ध्वनियों से श्रेष्ठ हैं जिनका सृजन लय-विहीन रूप में होता है। विशेष अनियमित ध्वनियाँ, जैसे-सैनिकों के लिये तोप की आवाज, मोर के लिये मेघ गर्जना या प्रतीक्षा करती हुई माता या पत्नी के लिये ट्रेन की गड़गड़ाहट भले ही सुखकर हो किंतु उनका मूल्य स्थायी नहीं हो सकता। सुंदर वस्तु के लिये कीट्स ने कहा है—

---

8. श्रीमती सुमित्रा आनंद पाल सिंह — संगीत पत्रिका — 1965, जन०-फर०, पृ०सं० 23

A thing of beauty is a joy forever. इसे ही यदि बदलकर कहें–

A sound in rhythm is a joy forever तो घृष्टता न होगी।[9]

जैसा कि भारतीय संगीत के संबंध में कहा गया है कि श्रुति इसकी जननी और लय जनक है इस संदर्भ में यह शंका उठती है कि क्या सभी लयात्मक ध्वनियाँ हृदय का रंजन कर सकती हैं, यह कहना ज्यादा उचित होगा कि उस ध्वनि का लयात्मक स्वरूप निश्चय ही उसके लय विहीन स्वरूप से श्रेष्ठ होगा।[10] लयध्वनि का स्वाभाविक प्रभाव बालक के मन पर पड़ता है। माँ-बहनें लोरी गाकर थपकी देकर बालक को सुलाती है। ट्रेन पर चढ़ने के बाद चक्के से निकलने वाली लय ध्वनि भले ही सैकड़ों गुनी अधिक बड़ी हो किंतु थोड़ी देर में उसका प्रभाव बच्चे पर लोरी से कम नहीं पड़ता और बच्चा सो जाता है, जबकि उस ध्वनि में इतनी तीव्रता होती है कि यदि विसंगति से वही ध्वनि उस सोये हुए बालक को सुनाई जाये तो वह चौंककर उठ बैठेगा।

कोदऊ सिंह कहते हैं–"पखावज बजाकर पागल हाथी को अपने वश में कर लिया।"[11] संतुलन विहीन मस्तिष्क पर लय ध्वनियों के प्रभाव की यह एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। हम केवल कहते हैं कि संगीत से रोग अच्छे हो सकते हैं किंतु प्रयोग द्वारा इसे प्रमाणित नहीं करते या साधनों के अभाव में मजबूर होकर चुप बैठ जाते हैं। यह पूर्ण रूप से विश्वसनीय है कि पागलखाने में यदि इसी प्रकार की संतुलित तथा चित्ताकर्षक लय ध्वनियों का प्रयोग किया जाये तो उसका परिणाम निश्चय ही अच्छा होगा। कभी अति विलम्बित, कभी विलम्बित कभी मध्य कभी द्रुत कभी अति द्रुत आदि रंजक लय स्वरूपों का प्रयोग किया जा सकता है हमारे बड़े-बड़े विद्वानों ने तो संगीत के तीनों तत्वों को मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया है उनके अनुसार–

तत्वज्ञः श्रुति जाति विशारदः।

---

9. डा० अरूण कुमार सेन – भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन–1973– पृ०सं० 185
10. श्रीमती सुमित्रा आनंद पाल सिंह – संगीत पत्रिका – 1965, जन०-फर०, पृ०सं० 23
11. डा० अरूण कुमार सेन – भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन–1973– पृ०सं० 186

तालश्चऽप्रयासेन मोक्षमार्ग संगच्छति ॥[12]

अर्थात वीणा बजाने के तत्व को समझने वाला श्रुतियों और स्वरों की जाति-भेद में निपुण तथा ताल के मात्राकाल को जानने वाला पुरुष बिना ही योगादि साधन परिश्रम के मोक्ष मार्ग को जाता है।

गीत, वाद्य तथा नृत्य इन तीनों कलाओं को सामूहिक नाम संगीत दिया गया है। इस प्रकार संगीत के मूल तत्व ही रूप भेद तथा मात्रा भेद से गीत वाद्य तथा नृत्य के मूल तत्व कहे जा सकते हैं। इन तीनों का सूक्ष्म अध्ययन यह बताता है कि इनका मूल आधार लय है जो नाद व गति के परिष्कृत रूप हैं। नाद एवं गति अति सूक्ष्म होने से सार्वकालिक हैं। आकाश का गुण शब्द है, वही जब गति के प्रभाव से वायु, जल, अग्नि तथा पृथ्वी का रूप धारण कर पंचतत्व बनता है तब समस्त सृष्टि का व्यापार आगे चलता है। अतएव यह सृष्टिनाद एवं गति का ही परिणाम है।[13] इन्हीं पाँच तत्वों से मिलकर शरीर का निर्माण होता है और यही तत्व जीवन के आधार माने गये हैं। इनमें जहाँ किसी एक की कमी हुई कि जीवन लीला समाप्त हुई। अर्थात प्राणी मात्र की उत्पत्ति के लिये यही पंचतत्व प्रकृति का आधार माने जायें हैं तो गलत नहीं होगा। वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर दिया है कि उक्त पंचतत्वों में संगीत प्रचुर मात्रा में विद्यमान है, उधर भावुक व्यक्ति प्रकृति के कण-कण में संगीत के नीहित होने का दावा करते हैं।[14]

आहत और अनाहत, नाद के ये दो भेद हैं। आहत नाद जिसको हम सुन सकते हैं, व्यवहार में ला सकते हैं। अपने पाँच ध्वनि रूपों में जिन्हें संगीतात्मक ध्वनियाँ कहते हैं प्रस्फुटित होता है—ये संगीतात्मक ध्वनियाँ नखज, वायुज, चर्मज, लोहज तथा शरीरज होती हैं। वीणा आदि वाद्य 'नखज' हैं। वंशी आदि 'वायुज' वाद्य हैं। 'मृदंग' आदि वाद्य 'चर्मज' हैं, ताल मंजीरा आदि 'लोहज' हैं तथा कंठ ध्वनि 'शरीरज' होती हैं। इन पाँच प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करने वाले वाद्यों को 'पंच महावाद्यानि' कहा गया है। इनमें से एक

---

12. डा० टी०आर० शुक्ला – भारतीय संगीत की वास्तविक रूपरेखा– 1994, पृ०सं० 5
13. डा० लालमणि मिश्र – भारतीय संगीत वाद्य – 1973, पृ०सं० 8
14. डा० जगदीश सहाय कुलश्रेष्ठ – संगीत शास्त्र – 1992 अप्रैल, पृ०सं० 10

ईश्वर द्वारा निर्मित हैं जो नैसर्गिक है तथा अन्य चार प्रकार के वाद्य मानव विचरित हैं।[15]

संगीत-स्वर प्रधान कला है, लेकिन ताल, लय अथवा गति इसके अनिवार्य अंग हैं विश्व की सभी संगीत शैलियों एवं लोकगीतों में भी लय और गति का विशेष ध्यान रखा जाता है, अन्यथा संगीत अपनी सुंदरता और पूर्ण प्रभावोत्पादकता से वंचित हो जाता है। ताल भारतीय शास्त्रीय संगीत का महत्वपूर्ण और अविभाज्य अंग है।[16]

पारिभाषिक अर्थ में लय को तालों एवं काल-माप का आधार माना जाता है। गति ही प्रकृति की सारी क्रियाओं का आधार है। दिक एवं आकाश के नक्षत्रों की गति से लेकर घास के स्पंदन तक की प्रकृति की समस्त क्रियायें कतिपय मूलभूत नियमों पर आधारित हैं। दार्शनिक कहेंगे कि गति ईश्वरीय अभिव्यक्ति का आधार है। नटराज के नृत्य में यही आधार भूत गति प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित है।[17]

संगीत के साथ-साथ ही ध्वनि का महत्व चिकित्सा जगत में भी कम नहीं है। विकृत व्याधिग्रस्त हृदय का सम्मोहक लय-ध्वनियों के द्वारा उपचार करना निश्चय ही संभव हो सकता है। दुर्भाग्य से इस दिशा में उचित प्रयत्नों का भारत में सर्वथा अभाव है किंतु विदेशों में चिकित्सा हेतु ध्वनि विज्ञान का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ रहा है। इसमें मानव मन को स्वस्थ रखने के लिये चिकित्सकों को उचित ज्ञान दिया जाता है ताकि वे समझें कि विभिन्न ध्वनियों पर क्या प्रभाव पड़ सकता है। कारखानों में लोगों को मशीनों की घरघराहट में प्रतिदिन आठ, दस घंटे तक काम करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप उनकी कार्य-क्षमता और मनोयोग की शक्ति क्रमशः क्षीण होती जाती है तथा वे निरूत्साही, चिड़चिड़े और क्षमताहीन हो जाते हैं। इसी प्रकार ध्वनि शून्य वातावरण में लंबी अवधि तक काम करने वाले व्यक्ति कई मानसिक रोगों के शिकार बन जाते हैं। इन रोगियों के लिये रोचक लय ध्वनियाँ टॉनिक सदृश फलप्रद हो सकती हैं इसमें कोई संदेह नहीं।[18]

किसी भी दशा में हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि संवेदनशील प्राणी

---

15. डा० लालमणि मिश्र – **भारतीय संगीत वाद्य** – 1973, पृ०सं० 13
16. डा० जोगेन्द्र सिंह बावरा – **भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास** (प्रथम संस्करण) –1994 पृ०सं० 243
17. श्रीमती सुमित्रा आनंद पाल सिंह – **संगीत** (पत्रिका) – 1965, जन०-फर०, पृ०सं० 21
18. डा० अरूण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन**–1973– पृ०सं० 187

पर गति का गहन प्रभाव नहीं पड़ता है। प्रायः घड़ी की निरंतर टिक-टिक थकावट एवं तन्द्रा उत्पन्न करती है। गतिशील रेलगाड़ी की ध्वनि अनेक यात्रियों को झपकी लेने में सहायक होती है।

किसी भी समाज की संस्कृति उस समाज की लोक कला के माध्यम से अलंकृत होती है। लोक कला में संगीत कला ने समाज में मानवीय संवेदनाओं को जिस सशक्त तरीके से उभारने का कार्य किया है, शायद ही किसी और पहलुओं से न हुआ हो। संगीत का विशेषकर लोक संगीत का मुख्य आधार वे सामाजिक विश्वास, रीति-रिवाज, उत्सव, त्यौहार एवं अन्य विशिष्ट मूल्य हैं जो सामाजिक रूप से सामाजिकता से युक्त होते हैं उसमें सहज सुलभ मनोरंजन एवं रसादि की अनुभूति विशेष रूप से विद्यमान रहती है।

लोक संगीत के स्वर सुखद अनुभूति दायक होते हैं। मानव ध्वनि के विन्यास पर आधारित ध्वनि की मधुरता से भावात्मक अनुभव और संवेदनशील विचारों की अभिव्यंजना को प्रकट करना लोकसंगीत की मुख्य प्रवृति है। जीवन के नैसर्गिक संबंध का जितना वास्तविक परिचय लोक संगीत से मिलता है उतना अन्य विधाओं से नहीं। लोक गीतों की धुनें प्रायः अशिक्षित एवं गाँव में रहने वाले भोले-भाले लोगों की धड़कनों की दर्शाती हैं।

लोक वाद्यों का विश्व के प्रत्येक क्षेत्र के निवासियों की सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के अन्तर्गत धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक जीवन से निकट का संबंध रहा है। प्राचीन युग से ही संगीत वाद्यों का न केवल संगीत के कलात्मक रूप से ही लगाव रहा है अपितु उनका अभिव्यंजनात्मक एवं प्रतीकात्मक रूप जीवन के प्रत्येक पहलू का स्पर्श करता दिखाई देता है। वास्तव में वाद्य भारतीय संगीत एवं संस्कृति के अभिन्न अंग बन गये हैं। जाने अंजाने वाद्यों ने वह महत्व प्राप्त कर लिया है जिसके कारण संगीत, वाद्यों पर आधारित हैं। अपितु हमारी संस्कृति भी संगीत वाद्यों को अलग कर जीवित नहीं रह सकती। भारत में वाद्य चाहे राष्ट्रीय स्तर का हो या किसी क्षेत्र विशेष का, वह इस क्षेत्र अथवा राष्ट्र की प्राकृतिक

स्थिति, सांस्कृतिक गतिविधि एवं सभ्यता पर सीधा प्रकाश डालता है। वाद्यों के विषय में विद्वानों ने कहा है कि—वाद्य एक ऐसा उपकरण है जो संगीतात्मक ध्वनि तथा उसकी गति का हमें बोध कराता है।[19]

सामाजिक जीवन में कलाओं का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है तथा सभी कलाओं में संगीत कला को विशेष स्थान दिया गया है। संगीत भी अनेकों प्रकार का है तथा ताल ही एक ऐसा माध्यम माना गया है जिससे संगीत के सही रूप का अनुमान लगाया जाता है। कहने का अभिप्राय है कि ताल को बजाने के प्रकार संगीत का अर्थ समझा देते हैं। उदाहरण के लिये जैसे—यदि कहरवा ताल द्रुत लय में बजायी जाय तो वह चंचल प्रकृति का संगीत माना जायेगा साथ ही वह सुख अथवा खुशी का प्रतीक है। यदि यही ताल मध्य लय में बजायी जाये तो वह राग, गजल आदि का अनुमान देती है। इस प्रकार संगीत चाहे कोई भी हो लेकिन वाद्यों के अभाव में अपूर्ण है।[20] इसलिये वाद्य भी संगीत का मुख्य अंग है और इसकी महिमा भी अलग है। वाद्य-संगीत में संगीत के मूलतत्व स्वर तथा लय के द्वारा बिना किसी अन्य कला की सहायता से श्रोताओं को मधुमती भूमिका तक ले जाकर उसमें घंटों रमाये रखने की क्षमता है[21] संगीत के द्वारा उत्कृष्ट अभिव्यंजना का जितना अधिक विस्तार वाद्य संगीत में संभव है उतना गान एवं नृत्य में नहीं है।

अनेकों विद्वानों ने वाद्य शब्द को बहुत ही व्यापक रूप दिया है। उनके अनुसार—वाद्य वृंद का अर्थ है विविध वाद्यों, विविध नाद धर्मों को संकलित कर उसका एक सांगीतिक रसायन तैयार कर उसके द्वारा एक नाद चित्र खड़ा करने वाले वाद्यों और वादकों का समूह गीत को सजाने, गाने और नाटक की पार्श्वभूमि तैयार करने और विषयानुरूप संगीत का निर्माण करने के लिये वाद्य-वृंद का उपयोग प्रचलित है—''वाद्य-वृंद द्वारा केवल कुछ वाद्यों का उपयोग कर वर्षा ऋतु का आभास अथवा 'मूड' विशेष भी तैयार किया जा सकता

---

19. डा० सूरत ठाकुर – **हिमाचल के लोक वाद्य** – 1996, पृ०सं० 66-67
20. वंदना कल्ला – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर 1993, पृ०सं० 14
21. डा० लालमणि मिश्र – **भारतीय संगीत वाद्य** – 1973, पृ०सं० 11

है।"[22]

पुरातत्व विभाग की खोज से मोहनजोदड़ों, हड़प्पा के उत्खनन में विभिन्न आकृति वाले वाद्य, आदिम वीणा तथा नृत्य मुद्रा में धातु की मूर्ति प्राप्त हुई है, जिससे 5000 पूर्व प्रचलित रहे संगीत वाद्यों का परिचय मिलता है। भारतीय संगीत के वैदिक काल में वेणु पिच्छौला कश्यपी वीणा तथा दुन्दुभि जैसे वाद्यों का प्रचलन था। वैदिक काल ब्राह्मण ग्रंथों में संगीत की एक सुव्यवस्थित रूपरेखा का परिचय मिलता है। सरजॉन मैलकमेन ने फारस के संगीत को भारतीय संगीत से ही उद्भूत माना है।[23]

नृत्य और कण्ठ-संगीत के अतिरिक्त नाट्य कला के लिये भी वाद्य संगीत का होना अत्यंत आवश्यक होता है। यदि वाद्य संगीत का सहयोग नाटक को न मिले तो वह निर्जीव-सा प्रतीत होगा। नाटक को सजीव तथा शुभ फलदायक बनाने के लिये ही महर्षि भरत ने नाटक में वाद्य का विधान आवश्यक माना है। उनका कहना है कि कोई ऐसा वाद्य नहीं जो नाटक के दस भेदों में प्रयुक्त न हो सके, किन्तु नाटक के रस भाव को देखते हुये ही उनका उपयोग करना चाहिये। गीत वाद्य की महत्ता का वर्णन करते हुये महर्षि भरत ने ईश्वर प्राप्ति के निमित्त किये गये स्थान, जप आदि से इन्हें सहस्त्र गुना अधिक पवित्र माना है—

श्रुतं मयादेवदेवात् तत्वतः शंकराद्वितम् ।
स्नान जप्यसहस्त्रेभ्यः पवित्रं गीतवादिकम् ॥[24]

रामायण काल में और महाभारत काल में विपंची मत्तकोकिला वीणा, पटह, मृदंग, डिमडिम, तुम्ब, कच्छपी, वीणा, गोमुख, भेरी, पणव, पुष्कर जैसे वाद्य प्रचलित थे। इस युग में संगीत सभाओं का आयोजन होता था व सभी नाटकों और संस्कारों के अवसर पर गीत के साथ वाद्यों को बजाया जाता था। इन वाद्यों का वादन हृदय में उत्साह पैदा करके एक विशिष्ट स्फूर्ति भर देता था।

---

22. दीपक श्रीराम भाँडे— **संगीत कला विहार** — अगस्त 1978, पृ०सं० 372-373
23. वंदना कल्ला — **संगीत (पत्रिका)** — अक्टूबर 1993, पृ०सं० 14
24. डा० लालमणि मिश्र — **भारतीय संगीत वाद्य** — 1973, पृ०सं० 12

भारतीय वैदिक संगीत व रामायण कालीन संगीत के इतिहास को देखकर यह कहने में कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी कि हजारों वर्ष पूर्व भी भारतीय संगीत परिष्कृत हो चुका था व वाद्यों का स्वरूप भी काफी हद तक निखर चुका था।[25]

संगीत के अपूर्व आकर्षण का वर्णन करते हुये रामामात्य ने लिखा है—"गोपी पति (भगवान कृष्ण) जो अनंत हैं, वे भी ध्वनि के वशीभूत हैं। ब्रह्मा जी सामगीत-रत हैं अर्थात् उन्हें सामगान अतिप्रिय है। सरस्वती देवी वीणा पर आसक्त हैं फिर इतर यक्ष, गंधर्व, देव-दानव तथा मनुष्यों की तो बात ही क्या?"[26]

भरत एवं नारद ने भी अपने ग्रंथों में वाद्यों के आवश्यक तत्वों का वर्णन किया है। भरत के नाट्य शास्त्र के अट्ठाइसवें तथा तैंतीसवे अध्याय में जो विस्तृत विवेचन मिलता है उससे संगीत के स्तर, वाद्यों के ढाँचों, बनावट व शैली में एक अद्भुत-प्रगति का पता चलता है।

भरत के पश्चात् पाँचवी से सातवीं शताब्दी के बीच मतंग द्वारा वीणा की सारिकाओं की सुस्पष्ट स्थापना सातवीं शती में दत्तिल, बारहवीं में लोचन, तेरहवीं में शारंगदेव जैसे महान संगीतज्ञों ने अपने ग्रंथों में वाद्यों व तालों का कई जगह वर्णन किया है तथा संगीत को और भी समृद्ध बनाया है।

साहित्य संगीत कला विहीनः।
साक्षात पशु पुच्छ विषाण हीनः।।[27]

संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान एवं विचारक श्री भृर्तहरि का उपरोक्त विचार आज भी उतना ही सत्य है, जितना आज से तीन सौ वर्ष पूर्व रहा होगा। आचार्य भर्तृहरि ने मनुष्य के लक्षणों की ओर इङ्गित करते हुये, साहित्य, संगीत व कला से विहीन मनुष्य को पशु की श्रेणी में रखा है।

---

25. वंदना कल्ला — **संगीत (पत्रिका)** — अक्टूबर 1993, पृ०सं० 15
26. डा० लालमणि मिश्र — **भारतीय संगीत वाद्य** — 1973, पृ०सं० 8
27. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव—**ताल परिचय—भाग-2** (नवीन संस्करण) 2001 - पृ०सं० 133

सृष्टि की समस्त वस्तुओं को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। एक जड़ व दूसरा चेतन। चेतन के अन्तर्गत मनुष्य व पशु ये दो प्रकार के जीव आते हैं। मनुष्य को सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा गया है यदि विचार किया जाये कि क्या मनुष्य के लिये हाथ, पैर, आँख, नाक, कान आदि का होना ही पर्याप्त है या इसके अतिरिक्त भी उसकी अस्मिता के लिये कुछ अन्य गुण भी होना आवश्यक है? इन्हीं आवश्यक गुणों की ओर संकेत करते हुये इस विद्वान ने 'साहित्य संगीत कला विहीनः' का उल्लेख किया है। उन्होंने मनुष्य को मानव के रूप में अपनी पहचान बनाये रखने के लिये साहित्य, संगीत और कला इन तीनों गुणों से परिपूर्ण होना अनिवार्य कहा है। मनुष्य की पहचान उसकी प्रगति का प्रतीक है[28] व उसकी चेतना उसके साहित्य और संगीत कला की प्रवीणता से है। वह व्यक्ति ही क्या जिसमें कला का गुण न हो। जीवन तो एक पशु भी जीता है, परंतु उसका जीवन मनुष्य के जीवन से कितना भिन्न होता है, क्योंकि उसमें साहित्य, संगीत और कला का अभाव होता है।

अतः हम भृर्तहरि की पंक्तियों की सत्यता की पुष्टि करते हुये निःसंकोच कह सकते है कि साहित्य, संगीत और कला से विहीन मनुष्य पूँछ व सींग विहीन पशु के समान होता है।

आदिमानव प्रकृति के अधिक समीप था। वह प्रकृति की गोद में स्वच्छन्द वातावरण में विचरण करते हुए जब साँय-साँय करती ठंडी, शीतल बयार, कल-कल, छल-छल करती नदियों का मधुर नाद एवं पशु-पक्षियों के संगीत से ही प्रेरित होकर आदिमानव ने संगीत वाद्यों का निर्माण किया है। इसकी पुष्टि संगीत वाद्यों के जन्म के संबंध में प्रचलित धारणाओं से भी होती है। संगीत वाद्य मधुरता मातृभाव तथा प्रेम का संदेश देते आये हैं, यही कारण है कि विद्वानों ने धर्म से भी संगीत वाद्यों का संबंध बताया है।

मानव जब खुश होता है तो अपनी खुशी प्रकट करने के लिये वह उछलता है कूदता

---

28. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव–ताल परिचय–भाग-2 (नवीन संस्करण) 2001 - पृ०सं० 134

है जिसे नृत्य कहते हैं, उसमें रस पैदा करने व लय को व्यवस्थित रखने हेतु लोकवाद्यों का निर्माण संभव है। आदि मानव का नृत्य तो भाव की अपेक्षा लय प्रधान अधिक था, जिसके साथ ताल देने एवं कालमापन के लिये चर्म वाद्यों का निर्माण हुआ। नृत्य के साधन रूप से ही घुँघरु आदि घन वाद्यों ने भी जन्म लिया।[29]

भारतीय वाद्य भी संगीतानुसार अनेक रूप में बनाये गये। पं० लालमणि मिश्र ने भारतीय वाद्यों के छह वर्ग निर्धारित किये हैं—तत, वितत, अवनद्ध, घन, सुषिर तथा तरंग।

तत, वितत वाद्यों में तार वाले वाद्य जैसे—सारंगी, सितार, वायलिन, गिटार, तानपूरा, वीणा, इकतारा, कामाइचा, इसराज आदि को स्थान दिया गया है। सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत बाँसुरी, नफीरी, शहनाई, शंख, हारमोनियम, तुरही, सिंगी आदि वाद्य रखे गये हैं। इसी प्रकार अवनद्ध वाद्य के अन्तर्गत खाल द्वारा मढ़े गये वाद्य जैसे कि—तबला, मृदंग, नगाड़ा, ढोल, ढपली, डमरू, ताशा, ढोलक, चंग आदि। घन वाद्य अथवा तरंग वाद्यों को जिन वाद्यों में विभाजित किया गया है उनके नाम हैं—जलतरंग, करताल, घण्टा, मंजीरा, पियानों, संतूर, झाँझ इत्यादि।

वाद्यों के संबंध में वैज्ञानिक व ऐतिहासिक रूप से कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है फिर भी प्रागैतिहासिक कालीन पिछड़ी जातियों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके गायन-वादन में वाद्य परंपरा विशेष रूप से रही होगी।

हमारे भारतीय वाद्यों की इस परंपरा वर्गीकरण का यही क्रम भारतीय संगीत में रहा है। वाद्यों में निरंतर परिवर्तन, संशोधन, नये वाद्यों का निर्माण और नई वादन शैलियों के प्रचलन के साथ ही यह वाद्यों के वर्गीकरण व परंपरा का क्रम निरंतर इसी तरह चलता रहेगा।

इस प्रकार ताल का घर वाद्य है और ताल से या लय से समस्त ब्रह्माण्ड बँधा है।

---

29. डा० सूरत ठाकुर – हिमाचल के लोक वाद्य (प्रथम संस्करण) – 1993, पृ०सं० 16

संगीत की एक परिभाषा इस प्रकार भी दी गयी है—संगीत में सौंदर्य का आधार स्वर है। स्वर का मूल नाद या ध्वनि है।[30]

कुछ ध्वनियाँ स्वभावतः मधुर होती हैं और उनका चित्तद्रावक प्रभाव होता है। स्वर संगीत की वर्णमाला है जिनके विविध विन्यास से 'जन चित्त का रंजक' राग उत्पन्न होता है।[31]

इस प्रकार सौंदर्य-ग्रहण मानव की एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता बन जाता है। कारण है कि मानव जन्म से ही सुख-निष्ट है और संगीत उसकी इस निष्ठता में सहयोग करता है तो स्मृतियाँ, चिंता, उद्वेग, मानसिक तनाव, आवेग तथा जटिल भावना, ग्रंथियाँ जीवन को नीरस तथा जड़ बना देती हैं। कलायें तथा विशेष रूप से संगीत जीवन में स्वाभाविक प्रवाह ला देता है। अतः संगीत सामाजिक जीवन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का एक उपादान है और व्यक्तिगत जीवन का सुख बोध है। अतः श्रोता स्वयं संगीत बनकर संगीत का रसास्वादन करता है। तब तो उसके जीवन में संगीत की लय, इसका उन्मुक्त प्रवाह, नाद का माधुर्य और द्रावकता आदि उदय होकर संगीत के सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करते हैं।[32]

आज संपूर्ण देश में भाषा क्षेत्र, वर्ग, संप्रदाय, जाति, धर्म आदि को लेकर अलगाव की विभीषिका धधक रही है। ऐसे में भारत सरकार द्वारा आकाशवाणी तथा दूरदर्शन केन्द्रों से राष्ट्रीय एकता एवं देश-प्रेम के गीतों का प्रसारण, एन०सी०आर०टी० द्वारा देशभक्ति के गीतों का प्रशिक्षण, संगीत नाटक अकादमियों द्वारा सांस्कृतिक आदान-प्रदान के नाम पर संगीत-नृत्य-नाटकों का आयोजन, मानव संसाधन मंत्रालय द्वारा सांस्कृतिक केन्द्रों की स्थापना कर भारतीय संस्कृति एवं कलाओं को संरक्षण प्रदान करने का प्रयत्न करना, विदेशों में लोकोत्सव आयोजित कर भारतीय कला कौशल का गौरव स्थापित करना राष्ट्रीय एकता के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों के सूत्रधार कहे जा सकते हैं। इन प्रयत्नों में संगीत

---

30. श्रीमती आशा पंत संगीत (पत्रिका) – 1989 मार्च, पृ०सं० 15
31. श्रीमती आशा पंत संगीत (पत्रिका) – 1989 मार्च, पृ०सं० 14
32 वही– पृ० सं० 15

का योगदान सर्वोपरि है।[33]

संगीत संवेदना जन्य अभिव्यक्ति है यदि राष्ट्रीय संवेदना देशवासियों के हृदय में जाग्रत हो जाये तो देश की समस्त समस्याओं का हल शीघ्र संभव हो सकता है। इसके लिये देशवासियों के हृदय में बसे उस संगीत को प्रयुक्त करना होगा जो देश में सर्वत्र व्याप्त है तथा संपूर्ण देश जिस संगीत को बिना किसी हिचक और भेदभाव के अपनाता आ रहा है।[34]

एक सर्वश्रेष्ठ वादक द्वारा संपूर्ण विधियों से किये गये मुक्त मुरली वादन का क्या प्रभाव पड़ा इससे पता चलता है–

मुरहर रंधन समये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्।
नीरस मेघो रसताकृशानुरप्येति कशतरताम् ॥[35]

अर्थात–हे मुरारे! भला भोजन बनाते समय तो कृपा कर मुरली की तान न छेड़ा करो। देखो तुम्हारी मुरली की ध्वनि से मेरा सूखा ईंधन रसयुक्त होकर रस बहाने लगता है, जिससे चूल्हे की अग्नि बुझ जाती है।

इस देश के संगीत में राग ताल और भाव को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। भारत में प्रचलित संगीत जाति भेद नहीं करता। कर्नाटक या हिंदुस्तानी संगीत के मूल तत्व और प्रयोजन भिन्न नहीं हैं। सिक्खों के अलग राग ताल नहीं हैं उसी प्रकार निर्गुण भक्ति या सगुण भक्ति का संगीत समस्त राग, ताल में निबद्ध है। राग का अभिप्राय उस व्यवस्था से है जो स्वरों को आरोहावरोहात्मक क्रम से संजोती है। स्वर-संवाद स्वर-माधुर्य की पहली शर्त है। विश्व के समस्त संगीत में राग मेलॉडी तथा स्वर-संवाद (हारमनी) को स्वीकार किया गया है। इन्हीं स्वर-संवादों से उत्पन्न स्वरावलियों को नियमबद्ध कर राग-रचना की जाती है, जिसे संपूर्ण धर्म, संप्रदाय वर्ग एवं राष्ट्र के लोग सांगीतिक ध्वनियों के रूप में स्वीकार करते हैं।[36]

---

33. डा० मुरारी शर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – मई 1988, पृ० सं० 50
34. वही – पृ० सं० 50
35. भैरों प्रसाद श्रीवास्तव – **संगीत कला विहार (पत्रिका)** – 1969 जनवरी पृ०सं० 584
36. डा० मुरारी शर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – मई 1988, पृ० सं० 50

आदर्श और यथार्थ में अभेद दृष्टि की मान्यता ने ही भारतीय संगीत को वह गौरव प्रदान किया है, जो विश्व के अन्य किसी भी संगीत को उपलब्ध नहीं। इसकी प्रत्यभिज्ञा तो भारतीय संगीत के श्रोताओं को इनकी प्रणाली से ही हो जायेगी। यदि कोई जिज्ञासा न करे। भारतीय संगीत के सप्त स्वरों का अविष्कार विश्व का महान आश्चर्य है और इन स्वरों से निर्मित राग-रागनियाँ तो अन्यत्र उपलब्ध ही नहीं। भारतीय संगीत के जादू को कौन नहीं जानता? बीन के स्वरों पर नाग का नर्तन, वीणा के स्वरों पर मृगों का सम्मोहन, वेदों के सामगान पर देवताओं का रीझना आदि तमाम आश्चर्य क्या मात्र कपोल कल्पना ही है?[37]

राग का अभिप्राय उस व्यवस्था से है जो स्वरों को आरोहावरोहात्मक क्रम में संजोती है। स्वर-संवाद, स्वर-माधुर्य की पहली शर्त है विश्व के समस्त संगीत में राग मेलॉडी तथा स्वर-संवाद (हारमनी) को स्वीकार किया गया है। इन्हीं स्वर-संवादों से उत्पन्न स्वरावलियों को नियमबद्ध कर राग-रचना की जाती है, जिसे संपूर्ण धर्म संप्रदाय वर्ग एवं राष्ट्र के लोग सांगीतिक ध्वनियों के रूप में स्वीकार करते हैं।[38]

भारतीय संगीत का दूसरा आधार ताल है जो दक्षिण में 'जाति' तथा उत्तर में 'लयकारी' के नाम से प्रदर्शित किया जाता है। ताल का आधार गति है जो प्रकृति प्रदत्त नियमों पर निर्भर है। संपूर्ण देश में तालगत सामीप्य रागात्मकता से कहीं अधिक देखने को मिलता है।[39] ताल की सत्ता को देश के संपूर्ण संगीत ने समान रूप से स्वीकार किया है। भारतीय नृत्य-कला का आधार भी ताल ही है। नृत्य कला के आधार अंग, प्रत्यंग, लय-विस्तार करण, हाव-भाव मुद्रायें एवं भंगिमाएं किसी व्यक्ति, समाज, क्षेत्र, जाति-संप्रदाय आदि की देन नहीं समझी जातीं, बल्कि उनका निर्धारण मानव की संपूर्ण चेष्टाओं व क्षमताओं को ध्यान में रखकर किया गया है।

विद्वानों के कथनानुसार स्वर और लय संगीत विद्या के दो पैर हैं, एक के भी अभाव

---

37. रामानंद द्विवेदी आनंद – **संगीत (पत्रिका)** – 1977 अगस्त, पृ०सं० 13
38. डा० मुरारी शर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – मई 1988, पृ०सं० 50
39. वही – पृ०सं० 51

में वह लंगड़ी रहती है। इस कथन पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि वास्तव में संगीत के अभिन्न अंग ताल की उत्पत्ति के कारण ही राग का प्रथम गुण है। अतः ताल का योग जो रंजकता की वृद्धि करता है, भुलाया नहीं जा सकता।

गीत, वाद्य और नृत्य मिलकर 'संगीत' कहलाते हैं। इन तीनों को समन्वित रूप में एक 'आधार' देना 'ताल' का काम है। 'ताल' संगीत का 'आसन' है, जिस पर गीत, वाद्य और नृत्य प्रतिष्ठित या टिके रहते हैं।[40] प्रत्येक गति में एक लय है प्रत्येक वस्तु के उत्पन्न होते ही उसमें एक ताल का सम्मिश्रण हो जाता है और जब वही काल अथवा समय बराबर चलता है तो हम उसी को लय कह देते हैं। इसी भाँति स्वर की उत्पत्ति के साथ ही उसके काल अथवा लय की उत्पत्ति भी हो जाती है और यही लय उस स्वर को अपने बंधन में बाँधकर उसे परिमार्जित कर देती है। तत्पश्चात् उसी लय के द्वारा उसी समान चाल के द्वारा ही स्वर में बल एवं माधुर्य उत्पन्न होने लगता है। स्वर का दुगुना आनंद आने लगता है। स्वयं स्वर का और साथ ही विभिन्न लयों में बँधकर तो स्वर और भी निखरता है। विलम्बित लय में स्वर झूलता है। मध्य लय में स्वर में स्थिरता आती है और द्रुत लय में स्वर में थिरकन आ जाती है। लय जहाँ स्वर को सुसज्जित करके संगीत के क्षेत्र में प्रवेश कराती है वहाँ साथ ही अपने आपको एक चक्र में बाँध लेती है, और मापक यंत्र का रूप धारण कर लेती है जिसे हम ताल कहते हैं। लय से मात्रा तथा मात्रा से ताल बनती है।[41]

बिना ताल के यदि केवल लय चलती रहे तो संभव है कि उसके लगातार चलने से श्रोता ऊब जायें। अतः लय को संगीतोपयोगी बनाने के लिये रंजकता प्रदान करने हेतु एक निश्चित चक्र में बाँध देते हैं। उस मापक यंत्र का नाम संगीतज्ञों ने 'ताल' दिया है।

स्वर यदि रस का सागर है, तो लय उसकी मथानी है राग यदि रंजकता का अगम पारावार है, तो ताल उसका आधार यंत्र। स्वर जहाँ चाहे वहाँ नहीं जा सकता। वह लय के बंधन में है, उससे बँधकर ही उसे चलना होगा। तभी वह रस उत्पन्न कर सकेगा और

---

40. श्रीमती सुमित्रा आनंद पाल सिंह – **संगीत (पत्रिका)** – 1965, जन०-फर०, पृ०सं० 21

41. चित्रा गुप्ता– **संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता**– 1992 पृ०सं० 24

फिर एक स्वर यदि सदा एक ही लय से चले तो उसमें विभिन्नता नहीं आ सकती, लय की विभिन्नता ही स्वर में विभिन्न चालें उत्पन्न कर सकती हैं। इसी प्रकार शब्द, स्वर, लय और ताल मिलकर संगीत में रस की उत्पत्ति करते हैं साहित्य में छंद की विविधता और संगीत में ताल व लय के सामंजस्य द्वारा विभिन्न रसों की सृष्टि की जाती है। ताल-विहीन संगीत नासिका-विहीन मुख की तरह बताया गया है। ताल से अनुशासित होकर ही संगीत विभिन्न भाव और रसों को उत्पन्न कर पाता है। ताल की गतियाँ स्वरों की सहायता के बिना भी रस-निष्पत्ति में सक्षम होती हैं।[42]

कार्य तथा विश्राम दोनों ही एक-दूसरे के समर्थक तथा पोषक हैं। जीवन के प्रत्येक पहलू में दोनों का नियमबद्ध संचालन ही मनुष्य को सफलता प्राप्त करने में सहायता करता है। स्वर को उत्पन्न करना और गति प्रदान करना, तत्पश्चात् उचित समय पर विश्रांति देना ही एक मात्र कार्य राग में रंजकता उत्पन्न करने का साधन है, परंतु इस महान व असीमित राग को बंधन में बाँधना ही एक कठिन कार्य है। इसके लिये लय, मात्रा, काल एवं विशेष मापदण्ड ताल की आवश्यकता है। ''लय के अपने आपको एक चक्र में बाँध लेने पर प्रबल तथा अबल ध्वनियों के रूप में गतिखण्ड बन जाते हैं। प्रबल तथा अबल ध्वनियों से युक्त लय खंडों का समूह ही भारतीय संगीत में ताल के रूप में प्रस्फुटित हुआ और यह ताल ही संगीत में लगने वाले समय को नापने का साधन बना, वस्तुतः गति से ही ताल का उद्भव हुआ।''[43]

स्वर की गति तथा विश्रांति यदि नियमबद्ध होकर चलती है तो स्वर में शिथिलता नहीं आती। विश्रांति के आगे के स्वरों को गाने की कल्पना की उत्पत्ति होती है और बाद में अन्य स्थानों में उसका प्राकट्य। यही नियम ताल की खाली व भरी में है। खाली के चिन्ह पर मूक आदेश होता है कि स्वर में शक्ति संचार करे और प्रदर्शन हेतु मार्ग निर्धारित करे। इस प्रकार कल्पना शक्ति जाग्रत होती है। बुद्धि सूक्ष्म होती है और इन्द्रियाँ सदैव

---

42. वसन्त– संगीत विशारद – अप्रैल, 1998, पृ०सं० 551
43. चित्रा गुप्ता– संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता– 1992 पृ०सं० 24

सतर्क रहती हैं। इस भाँति बुद्धियुक्त सतर्क कल्पना का संसार उत्पन्न होता है, जो अवश्य ही श्रोतागण को मोह लेता है। ''ताल के रथ पर स्वरों की सवारी सजा कर कुशल संगीतकार श्रोताओं को भाव विभोर कर देते हैं।[44]

इसीलिये ठुमरी, दादरा, ध्रुवपद, धमार, ख्याल, टप्पा और तराना इत्यादि संगीत के सभी प्रकार ताल व लय के आश्रित रहकर यथोचित प्रभाव डालने में समर्थ होते हैं। ध्रुपद की गंभीरता और ठुमरी की चपलता तालाश्रित न हो तो अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ सकता।

ताल की उत्पत्ति के संबंध में डॉक्टर शरदचन्द्र परांजपे ने लिखा है—''लय के जन्म के साथ ही उसको दर्शाने के लिये किसी क्रिया की आवश्यकता पड़ी और ताल का जन्म हुआ।''[45]

आजकल उत्तरी भारत में प्रचलित तालों को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जाता है। बड़ी तालें तथा आधी तालें। अद्धे के अन्तर्गत 'कहरवा' और 'दादरा' विशेष रूप से माने जाते हैं। किन्हीं अंशों तक रूपक ताल भी अद्धे के अन्तर्गत मानते हैं। कहरवे की चाल में तो बच्चे भी ताली बजा-बजा कर कूदने लगते हैं। बूढ़ों की कमर में भी जान आ जाती है तो नौजवानों की रसानुभूति के विषय में तो कुछ भी कहा जाये तो वह थोड़ा है। इस प्रकार की चलन में एक विशेष उल्लास की अनुभूति होती है। अंग-अंग नृत्य कर उठता है, हृदय कमल खिल उठता है। ये तालें श्रृंगारिक भावनाओं को उद्दीप्त करती हैं। मात्राओं की दृष्टि से ये तालें छोटी होती हैं तथा द्रुत लय में बजायी जाती हैं। कहरवा की चाल में तो एक अनोखा ही मन को छन्दोबद्ध कर लेने का प्रभाव होता है। कहरवा बजने पर बच्चे बूढ़े तथा नौजवान सभी एक विशिष्ट प्रकार की रसानुभूति करते हैं।[46] कहने का तात्पर्य है कि जिस ताल अध्याय का मनीषियों द्वारा प्रतिपादन किया गया है उसमें व्यक्तिगत भावनाओं का मनोवैज्ञानिक आधार पर अध्ययन करके गणित द्वारा प्रतिपादित किया गया है, चाहे उसका प्रदर्शन राग के द्वारा हो अथवा व्रत या नृत्य के द्वारा परिणाम स्वरूप वह सदैव रसानुभूति में वृद्धि करेगा।

---

44. वसन्त– **संगीत विशारद** – अप्रैल, 1998, पृ०सं० 553

45. चित्रा गुप्ता– **संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता**– 1992 पृ०सं० 24

46. चित्रा गुप्ता– **संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता**– 1992 पृ०सं० 32

लय और ताल के द्वारा समग्र प्रकृति की व्यवस्था का लघु चित्रण किया जा सकता है। प्राचीन काल में रंगमंच पर जब कोई नाटक खेला जाता था तो अकेला तबला-वादक दृश्य या दर्शक और अभिनेता के अभिनय के अनुसार दाँयें-बाँयें तबले पर आघातों द्वारा प्रत्येक भाव व रस को सफलता के साथ प्रदर्शित कर दिया करता था। नायक-नायिका की अवस्था, आँधी-तूफान और अग्नि-प्रभाव, विदूषक की क्रीड़ायें, युद्ध का कोलाहल, राजा, चोर, देव-दानवों का प्रादुर्भाव, हास्य-रुदन सभी कुछ ढोल, नक्कारा या तबला-वादक की कुशलता से सजीव कर दिये जाते थे। उनका तबला बजता नहीं था बल्कि बोलता था। जिस प्रकार बच्चे को लोरी गाकर झुलाया जाता है और लययुक्त थपकी देकर सुलाया जाता है, उसी प्रकार एक श्रेष्ठ वादक श्रोताओं को झुमाता हुआ, उन्हें ब्रह्मानंद सहोदर आनंद के गोते लगवाता है।[47]

ताल के आघात रक्त में कम्पन्न उत्पन्न करते हैं। वे कंपन मस्तिष्क में संवेदनाओं के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। रक्त का प्राण से और प्राण का मन से परस्पर घनिष्ठ संबंध है जो रक्त में घटता है। उसका सीधा प्रभाव प्राण और मन पर पड़ता है और जो मन पर घटता है उसका प्रभाव रक्त तथा प्राण पर पड़ता है। इस प्रकार ताल और लय की गतियाँ रक्त संचार करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।[48] यदि यह कहा जाये कि मनुष्य का जीवन ताल का ही एक अंग है तो गलत न होगा।

अंत में यही निष्कर्ष लिया जाना आवश्यक हो गया है कि गति ही प्रकृति की सारी क्रियाओं का आधार है। सामाजिक जीवन में संगीत पग-पग पर समाज का इसी कारण साथी है क्योंकि वह समाज के साथ आनंद में प्रफुल्लित होता है तथा दुख में दुख उठाता है। दोनों विरोधी परिस्थितियों को समयानुकूल उत्पन्न करने की शक्ति राग के समक्ष ताल को भी है। जिस प्रकार निर्गुण निराकार ब्रह्मलीला करने हेतु माया पर आश्रित होता है उसी

---

47. वसन्त– **संगीत विशारद** – 22वाँ संस्करण अप्रैल, 1998, पृ०सं० 558

48. वसन्त– **संगीत विशारद** – 22वाँ संस्करण अप्रैल, 1998, पृ०सं० 557

प्रकार स्वर की लीला हेतु ताल का आश्रय लेना पड़ता है। प्राचीन काल से आधुनिक काल तक का संगीत का अपूर्व आकर्षण ही है जिसके फलस्वरूप मानव तो क्या देवी-देवताओं के साथ भी कोई-न-कोई वाद्य अवलोकित होता है। चूँकि ताल के बिना संगीत अधूरा है, अपूर्ण व अरुचिकर है उसी प्रकार समाज भी एक गति, लय तथा ताल पर आश्रित है।

-x-x-x-x-x-x-x-x-

द्वितीय अध्याय

ताल संबंधी भारतीय और पाश्चात्य अवधारणाएं

1. भारतीय अवधारणाएं
2. पाश्चात्य अवधारणाएं

ताल सम्बंधी भारतीय अवधारणाएं

शब्द, स्वर, लय और ताल मिलकर रसों की उत्पत्ति करते हैं। साहित्य में छंद की विविधता और संगीत में ताल और लय के सामंजस्य द्वारा विभिन्न रसों की सृष्टि की जाती है। भारतीय संगीत में ताल व स्वर दोनों ही कलाओं को बराबर का दर्जा दिया गया है। ताल से अनुशासित होकर ही संगीत विभिन्न भाव और रसों को उत्पन्न कर पाता है। ताल की गतियाँ स्वरों की सहायता के बिना भी रस-निष्पति में सक्षम होती हैं।

साहित्य में नौ रसों का उल्लेख किया गया है– 1. शृंगार, 2. करुण, 3. वीर, 4. भयानक, 5. हास्य 6. रौद्र, 7. वीभत्स, 8. अद्भुत तथा 9. शांत रस। नाट्य में ''शांत'' को अलग न मानते हुये आठ रसों का प्रतिपादन किया गया है। संगीत में शृंगार, वीर, करुण और शांत इन चार रसों में अन्य समस्त रसों का समावेश माना गया है। ताल और लय को भी रसों से संबंधित माना गया है यथा–

लया हास्य शृंगार यो मध्यमाः।
वीभत्स भयानक यो विलम्बितः ॥
वीररौद्राद्भुतेषु च द्रुत।[1]

मध्य लय हास्य एवं शृंगार रसों की पोषक है। विलम्बित लय वीभत्स और भयानक रसों की पोषक है तथा द्रुतलय–वीर रौद्र एवं अद्भुत रसों की पोषक है। हमारी संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें मानव-जीवन के आध्यात्मिक पक्ष पर यथोचित ध्यान देते हुये भी अधिभौतिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की गयी है। जहाँ नादयोग के रूप में संगीत को भगवत्-प्राप्ति का साधन माना गया है वहाँ रसराज शृंगार को भी इस कला में कम महत्व नहीं दिया गया। ''कला कला के लिये''–इस दृष्टिकोण से किसी भी कला के लिये यह जरूरी है कि उससे मानव हृदय में स्थित स्थायी भाव जगें और उन भावों से

---

1. वसन्त– संगीत विशारद – 1991, पृ०सं० 414

तत्संबंधी रस की उत्पत्ति हो तभी मनुष्य आनंद की अनुभूति कर सकता है। इसी को सौंदर्य-बोध कहते हैं।[2] संगीत द्वारा भावाभिव्यक्ति स्वरों के माध्यम से अर्थाभिव्यक्ति है। संगीत अपने मूल रूप में स्वर योजना है जिसका निबन्धन नाद, लय, गति, ताल, पद आदि के सहारे होता है। स्वर विन्यास तथा स्वर-सामंजस्य के द्वारा ही संगीत में **'श्रव्यात्मक रूप'** का निर्माण होता है, जिसमें संगीत-विशेष प्रयोजनीय रहती है। पंतजलि के अनुसार—**'स्वर'** वे हैं जो स्वयं शोभित हैं।

''स्वयं राजन्ते इति स्वराः।''[3]

शारंगदेव ने इसी का पल्लवन करते हुये लिखा है—

''स्वतो रंजयति श्रोतृं चित्तसं स्वर उच्चये।''[4]

अर्थात जो अपने सहज स्वरूप से ही श्रोता के चित्त का अनुरंजन करता है उसे स्वर कहते हैं।

ओम्कार नाथ ठाकुर ध्वनि की मधुरता तथा कर्णप्रियता तथा काल की नियमित गति को ही स्वर और लय के रूप में संगीत की दो विशेषतायें मानते हुये लिखते हैं—''ध्वनि यदि कानों को सुनने में रंजक न लगे तो उसे हम संगीत के उपयुक्त नहीं मानते। इसी तरह यदि कोई नियमित गति न हो तो भी संगीत नहीं बन सकता। इन्हीं दोनों बातों को संगीत की भाषा में स्वर और लय कहते हैं व यही संगीत के दो मुख्य तत्व हैं।''[5]

काल क्रिया के मान अर्थात ''संगीत में समय के हिसाब को 'ताल' कहते हैं।'' ताल निश्चित मात्राओं की रचना होती है। मात्राओं की संख्या, क्रम, विभाग बदलकर अनेक तालों का निर्माण किया गया है। ''कविता में जो स्थान छंद का है वही ताल का संगीत में है। भारतीय संगीत की हिन्दुस्तानी तथा कर्नाटक, दोनों पद्धतियों में राग और ताल का समान महत्व है।''[6] विश्व के सभी देशों में संगीत में नाद तथा लय ये दो आधारभूत तत्व माने गये हैं। भारतीय संगीत में इन दोनों को संगीत-रूपी तराजू के दो पलड़े भी कहा गया

2. विनय चंद्र मौदगल्य – **संगीत (पत्रिका)**– 1977 पृ०सं० 22
3. वसन्त– **संगीत विशारद** – 1991, पृ०सं० 414
4. डा० कविता सूद– **संगीत (पत्रिका)** – 1990, जुलाई, पृ०सं० 3-4
5. वही पृ०सं० 4
6. विनयचंद्र मौद्गल्य – **संगीत (पत्रिका)**– 1977 दिसम्बर, पृ०सं० 23

है, अर्थात् दोनों को समान महत्व प्रदान किया गया है। कुछ संगीत ग्रंथों में स्वर को प्रथम तथा लय व ताल को द्वितीय स्थान पर रखा गया है। हमारे विचार से यह उचित नहीं, लय के व्यापकत्व से कौन अपरिचित है? समस्त जड़-चेतन प्रकृति, समस्त ब्रह्माण्ड ही लय से संचालित है।[7] जिस प्रकार हृदय की नियमित गति भंग अथवा समाप्त हो जाने से किसी भी प्राणी की इहलीला समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार हमारी पृथ्वी और उसके आसपास निश्चित गति से निरंतर घूमने वाले ग्रहों की गति समाप्त हो जाये, तो निश्चित ही प्रलय हो जायेगी। यह तथ्य मात्र अनुमान नहीं, अपितु ठोस प्रामाणिक वैज्ञानिक सत्य है। अतः जिस लय से संपूर्ण जगत नियंत्रित है, उसका मूल्यांकन उचित रुपेण करना होगा।[8]

भारतीय संगीत की एक प्रमुख विशेषता है–मर्यादा और स्वतंत्रता इन दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले तत्वों का सुंदर समन्वय जहाँ कलाकार के लिये राग या तान निश्चित स्वरों का बंधन है, वहाँ उन्हीं स्वरों में विभिन्न प्रकार के स्वर-संदर्भ, गमक, आलाप, तान बोल तान लेकर सौंदर्य निर्माण करने की अनुमति भी उसे प्राप्त है। इसी प्रकार ताल या निश्चित मात्राओं के बंधन में रहकर भी विभिन्न लयकारियों के उपयोग द्वारा पूर्ण संगीतकार विविधता तथा वैचित्र्य उत्पन्न करता है।[9]

रस और भाव की उत्पत्ति हेतु स्वर तो समर्थ होते ही हैं, परंतु लय और ताल के विविध रूप भी कम सक्षम नहीं होते। तबला या अन्य किसी ताल वाद्य से जब स्वरों का अनुगमन किया जाता है तो भावोटेक शीघ्रता से होता है। अति विलम्बित, मध्य, द्रुत तथा अतिद्रुत गतियों के द्वारा ताल के विभिन्न रूप अलग-अलग रसों को उत्पन्न करते हैं। विभिन्न लय-स्वरूपों का जन्म मानव-सभ्यता के दीर्घकालीन चिंतन का परिणाम है और समृद्ध संपत्ति का परिचायक है।[10] कुछ लोगों के विचारों में यह धारणा घर कर गयी है कि ताल-वाद्य एक स्वर में बोलने के नाते रसोद्‌भव करने में असमर्थ हैं, किन्तु सत्य ठीक इसके विपरीत दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि ताल-वाद्य एक निर्जीव यंत्र है, इन्हें सजीव करने में

---

7. श्रीमती शशि भारद्वाज – संगीत (पत्रिका) – 1990 मार्च, पृ०सं० 10
8. श्रीमती शशि भारद्वाज – संगीत (पत्रिका) – 1990 मार्च, पृ०सं० 10
9. विनय चंद्र मौदगल्य – संगीत (पत्रिका)– 1977 दिसंबर पृ०सं० 23
10. वसन्त– संगीत विशारद – 1991, पृ०सं० 416

किसी के संयोग की आवश्यकता पड़ती है। जब किसी चतुर प्राप्ति के द्वारा इन ताल-वाद्यों का साथ हो जाता है तो यही सब मनमानी ध्वनि प्रकट करने में सक्षम हो जाते हैं। कला पक्ष की सुंदरता की पृष्ठभूमि पर हम विवेकपूर्ण दृष्टिपात करें तो यह तथ्य साफ प्रकट हो जाता है। कलाकार जितना भावुक होगा उसके द्वारा प्रदर्शित कला उतनी प्रभावशाली सिद्ध होगी।[11] ताल-वाद्यों से रस प्रकट होते हैं, इसका उदाहरण भिन्न-भिन्न अवसरों पर ताल वाद्यों को सुनकर प्राप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार प्रसन्नता के आँसू और दुःख के आँसू एक स्थान से प्रवाहित होकर भी पृथक प्रभावकारी सिद्ध होते हैं, ठीक इसी प्रकार ताल वाद्य भी मन के द्वारा संचालित उँगलियों का साथ पाकर हास्य, करुण, श्रृंगार, रौद्र, वीर, वीभत्स आदि रसों का दिग्दर्शन करने लगते हैं।[12] संगीतात्मक ध्वनि की उत्पत्ति की प्रक्रिया में होने वाले नियमित कंपनों में भी काल की नियमित गति विद्यमान है, अतः स्वरोत्पत्ति में लय का विशिष्ट योगदान है। यदि यह कहा जाये कि—"लय के अभाव में स्वरोत्पत्ति संभव ही नहीं तो अतिश्योक्ति न होगी।"[13]

संगीत का सौंदर्य गमक में है और स्वरों का कंपन ही गमक है जो श्रोताओं के चित्त को प्रसन्न करता है। संगीत की इसी प्रसन्नता में सुख और आनंद मिलता है और यह आनंद रस पर अवलंबित है। यह आनंद वाह्य जगत के कलाकार के अन्तर्जगत में प्रवेश करता है और उसकी चेतना के मंत्र बल से एक तीसरा ही जगत बनकर प्रकाशित होता है। इस प्रक्रिया में कवि की चित्त शक्ति की वह विलक्षणता उसमें मिल जाती है जिसे छूकर चंचल जीवन का क्षणिक सौंदर्य स्थायी हो उठता है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में सभी कलाओं को एक ही पोथी में रखकर उन पर विचार किया है, और विचार का आधार रस है। कलाओं का विवेचन रसानुकूल है। उसमें बताया गया है कि वाद्य संगीत का उद्देश्य स्वरों की भाव-सृष्टि से पूरा होता है।[14] यही नहीं अपितु संगीतज्ञ स्वर और लय में भी रस की प्रतिष्ठा करते हैं। सातों स्वरों को एक रस का प्रतिष्ठापक कहा गया है।

---

11. राम शंकर, पागलदास (अयोध्या) — **संगीत कला विहार (पत्रिका)** —1966 दिसम्बर, पृ०सं० 481
12. राम शंकर, पागलदास (अयोध्या) — **संगीत कला विहार (पत्रिका)** —1966 दिसम्बर, पृ०सं० 481
13. श्रीमती शशि भारद्वाज — **संगीत पत्रिका** — 1990 मार्च, पृ०सं० 10
14. वसुधा कुलकर्णी — **भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान**, प्रथम संस्करण 1990, पृ०सं० 38-39

संसार का प्रत्येक व्यक्ति दीर्घ जीवन, सुख एवं यश का अभिलाषी है। ललित कलाओं के द्वारा उसकी इन अभिलाषाओं की किसी हद तक पूर्ति होती है। सत्, चित्त, और आनंद आत्मा का स्वरूप होने से ही विश्व में कलाओं का कोई विरोधी नहीं पाया जाता। तथापि कला का सृजन करना तथा उसका आनंद लेना, इन दोनों में पर्याप्त अंतर है। यही कारण है कि कला का आनंद तो सब लेते हैं परंतु सब कलाकार नहीं होते। व्यक्ति को कलाकार बनाने वाली उसकी सुसंस्कृत बुद्धि अथवा मन होता है। ये संस्कार उसके पूर्व जन्म के फलस्वरूप पैतृक-संपत्ति के रूप में अथवा वातावरण विशेष से प्राप्त कहे जा सकते हैं। बिना किसी आग्रह के किसी व्यक्ति का अनजाने में गुनगुनाना अथवा टेबल, कुर्सी, किवाड़ अथवा जमीन को उँगलियों से बजाना, उसकी आत्मा की स्वाभाविक रुचि को प्रकट करता है। इस गुनगुनाहट का समुन्नत स्वरूप ही 'गायन' तथा उँगलियों की खड़खड़ाहट का समुन्नत रूप 'ताल' है।[15] तात्पर्य यह है कि ताल का आत्मा से बहुत निकट का संबंध है। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, मन और बुद्धि संस्कारगत होने के कारण किसी की रुचि गायन में, किसी की वादन में और किसी की नृत्य में विशेष पायी जाती है। जिस व्यक्ति की आत्मा का आकर्षण जिस कला की ओर अधिक रहता है वह येन केन प्रकारेण प्राप्त करने के लिये सचेष्ट पाया जाता है। संगीत के 'ताल' अंग में हमारी आत्मा सुखानुभव करती है, रमती है। शास्त्रकार ताल को संगीत का व्याकरण कहते हैं।[16] ताल गायन, वादन तथा नृत्य की प्रतिष्ठा बढ़ाती है।

ताल के रथ पर स्वरों की सवारी सजाकर कुशल संगीतकार श्रोताओं को भाव-विभोर कर देते हैं, इसीलिये ठुमरी, दादरा, ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा और तराना इत्यादि संगीत के सभी प्रकार ताल और लय के आश्रित रहकर यथोचित प्रभाव डालने में समर्थ होते हैं।[17] ध्रुवपद की गंभीरता और ठुमरी की चपलता तालाश्रित न हो तो अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ सकता। अन्नामलाई विश्व-विद्यालय के अनुसंधान-विभाग में स्वरों के साथ-साथ ताल-वाद्यों

---

15. श्री प्यारेलाल, श्री भाल – संगीत कला विहार – 1959 अप्रैल, पृ०सं० 173
16. वही – पृ०सं० 173
17. वसन्त– संगीत विशारद – 1991, पृ०सं० 416

और नृत्य के पदाघातों से पौधों तथा खेतों पर अनेक सफल प्रयोग किये जा चुके हैं। जिनके द्वारा उत्पादन क्षमता में दुगुनी वृद्धि तक की गई।

विश्व संपूर्ण में भारतीय संगीत की आश्चर्यजनक रूप से बढ़ती हुई लोकप्रियता का मुख्य कारण है 'राग' और 'ताल'। भारतीय संगीत की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में भी यहूदी मेनुहिन जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त संगीतकार विशेष रूप से प्रभावित हैं। सन् 1931 में पहली बार भारत के मूर्धन्य गायक पं० ओंकार नाथ ठाकुर ने यूरोप के विभिन्न देशों का दौरा करके भारतीय संगीत का मान बढ़ाया।[18] यूरोप ही नहीं अमेरिका, एशिया तथा अन्य महाद्वीपों के देशों में अपने सितार वादन द्वारा भारतीय संगीत को लोकप्रिय बनाने में पं० रवि शंकर को अपूर्व सफलता प्राप्त है। जार्ज हैरीसन जैसा सुप्रसिद्ध बोटल–गायक भी उनका शिष्य बना। उनके बाद उ० अली अकबर खाँ, उ० विलायत खाँ, उ० अमीर खाँ, श्रीमती सुब्बलक्ष्मी डागरबंधु आदि अनेक कलाकार विदेशों में सुयश अर्जित कर चुके हैं।

भारतीय संगीत की यह विशेषता समझी जाती है कि वह व्यक्ति प्रधान है तथा कलाकार जो तत्काल कल्पना सृष्टि से श्रोताओं को चमत्कृत एवं आनंदित करता है, किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि ताल के आवर्तनों में उसकी कला का संयमन नीहित है। इस दृष्टि से भारतीय संगीत में ताल का पर्याप्त महत्व है। भारतीय संगीत में ताल इतना महत्वपूर्ण अंग है कि यदि यह कहा जाये कि–''संगीत भवन में ताल वह आधार स्तम्भ है जिसके खिसकने पर संपूर्ण भवन के क्षत-विक्षत हो जाने की संभावना है तो अतिश्योक्ति न होगी।''[19] अन्य देशों के संगीत में भी ताल का महत्व स्वीकार किया गया है। अंग्रेजी में ताल को Rhythm कहते हैं। निश्चित है कि यदि सब लोग गायन, वादन तथा नृत्य करने लगें और ताल अंग की और बिल्कुल ध्यान न दें, तो संगीत के सर्वांगीण विकास की आशा नहीं की जा सकती।[20]

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में संगीत का व्युत्पत्तिगत अर्थ–''सम्यक्गीतम्'' रहा है

---

18. विनय चंद्र मौदगल्य – संगीत (पत्रिका)– 1977 दिसंबर पृ०सं० 25
19. श्री प्यारेलाल, श्री भाल – संगीत कला विहार – 1959 अप्रैल, पृ०सं० 174
20. श्री प्यारेलाल, श्री भाल – संगीत कला विहार – 1959 अप्रैल, पृ०सं० 174

''वाराहोपनिषद्'' में कहा गया है—

''संगीत ताल लय वाद्यवंश गतापि,
मौलिस्थ कुम्भ परिरक्षण धीर्नटीव।''

अर्थात—संगीत में ताल, लय एवं वाद्य के वश में हुई नटी भी सिर पर स्थित घड़े की रक्षा में बुद्धि लगा देती है।

संगीत की जब 'सम्यक् गीतम्' के अनुसार व्यत्पत्ति करते हैं तो इसमें गीत, वाद्य तथा नृत्य का अभिन्न साहचर्य-सा प्रतीत होता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार—गीत, नाटक के प्रमुख अंगों में से अन्यतम है, तथा वादन और नृत्य इसके अनुगामी हैं। कालिदास के 'मेघदूत' में संगीत के उपादानों में गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों की आवश्यकता निर्दिष्ट है।

नाट्य-शास्त्र के अनुसार गान्धर्व के तत्वों को समाहित करने वाला नाट्यवेद स्वयं ब्रह्मा की रचना है। प्रायः सभी प्राचीन संगीत ग्रंथकारों ने अपना ग्रंथ प्रारंभ करने के पूर्व ब्रह्मा, सरस्वती तथा महेश्वर की वंदना इसी कारण से की है कि पौराणिक दृष्टि से संगीत का संबंध देवी-देवता से अविच्छिन्न रूप से माना जाता है।[21]

स्वर तथा लय संगीत के मूल तत्व हैं पद गौड तत्व। संगीत पारिभाषिक ज्ञान से परिचित रहने पर भी संगीत से आनंदानुभूति होती है, कारण कि संगीत द्वारा निश्चित अर्थ-युक्त भावात्मक रसानुभूति नहीं होती। मानसिक भावनाओं के सापेक्ष होने के कारण विशुद्ध संगीत में केवल सांगीतिक रसानुभूति और आनंद पाया जा सकता है, किसी बाहरी वस्तु का उस पर आरोपण नहीं होता और न ही उसके द्वारा किसी बाहरी वस्तु पर किया जाता है। संगीत केवल संकेत मात्र से सौंदर्यात्मक अनुभूति करवाता है। वाह्य स्थूल जगत के चित्रण में संगीत का कोई हस्तक्षेप नहीं। सांगीतिक सृष्टि कितनी भी सौंदर्यात्मक क्यों न हो, उसके लिये निश्चित अर्थाभिव्यक्ति तथा भावाभिव्यक्ति अनिवार्य तत्व नहीं है, वस्तुतः संगीत में शब्द और अर्थ की द्विविधिता नहीं होती। अपने स्वर लय, गति, स्वर,

21. डॉ० साहित्य कुमार नाहर – **''भारतीय शास्त्रीय संगीत-मनोवैज्ञानिक आयाम''** प्रथम संस्करण – 1999 पृ०सं० 2-5

स्वर-संगति आदि के माध्यम से संगीत एक संपूर्ण मानसिक प्रभाव उत्पन्न करता है, वास्तव में यही उसका अर्थ है। इसी कारण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार–''संगीत से उत्पन्न कम्पनों का योग बाह्य सत्ता से कम होता है अतः श्रोता के चित्त में गाढ़ 'नियत' अनुभूति नहीं होती। वह विश्व जमीन तो हो सकती है पर अविच्छिन्न या 'एब्सटैक्ट' होने के कारण उस अनुभूति में काव्य जैसी सान्द्रता नहीं हो सकती।''[22]

लयांग क्या है–

''क्रियानंतर विश्रांतिर्लयः स त्रिविधः स्मृतः
दुता गध्यो विलंबश्च...............................।''[23]

यह प्रसिद्ध ही है कि उसके बाद विश्रांति रस इस कालावधि का बार-बार मिलने वाला जो प्रमाण है वह लय है। यह लय द्रुत, मध्य, विलम्बित हो सकता है संगीत में यह क्रिया हाथ से, मुँह से अथवा वाद्य से होती है। हाथ से होने वाली क्रिया सशब्द अथवा निःशब्द हो सकती है। चुटकी (घ्रुवा), बाँये हाथ की ताली (शम्या) दाहिने हाथ की ताली (ताल), दोनों हाथों की खड़ी ताली (सन्निपात) आदि सशब्द क्रिया कहते हैं। हाथों की उँगलियों को संकुचित करना, फैलाना, हाथ उल्टा सीधा करना, एक ओर फेंकना आदि (आवाप, निष्काम, प्रवेश, आक्षेप) निःशब्द क्रिया कहलाती है। यह सब इसलिये कि गीत के बर्ताव की कीलबद्धता को नियमित किया जा सके। प्रथम क्रिया का प्रारंभ होने से समाप्त होने पर दूसरी क्रिया, क्रिया के प्रारंभ होने के क्षण तक जो समय लगता है उसे जल्द या धीमी गति में कायम रखना हस्तक्रिया से आसान हो जाता है। ये कला-क्रियायें करतल से साध्य होती हैं। इसलिये वे ताल स्वरूप हैं। करतल से विभाजन कर नियमित किये हुये कल को ही 'ताल' कहते हैं।[24]

संगीत का ताल अंग शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि में पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं है। इसका कारण यह है कि ''मध्यकाल में संगीत कला अशिक्षित लोगों के पास रही जिन्होंने गुरुमुख

---

22. डा० कविता सूद– **संगीत (पत्रिका)** – 1990 जुलाई, पृ०सं० 6

23 डॉ० शरश्चन्द्र विष्णु गोखले – संगीत कला विहार – 1972 नवम्बर, पृ०सं० 467

24. डॉ० शरश्चन्द्र विष्णु गोखले – संगीत कला विहार – 1972 नवम्बर, पृ०सं० 467-468

से सीखकर प्रेक्टीकल तो खूब तैयार किया परंतु शास्त्र रचना बिल्कुल नहीं की।''[25] कुछ लोगों ने तबला मृदंग पर पुस्तकें लिखी भी हैं तो उनमें दी गई परिभाषायें अस्पष्ट हैं। आज जबकि कला महलों की चारदीवारी से निकल कर घर-घर में जनमानस को संगीतामृत से आह्लादित किया चाहती हैं, ताल वर्णन इतना वैज्ञानिक एवं सुलभ किया जा सकता है कि इसे ग्रहण करने में किसी को असुविधा न हो। उदाहरणार्थ—वाद्यों के विकास का क्रमबद्ध इतिहास, तालों की उत्पत्ति एवं विकास विभिन्न बाज और घराने इत्यादि। अभी तो खाली, भरी, अनेकों प्रकार के कायदे, रेले, परन् आदि सामान्य बोलों की परिभाषायें भी संतोषजनक नहीं हैं। अतएव इनका शीघ्र ही वैज्ञानीकरण किया जाना चाहिये जिससे समस्त विद्यालयों में तथा अन्यत्र दिया जा रहा तबला-शिक्षण शुद्ध व सही हो। नवीन तालों का निर्माण हो सके जिससे संगीत क्षेत्र के उक्त अभाव की किन्हीं अंशों में पूर्ति हो सके।[26]

अपने प्रारंभिक काल में भारतीय संगीत मोक्ष प्राप्ति, धर्मसिद्धि तथा अलौकिक तत्वों की प्राप्ति का साधन रहा। समय के साथ इसमें अलौकिकता के साथ-साथ लौकिक तत्व भी समाविष्ट होने लगे तथा संगीत ईश्वरोपासना के अतिरिक्त जन-मन रंजन भी करने लगा।[27] लौकिकता के अपने प्रारंभिक काल में काव्य के समान संगीत भी नाटक के अंगरूप में प्रचलित था। नाटक में संगीत का प्रयोग पात्रों की मनःस्थिति को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त होता था न कि कथा-घटना-परिस्थिति के चित्रण के लिये।

भारतीय संगीत की यह विशेषता है कि वह नियमबद्ध होकर भी एक पूर्ण स्वतन्त्र कला है। अनुशासन और स्वतन्त्रता के बीच कला का रूप और अधिक निखर उठता है।[28] संगीत के नियमों से एक विशिष्ट स्वतन्त्रता जुड़ी रहती है, जो रसानुभूति में समर्थ होती है तथा संगीत को एक निश्चित स्वरूप प्रदान करती है। अन्य कलाओं से भिन्न संगीत के रूप और गठन की अपनी तर्कसंगत, अनुशासित तथा व्याकरण की निजी स्वीकृत व्यवस्था है फिर भी संगीत में पद का योग रहने पर उसमें अनेक विशेषताओं का योग हो जाता है।

---

25. श्री प्यारेलाल, श्री भाल – **संगीत कला विहार** – 1959 अप्रैल, पृ०सं० 175
26. वही पृ०सं० 175
27. डा० कविता सूद– **संगीत (पत्रिका)** – 1990 जुलाई, पृ०सं० 4
28. डा० कविता सूद– **संगीत (पत्रिका)** – 1990 जुलाई, पृ०सं० 6

भारत वर्ष में जिस प्रकार शास्त्रीय एवं लोक-संगीत के लिये व्यवस्थित ताल-पद्धति है, उसी प्रकार पाश्चात्य संगीत में लय-स्वरूपों की कैसी स्थिति है इस कौतूहल से ज्ञात किया गया तो ऐसा विश्वास है कि संगीत की भित्ति-ध्वनि होने के कारण इसका अन्तर्राष्ट्रीय रसास्वादन संभव है। पं० रविशंकर, उ० अली अकबर खाँ आदि ने विश्व रसिकों के लिये भारतीय संगीत रसात्मकता में अभिवृद्धि की है।[29] पाश्चात्य संगीत का कोई ज्ञान न होते हुये भी इस धारणा पर कि सभी देशों में संगीत की गौरवपूर्ण परंपरायें रही होंगी, जिनका भारतीय तथ्यों के साथ तुलनात्मक अध्ययन संभव है। यह जानकारी मिली—श्री एच०एल० बोटराइट ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से लिखा—"पाश्चात्य देशों में लयात्मक अक्षरों अथवा बोलो की वैसी प्रणाली नहीं है जैसी भारत में है।[30] कुछ लयात्मक प्रतिरूपों के नाम अवश्य हैं किन्तु उनके लिये निर्धारित बोल नहीं हैं। फ्रांसीसी संगीत में लय की बुनियादी शिक्षा के लिये कुछ अक्षरों या बोलों का उल्लेख है जिन्हें 'सोल्फेज' कहते हैं। आज संगीत में प्राचीन लयों के बंधन टूट चुके हैं और किसी भी मात्रिक समूह के प्रयोग की स्वच्छन्दता है। भारत के समान ताल-वाद्यों का व्यक्तिगत वादन हमारे संगीत में नहीं है। 'जॉज' के वादक कभी-कभी कुछ मिनटों के लिये व्यक्तिगत रूप से चर्म वाद्य बजाते हैं, किन्तु उसकी तुलना भारतीय लय-वाद्यों के व्यक्तिगत वादन से नहीं की जा सकती।"[31]

गीत तथा वाद्य के साथ ताल रखने की परंपरा प्राचीन काल से आधुनिक तक बराबर चली आ रही है। संगीत चाहे शास्त्रीय हो अथवा लोक संगीत, उसमें ताल किसी-न-किसी रूप में विद्यमान होती ही है। संगीत रत्नाकर के अनुसार ताल शब्द की व्युत्पत्ति 'तल' धातु से हुई है, जो इस बात का संकेत करती है कि गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का यह अधिष्ठान है। ताल का कार्य असीम काल अवधि को सीमाबद्ध करना रहा है। भरत के शब्दों में 'कला, पात तथा लय' ताल के विशिष्ट अंग हैं। कला का निर्माण मात्राओं की गणना पर बतलाया गया है।[32]

आदिवासी क्षेत्रों के अनेक नृत्य केवल ताल पर आधारित होते हैं। जैसे-जैसे

---

29. डा० अरूण कुमार सेन – संगीत (पत्रिका) – 1984 जून, पृ०सं० 7
30. वही – पृ०सं० 7
31. डा० अरूण कुमार सेन – संगीत (पत्रिका) – 1984 जून, पृ०सं० 7
32. भगवत शरण शर्मा – हिन्दुस्तानी संगीत शास्त्र – 1986 जनवरी, पृ०सं० 42

तालाघात पड़ते हैं, नर्तक या नर्तकी में उत्साह का भाव जाग्रत होता है तथा ताल की गति बढ़ाने पर नृत्य की गति भी बढ़ती जाती है। नर्तक के ऊपर रखा हुआ भारी वजन उसे महसूस तक नहीं होता। सिर के ऊपर आठ-आठ घड़ों का संतुलन बनाये रखने से नर्तक को केवल ताल और उसकी गति से ही सहायता मिलती है। सारे वातावरण में अद्भुत रस का संचार हो जाता है। दर्शक, नर्तक और ताल वादक के बीच ऐसा तारतम्य स्थापित हो जाता है कि विभिन्न मानसिक अवस्थाओं में से गुजरते हुये लोग रसोद्रेक की अंतिम स्थिति आनंद में लीन हो जाते हैं। यही कलाजत्य आलौकिक रस कहलाता है।[33]

लय और ताल के द्वारा समग्र प्रकृति की व्यवस्था का लघु चित्रण किया जा सकता है। प्राचीन काल में रंगमंच पर नाटक खेला जाता था तो अकेला तबला-वादक दृश्य और अभिनेता के अभिनय के अनुसार दाँये, बाँये तबले पर आघातों द्वारा प्रत्येक भाव और रस को सफलता के साथ प्रदर्शित कर दिया करता था। नायक-नायिका की अवस्था, आँधी-तूफान और आग लगने का प्रभाव, विदूषक की क्रीड़ायें, युद्ध का कोलाहल, राजा, चोर, देव-दानवों का प्रादुर्भाव, हास्य-रुदन सभी कुछ तबला वादक की कुशलता से सजीव कर दिये जाते थे। उनका तबला बजता नहीं था बल्कि बोलता था।[34]

गायन, वादन तथा नृत्य के अलग-अलग अथवा सम्मिलित प्रभाव की अनुभूति में आस्वादक तक की गम्यता लय के माध्यम से है। निरंतर आगे की ओर बढ़ती लय तथा गति के कारण संगीत अपनी गतिशीलता में ही रसानुभूति के योग्य बनता है, उसे स्थिर रूप से एक ही बार ग्रहण नहीं किया जा सकता। संगीत की लय अपने अनुशासन और नियमितता में ही अनियमित रहकर रसानुभूति कराती है। एक ही ताल और लय के अंतर्गत बनी दुगुन, कभी चौगुन कभी डेढ़गुन तो कभी तिगुन आदि और कभी एक निश्चित लय में चलकर चमत्कार सौंदर्य तथा आकर्षण पैदा करता है।[35] इसी दौरान संगीत चित्र और बिंब उपस्थित करने में भी सफल होता है।

---

33. वसन्त– **संगीत विशारद** – अप्रैल, 1991, पृ०सं० 420

34. वसन्त– **संगीत विशारद** – अप्रैल, 1991, पृ०सं० 420

35. डा० कविता सूद– **संगीत (पत्रिका)** – 1990 जुलाई, पृ०सं० 9

संगीत की विशेषता है कि वह शब्दार्थ रहित होने पर भी काव्य के समान रसानुभूति में समर्थ होता है। वादन में पाटाक्षर (तबला या मृदंग के बोल) शुद्ध और स्पष्ट हों, ध्वनि में निरंतरता बनी रहे, दाब-खॉस (उपयुक्त वजन) का ध्यान रहे और भावना में डूबकर लचीली उँगलियों का प्रहार किया जाये तो किसी भी तालवाद्य के वादन से रस की सृष्टि की जा सकती है। अणुद्रुत, द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत और काकपद नामक तालांगो एवं त्र्यस्त्र, चतुरस्त्र, खंड, मिश्र और संकीर्ण नामक ताल जातियों का सम्यक् ज्ञान भी वादक को होना चाहिये जो ताल और रस के अवलंब हैं, जैसे भोजन में कंकड़ी उसे बेस्वाद कर देती है उसी तरह वादन में एक गलत जरब (आघात) कला को किस-किसा कर सकती है। जिस तरह बच्चे को लोरी गाकर झुलाया जाता है और लययुक्त थपकी देकर सुलाया जाता है, उसी तरह एक श्रेष्ठ वादक श्रोताओं को झुमाता हुआ उन्हें ब्रह्मानंद सहोदर आनंद में गोते लगवाता है।[36] शास्त्र में काल, मार्ग, क्रिया, अंग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति और प्रस्तार ये ताल के दस प्राण बताये गये हैं। इन सबके समुचित प्रयोग का मर्मज्ञ ही तालज्ञ कहलाता है।

वर्तमान संगीत में मध्यकालीन चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन के दुराग्रह से कलाकार काफी हद तक मुक्त हुआ है। रसपरिपाक हेतु यद्यपि साहित्य संगीत के अनेक स्वरूपों का समन्व्य अवश्य माना गया है, तथापि कभी-कभी कलाकार अपने स्वतन्त्र प्रदर्शन में अपनी भावुकता का प्रयोग करके कलापक्ष व भावपक्ष का ऐसा मणिकांचन संयोग कर देते हैं कि श्रोता उसके प्रदर्शन में तन्म्य होकर अपना सर्वस्व विस्मृत कर बैठता है। यही स्थिति रस का परिपाक कहलाती है।[37]

अन्त में शोधकर्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि भारतीय संगीत का प्राचीन व वर्तमान रूप विशेषताओं से भरपूर है जिसका आकर्षण भारतीयों को ही नहीं अपितु विदेशियों को भी अपने में बाँधे हुए है तथा इसका मुख्य अंग 'ताल' समस्त विश्व का

---

36. वसन्त– **संगीत विशारद** – अप्रैल, 1991, पृ०सं० 420

37. श्रीमती शशि भारद्वाज – **संगीत पत्रिका** – 1990 मार्च, पृ०सं० 10

संगीताधार है। इसी कारण ताल को विद्वानों ने तरह-तरह के नामों से विभूषित किया है। ताल का रूप चाहे स्वतंत्र वादन में हो अथवा संगीत में, मधुरता ताल ही देगी अन्यथा संगीत रसहीन होगा। ताल का कार्य ''असीम कालअवधि को सीमाबद्ध करना'' रहा है। भरत के शब्दों में 'कला, पात तथा लय' ताल के विशिष्ट अंग हैं। कला का निर्माण मात्राओं की गणना पर ही बताया गया है।

-x-x-x-x-x-x-x-x-x-x-x-x-

द्वितीय अध्याय – (ख)
पाश्चात्य अवधारणायें

संगीत चाहे भारतीय हो अथवा पाश्चात्य, आदिम काल से जन-जीवन के साथ संबद्ध रहा है। आदिम मानव की संगीत प्रियता इसकी स्वाभाविक कला प्रियता का अभिन्न अंग है। स्वयं भारत में संगीत कलाराधना प्रागैतिहासिक काल से अधुना तक चली आ रही है। इसका ''चक्षुर्वैसत्यम्'' प्रमाण प्राचीन शिल्पकृतियों से उपलब्ध होता आया है, इसमें संदेहलेश नहीं। पाणिनी ने 'साम' का अन्तर्भाव ''दृष्ट'' साहित्य के अंतर्गत किया है। इसका यही अभिप्राय लिया जा सकता है। (4, 2,7-9)। ब्लूम फील्ड के अनुसार–''सामगान का अधिष्ठान संगीत की ध्वनियों में है। सामगान के पश्चात अन्वेषक 'फेल्वर' के अनुसार-सामवेद में लोकगीतों के प्रभावशाली तत्व उपस्थित हैं तथा यज्ञविधियों की प्रभावात्मकता की वृद्धि के लिये युद्धगीत जैसे लोकगीतों का गान, साम गान के साथ प्रचलित रहा है।[1]

भारतीय संगीत तथा पाश्चात्य संगीत में मुख्यतः यह भेद है कि भारतीय संगीत में स्वर प्राधान्य है, जबकि पाश्चात्य संगीत में संध्वनि (हार्मनी) का महत्व विशेष रूप से समझा जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय संगीतज्ञ 'संध्वनि' प्रणाली से अपरिचित हैं। हमारे देश में राग-प्रणाली में संपूर्ण एवं अत्यंत उन्नत दशा में होने के कारण संध्वनि (हार्मनी) की ओर हमारा ध्यान सहज ही नहीं जाता।[2]

नृत्य तथा वाद्य के सदृश कण्ठ संगीत की प्रेरणा आदि मानव को प्रकृति से उपलब्ध हुई, ऐसी कल्पना की जा सकती है। वहीं से ध्वनि मूलक उपादानों को ग्रहण कर परिष्कृत संगीत का निर्माण मानवकण्ठ से संपन्न हुआ। मानव का कण्ठ स्वयं एक वाद्य है जो स्वयं की सूक्ष्मताओं को आत्मसात करने की क्षमता रखता है। प्रकृति के चिरन्तन स्रोत से ऐसी

---

1. शरच्चन्द्र परांजपे – भारतीय संगीत का इतिहास द्वितीय संस्करण –1985– पृ०सं० 8
2. श्री विट्ठल भूषण रा० शुक्ल – संगीत कला विहार (संगीत (पत्रिका)) – मार्च, 1967 पृ०सं० 92

शरीरी वीणा के माध्यम से संगीत का संपूर्ण विकास हो गया हो यह कल्पना तर्कसंगत प्रतीत होती है। संगीत पूर्णांशेन मानव निर्मित कला है, मानव की तीव्रानुभूति की अभिव्यक्ति इसकी जननी रही है तथा मानव-मन के विकास के साथ ही इस कला का विकास होता रहा है।[3]

संगीत भावना प्रधान कला है। भाव और कल्पना के आधार पर की गई चित्ताकर्षक स्वर रचना मेलॉडी है। यही मेलॉडी (राग और धुन) भारतीय संगीत की आधार शिला है जो नैसर्गिक है क्योंकि हृदय एवं उससे स्वतः उत्पन्न आंतरिक भावनायें नैसर्गिक हैं। वाह्य कारणों से ग्रहीत भावनायें जो हार्मनी की आधार शिला हैं, अन्ततः नैसर्गिक तो नहीं हैं, लय भेद की बाहुल्यता के कारण भारतीय संगीत में कलाकार को अपना निजी व्यक्तित्व एवं मौलिकता दर्शाने का जितना विस्तृत अवकाश है उतना पाश्चात्य संगीत में नहीं है क्योंकि पाश्चात्य संगीत में ताल, लय आदि सीमित हैं।

भारतवर्ष में जिस प्रकार शास्त्रीय एवं लोक-संगीत के लिये व्यवस्थित ताल-पद्धति है उसी प्रकार पाश्चात्य संगीत में लय स्वरूपों की कैसी स्थिति है इसकी जानकारी प्राप्त करने से ऐसा विश्वास माना गया कि संगीत की भित्ति 'ध्वनि' होने के कारण इसका अन्तर्राष्ट्रीय रसास्वादन संभव है।[4] पं० रवि शंकर, उ० अली अकबर खाँ आदि ने विश्व रसिकों के लिये भारतीय संगीत की रसात्मकता में अभिवृद्धि की है। भारतीय संगीत में वादन पद्धति का जो स्वरूप है वह पाश्चात्य संगीत में नहीं। सभी देशों में संगीत की गौरवपूर्ण परम्परा रही हैं जिनका भारतीय तथ्यों के साथ तुलनात्मक अध्ययन संभव है और यह तुलनात्मक अध्ययन जो जानकारी देता है उसके अनुसार—

श्री एच०एल० बोटराइट ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से लिखा—"पाश्चात्य देशों में लयात्मक अक्षरों अथवा बोलों की वैसी प्रणाली नहीं है जैसी भारत में है। कुछ लयात्मक प्रतिरूपों के नाम अवश्य हैं किंतु उनके लिये निर्धारित बोल नहीं हैं। फ्रांसीसी संगीत में लय

---

3. शरच्चन्द्र परांजपे — **भारतीय संगीत का इतिहास** द्वितीय संस्करण —1985— पृ०सं० 8

4. डा० अरूण कुमार सेन — **संगीत (पत्रिका)** — जून, 1984 पृ०सं० 7

की बुनियादी शिक्षा के लिये कुछ अक्षरों या बोलों का उल्लेख है जिन्हें 'सोल्फेज' कहते हैं। आज संगीत में प्राचीन लयों के बंधन टूट चुके हैं और किसी भी मात्रिक समूह के प्रयोग की स्वच्छन्दता है। भारत के समान ताल-वाद्यों का व्यक्तिगत वादन हमारे संगीत में नहीं है। 'जाज' के वादक कभी-कभी कुछ मिनटों के लिये व्यक्तिगत रूप से चर्म वाद्य बजाते हैं किंतु उसकी तुलना भारतीय लय वाद्यों के व्यक्तिगत वादन से नहीं की जा सकती।''[5]

भारत तथा पश्चिमी राष्ट्रों के संगीत के स्वर-सप्तक विभिन्न होते हैं। संगीत का शास्त्र तथा स्वर-सप्तक पूर्ण तथा विभिन्न होते हैं। बहुत वर्षों पहले ग्रीक संगीत शास्त्र का संबंध भारतीय संगीत शास्त्र से आया होगा। प्राचीन आर्यों की भाषा, शब्द और कल्पनायें ग्रीक भाषा में भी पाये जाते हैं परन्तु यह तो पुराना संबंध है। उसके पश्चात ग्रीक संगीत भारतीय संगीत के संपर्क में नहीं आया। इससे भारतीय व पाश्चात्य संगीत में अंतर आ गया। भारतीय तथा पाश्चात्य संगीत के ताल, स्वर आदि के नियम भिन्न-भिन्न होते हैं।[6] उन्हीं नियमों के अनुसार स्वर रचनायें होती हैं। इसी प्रकार ताल मात्रा का भी फर्क है।

माउंट एलीसन विश्वविद्यालय केनेडा के श्री हार्वड ब्राउन ने लिखा है—''पाश्चात्य संगीत में लयात्मकता का निर्वाह होते हुये भी दो या तीन से अधिक मात्राओं वाले लय-स्वरूपों के आवर्तन नहीं होते। चर्म वाद्यों पर बजाने के लिये निश्चित बोल हमारे पास नहीं हैं।[7].

भारतीय स्वर रचना अर्थवाही शब्दों पर आधारित होती है। आज भी यही पद्धति पायी जाती है। पश्चिमात्य संगीत में Polyphony तथा Honophony के कारण बदल होते हैं। भारतीय संगीत में षडज को सापेक्ष माना जाता है। वहाँ यह बात नहीं है। पाश्चात्य संगीत में षड्ज की केवल उच्चता मान्य है। ये और इस प्रकार के कई अन्तर पद्धतियों में पाये जाते हैं। भारतीय पद्धति में समय अथवा काल शास्त्रीय काल की कल्पना से भी सूक्ष्म होता है। सामाजिक पार्श्वभूमि और भिन्न शब्दार्थ के कारण सूक्ष्म भेद प्रायोगिक रूप में

---

5. डा० अरूण कुमार सेन – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1984 पृ०सं० 7
6. ड्रेगोटीनकेटको – **संगीत कला विहार (पत्रिका)** – अप्रैल, 1967 पृ०सं० 121
7. डा० अरूण कुमार सेन – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1984 पृ०सं० 7

(संगीत में) प्रतिबिंबित दिखायी देते हैं। पाश्चात्य दुनिया से भिन्न तात्विक तथा सौंदर्य दृष्टि का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है।[8] भारतीय संगीत गायन अथवा वादन विशिष्ट स्वर, ताल, लय आदि पर स्थिर होता है।

टोरांटो विश्वविद्यालय, ओंटेरियो के श्री रिचार्ड जानस्टन ने लिखा है—"हमारे देश के लय प्रकार बड़े सरल हैं और उनका संगीत में सूक्ष्मताहीन सीधा संपर्क है। यद्यपि नृत्य शैलियों में लय के कुछ स्थूल परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, तथापि वे विशेष रूप से उल्लेखनीय नहीं है यह निर्विवाद है कि एस्किमों की संगीत साधना में अनेक शताब्दियों के बाद भी प्राचीन व मौलिक तत्वों का ह्रास नहीं हुआ है, जबकि भारतीयों की संगीत संस्कृति में वंशानुकृमिक परिवर्तन एवं प्राचीनता के प्रति आनास्था स्पष्ट परिलक्षित है। हमारे संगीत में लय प्रदर्शन के लिये शब्दों अथवा बोलों का वह भंडार नहीं है, जो आपके भारत में उपलब्ध है।[9] यही भंडार संगीत द्वारा तरह-तरह के परिणामों को दर्शाते हैं। प्राचीन कलाकारों की कृतियों पर ध्यान देने से यह बात और भी सबल हो जाती है। जैसे गोरखनाथ द्वारा मृदंग में "जाग मछन्दर गोरख आया" की ध्वनि प्रकट करना।" मृदंग सम्राट कोदऊ सिंह द्वारा मस्त हाथी को मृदंग-वादन द्वारा शांत कर देना। बाबा रामकुमार द्वारा मृदंग-वादन पर मोहित होकर बादलों का पानी बरसाना आदि इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।[10]

पिछले दस-बारह वर्षों में कुछ प्रमुख भारतीय संगीतज्ञों ने अपने कार्यक्रम विदेशों में दिये। उनकी प्रशंसा में वहाँ के पत्रकारों ने जो कुछ लिखा, उससे ज्ञात होता है कि विदेशी संगीतज्ञ एवं संगीत-रसराज अब भारतीय संगीत के मूल-तत्वों को पहचानने लगे हैं तथा उन्हें अपनाने की भी चेष्टा कर रहे हैं।[11] भारतीय संगीत वस्तुतः अन्य सब देशों के संगीत से पृथक है।

पाश्चात्य संगीतकार भारतीय संगीत की इस विशेषता पर मुग्ध हैं कि इसमें दो-तीन

---

8. ड्रेगोटीनकेटको – **संगीत कला विहार (पत्रिका)** – अप्रैल, 1967 पृ०सं० 121
9. डा० अरूण कुमार सेन – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1984 पृ०सं० 7-8
10. राम शंकर, पागलदास (अयोध्या) – **संगीत कला विहार** – दिसम्बर, 1966 पृ०सं० 181
11. विजय राघवन – **संगीत (पत्रिका)** – जुलाई, 1967 पृ०सं० 27

मिनट की संक्षिप्त बंदिश को छोड़कर सारा विस्तार कलाकार अपनी कल्पना के अनुसार करता है जबकि उनके यहाँ प्रस्तुत की जाने वाली रचना पूर्व नियोजित तथा स्वर लिपिबद्ध होती है।[12] उसी को सही-सही रुप में प्रस्तुत कर देना ही कलाकार का काम है। किन्तु वृंदगान या वृंद-वादन की क्रिया में पाश्चात्य संगीत की भाँति पूरी-की-पूरी रचना का पूर्व नियोजित होना भारतीय संगीत में भी अनिवार्य है। षड्ज स्वर का निरंतर गुंजित होते रहना हमारे संगीत के लिये आवश्यक है इसलिये तानपुरे का प्रयोग गायन या वाद्य के साथ अवश्य किया जाता है।

डॉ० फ्रिट्ज बोस ने जर्मनी से लिखा—"पाश्चात्य संगीत में उन लयात्मक स्वरूपों का अभाव है, जिनका प्रयोग भारत में होता है। वैसे लय-साम्य का ही अभाव है ऐसी बात नहीं। किसी विशिष्ट संगीत रचना में कई प्रकार के लय-साम्य उपलब्ध होते हैं। नृत्यों के लिये निश्चित समय भावों के अतिरिक्त कुछ लय-सूत्रों के भी प्रयोग होते हैं। उदाहरणार्थ—मजोर्का का प्रदर्शन वाल्ट्ज के तीन चतुर्थांश काल में एक विशिष्ट अनुविभागीय विराम क्रम के आधार पर होता है, अन्यथा यूरोपीय संगीत-रचनाओं में लय की पूर्ण स्वतंत्रता है एवं लय-प्रकारों के प्रयोग संगीत के माधुर्य के अनुसार करने की सुविधा रचयिताओं को है।[13] एक दो अपवादों को छोड़कर पाश्चात्य काल-मापन सदैव नियमित एवं निश्चित क्रम में रहता है। प्राच्य संगीत विशेषकर भारतीय संगीत की तुलना में अत्यंत सरल होता है। 2/2, 3/2, 3/4 और 4/4 यही सांगीतिक-काल-मापक विशेष रूप से प्रचार में हैं। एक और बात है—हमारे संगीत में इन काल-मापक स्वरूपों का कोई पृथक अस्तित्व नहीं हैं। इन स्वरूपों के प्रदर्शन हेतु शब्दाँश या बोल नहीं हैं, क्योंकि इन लय स्वरूपों के निश्चित अस्तित्व नहीं हैं।"[14]

सोवियत रूस के संगीत पर प्राच्य संगीत का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा था। रोम, अरब, फारस को भी भारत ने संगीत के प्रचुर उपादान दिये थे, एवं उन देशों से भारतीय संगीत

---

12. विनय चंद्र मौदगल्य – **संगीत (पत्रिका)**– 1977 पृ०सं० 22
13. डा० अरूण कुमार सेन – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1984 पृ०सं० 8
14. डा० अरूण कुमार सेन – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1984 पृ०सं० 8

धारा को भी कई तथ्य मिले। डेनियल का अनुमान है कि-ग्रीक संगीत मिस्त्र देश के संगीत के समान ही हिन्दू संगीत का अधिक ऋणी है।[15] दसवीं शताब्दी के अरब निवासी अक्येट इवन फडलेन ने बुलगेरिया के एक उच्च पदस्थ व्यक्ति की अन्त्येष्टि क्रिया का विवरण दिया है जिसमें मृतात्मा की शव-भूमि में एक विचित्र वाद्य यंत्र रखा जाता था। रुस में विचित्र प्रकार के लय-वाद्यों का प्रचलन था जिनसे सादृश्य रखने वाले वाद्य अन्य देशों में उपलब्ध नहीं होते।

ईसा पूर्व सप्तम् शताब्दी में फारस के संगीत की दशा दयनीय थी। फेंटिस के मतानुसार प्राचीन फारसी संगीत का भारतीय तालों से पर्याप्त साम्य था, जो स्वाभाविक था।[16] वाणिज्य के लिये फारस एवं भारत का निकट-संपर्क अत्यंत प्राचीन काल से रहा है। प्राचीन फारस में भी अन्तयेष्टि क्रिया के लिये ''विलम्बित लयात्मक संगीत'' एक अनिवार्य आवश्यकता थी। ताजिया के लिये इमाम हसन और हुसेन की स्मृति में अत्यंत करुण अनिबद्ध स्वरों से कुरान का पाठ होता था। विवाह अनुष्ठानों में संगीत व वाद्यों का विशेष महत्व था। मौलवी संगीत के परम भक्त होते थे एवं वृत्ताकार लयपूर्ण नृत्य करते हुये गाया करते थे। फारस के वृंद-वादनों में ताल वाद्यों का विशेष महत्व था। फारसियों ने अरब के लय स्वरूपों को स्वीकार किया था जिनका प्रारंभ हारुन (786—809) के समय से हुआ था।[17]

संगीत की महफिल का नाम सुनते ही किसी पश्चिमात्य की आँखों के सामने एक दृश्य उभर आता है जिसमें एक वाद्य-वृंद प्रमुख और उसके वादकों का समूह किसी महान रचनाकार की कृति (जिसे प्रायः श्रोता कई बार देख भी चुके हों) श्रोताओं के सामने प्रस्तुत कर रहे हो। इस कृति अथवा रचना को इसके पहले सुनकर भी बड़े शांत चित्त से बैठे रहते हैं एवं कार्यक्रम के अंत में एक मिनट तक तालियाँ बजाकर वे अपनी पसंदगी व्यक्त करते हैं। (और वह रचना अथवा कृति अच्छी तरह प्रस्तुत न की गयी हो तो ये तालियाँ मात्र

---

15. डा० अरूण कुमार सेन— भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन —1973 पृ०सं० 55
16. वही – पृ०सं० 55
17. वही – पृ०सं० 56

कर्त्तव्य के अथवा शिष्टाचार के नाते दी हुई दाद के रूप में रहती है।) बहुसंख्यक श्रोता अपना बड़प्पन, शान आदि भावों को सीने से लगाकर शेखी बघारने आते हैं और वे अपने ही में मगन रहते हैं। अच्छी तरह ध्यान देकर और रस लेकर सुनने वाले थोड़े रहते हैं।[18]

भारतीय श्रोता को संगीत महफिल का नाम सुनते ही कुछ और दृश्य सामने आ जाता है जिसमें पीछे दो तानपुरे छेड़ने वाले और बीचों-बीच कोई गायक हो, उसके एक ओर तबला बजाने वाला और दूसरी ओर सारंगी अथवा हारमोनियम बजाने वाला हो; वाद्य-वादन का कार्यक्रम हो तो बीच में वादक कलाकार और उसके पास ही तबला संगतकार। इस प्रकार तीन या चार-पाँच का समूह किसी राग को लय-विशेष में तालबद्ध कर प्रस्तुत कर रहा हो।[19]

''ऑरकेस्ट्रेशन'' एक प्रमुख नया आयाम है जो पश्चिम से हमारे संगीत में आया। चूँकि भारत में सामूहिक वादन की परंपरा आरंभ से रही है किन्तु फिर भी 'ऑरकेस्ट्रेशन' तथा 'हारमनाइजेशन' बिल्कुल नयी प्रवृतियाँ हैं। संस्कृत में वाद्य-समूह को 'कुतुप' कहते थे। दक्षिण भारत में यह मूल (मेलम) कहलाता है। आजकल ऐसी वाद्य-मंडली से जिसे वाद्य-वृंद के नाम से जाना जाता है हम भली-भाँति परिचित हैं जो ऑल इंडिया रेडियो के माध्यम से कुछ बड़े वृंदों को कायम रखे हुये है। ईसा से लगभग 200 वर्ष पहले भरत के नाटक के संदर्भ में विस्तार से कुतुप का वर्णन किया था। उन्होंने ''कुतुप-विन्यास'' की चर्चा करते हुये वीणा-वादकों, ताल-वादकों, गायकों आदि के बैठने की व्यवस्था के विषय में भी निर्देश दिये थे। आज भी हमारे पास विभिन्न किस्मों तथा आकार के ऐसे अनेक वृंद मौजूद हैं।

कर्नाटक, केरल और उड़ीसा में ''पंचवाद्य'' का प्रचलन है जिसमें कोंबु (हार्न) शंख, मुखवीणा या मोहोरी (शहनाइयाँ) ढोलक, तिमिला और हडक्का (ढोल) झाँझ या तालम् (मंझीरे) वाद्यों में से कुछ या सभी अलग-अलग स्थानों पर प्रचलित हैं। तमिलनाडु का 'नय्याडिमेलक' और कर्नाटक का 'कारगमेल' भी बहुत प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त

---

18. अरविंद मा० चाफलकर – **संगीत कला विहार** – दिसम्बर, 1969 पृ०सं० 19

19. वही – पृ०सं० 19

''अष्टादशवाद्य'' जैसे 'मंदिस्कुतुप' भी हैं जिनमें वास्तव में अट्ठारह वाद्य नहीं होते जैसा कि नाम से भ्रम होता है। छोटे या बड़े नगरों में शादियों के बैंड तो सभी देखते सुनते हैं, जिनमें 'टॉबोन' 'ट्रंपेट' 'एकार्डियन' 'कोटिलड्रूम' आदि कुछ नितांत पाश्चात्य वाद्य इस्तेमाल किये जाते हैं। इसी तरह पुलिस तथा सशस्त्र सेनाओं द्वारा प्रयुक्त वाद्य भी पूरी तरह विदेशी होते हैं।[20]

इनमें पुलिस व सैनिक बैंडों को छोड़कर अन्य सभी वाद्य-मंडलियाँ भारतीय संगीत ही बजाती हैं। इस दृष्टि से पश्चिम से अपनाया गया ऑक्रेस्ट्रा एकदम अलग वस्तु है। आज इसका अर्थ उस संगीत से लिया जाता है जो कॉर्डो (एक साथ बजने वाला निश्चित स्वरसमूह) और हारमनी (कार्डो की प्रगति क्रमिक व्यवस्था) पर आधारित है और जिसमें स्वरांतरण (आधार स्वर परिवर्तित उन्हीं स्वरों को बजाते रहना और इस प्रकार खेल में परिवर्तन कर देना) की प्रधानता है। ये सभी विशेषतायें जहाँ हारमनी संगीत के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण और सौंदर्यवर्द्धक हैं वहाँ भारतीय संगीत प्रतिभा के लिये बिल्कुल परायी हैं। लेकिन, यह बहुत महत्वपूर्ण बात है कि स्वरांतरण की यह प्रक्रिया स्वर-लगाव की उस नजाकत को ध्वस्त कर देती है, जो राग-संगीत की जान है। ठीक इसी प्रकार हारमनी-संगीत की तकनीक उन सभी गमकों को गायब कर देती है—जिनके कारण रागों के गायन, वादन में परिष्कृत रमणीयता का संचार होता है, इस तरह के संगीत में हमारी तालों की जटिलता प्रदर्शित की जा सकेगी, इसमें भी संदेह है। हमारे संगीत के ये ऐसे तत्व हैं जिन्हें किसी भी कीमत पर हम खोना नहीं चाहेंगे। इन परिस्थितियों में क्या ऑक्रेस्ट्रा को राग-संगीत का रचनात्मक प्रेरक माना जा सकता है? निश्चय ही ध्वनि क्षेत्र में ऑक्रेस्ट्रा ने हमें नये आयाम प्रदान किये हैं। संदर्भमूलक संगीत में स्वर-वाल्यूम और उनके गुण बहुत उपयोगी सिद्ध हुये हैं। संदर्भमूलक संगीत में संगीत का उपयोग फिल्म, नाटक, नृत्य-नाटिका में निश्चित क्रिया व घटनाओं को उभारने, उन पर बल देने और यहाँ तक कि मेघ-गर्जन, पानी की कल-कल,

---

20. बी० चैतन्य देव (अलका पाठक) – वाद्य यंत्र – प्रथम संस्करण 1993, पृ०सं० 15

वर्षा की टिप-टिप आदि आवाजों का अनुकरण तक करने के लिये किया जाता है। चूँकि वाद्य-वृंद ऐसे किसी भी संदर्भ के बिना ही संगीत प्रस्तुत करते हैं। कभी-कभी यह संगीत अत्यंत उत्कृष्ट कोटि का होता है और इसका ढाँचा प्रायः राग-पद्धति व लोक धुनों पर आधारित रहता है। इस रूप में इसे अच्छा भारतीय संगीत तो माना जा सकता है किन्तु अच्छा राग-संगीत नहीं।[21]

कहने का तात्पर्य है कि पाश्चात्य कलाकार अपने संगीत का एक तैयार किया हुआ निश्चित रूप प्रस्तुत करेगा जबकि भारतीय कलाकार अपने संगीत में गायन अथवा वादन का प्रस्तुतीकरण करते समय उसको एक नया स्वरूप प्रदान करेंगे तथा उसमें कुछ नयी रचना को को जोड़कर नया रस पैदा करेंगे। इसी कारण भारतीय श्रोता व पाश्चात्य श्रोता की भूमिका भी भिन्न रहती है।

चीन में संगीत की उत्पत्ति पर कौतूहलोद्दीपक कथायें प्रचलित हैं जिनका भारतीय दंत कथाओं से सामंजस्य है। प्रो० तानमुहशान ने अपने ''कल्चरल इन्टरचेन्ज बिटवीन इंडिया एण्ड चाइना'' के पृष्ठ छः पर लिखा है—''चीन पर संस्कृति का ऋण दो हजार वर्षों से अधिक का है।[22] प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से भारत ने चीन को जिन विधाओं की शिक्षा एवं प्रसार में सहायता पहुँचाई उनमें संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। चीन की टिस एवं जाति में जो यहाँ के ब्राह्मण वंश संदृश संगीत का विशेष अनुशीलन रहा है। सोलहवीं शताब्दी में चीन इतना संगीत प्रिय हो गया था कि वहाँ का सम्राट काहौयू, औरंगजेब के समान संगीत प्रचार पर वैधानिक प्रतिबंध लगाकर भी असफल रहा, क्योंकि उसके उत्तराधिकारी यांग्ती संगीत के अत्यधिक प्रेमी थे।[23]

भारतीय संगीत का अनुकरण कुछ देशों ने किसी-न-किसी रूप में अवश्य किया है जैसे—फिलिपाइंस से कु० लुकरेसिमा कासीलागु जो महिला विश्वविद्यालय के संगीत विभाग की अध्यक्षा हैं लिखती हैं कि—''उनके संगीत में भी दो या तीन से अधिक स्पंदनों के

---

21. बी० चैतन्य देव (अलका पाठक) – वाद्य यंत्र – प्रथम संस्करण 1993, पृ०सं० 16
22. डा० अरूण कुमार सेन– भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन –1973 पृ०सं० 56
23. वही – पृ०सं० 56

काल-माप प्रचलित नहीं हैं एवं संगीत हेतु उस देश ने संगीत परंपराओं का अनुकरण कर लिया है।

पाश्चात्य देशों ने "भारतीय-संगीत-पद्धतियों" का अनुकरण ही नहीं किया अपितु संगीत के हर क्षेत्र में साधना भी की है। भारतीय संगीत विदेशियों को शिष्य भी बनाता है। भारतीय शास्त्रीय नृत्य और संगीत ने दुनिया के हर कोने में अपने आकर्षण का जादू जगाया है। विश्व के अनेक देशों में इधर इन कलाओं को सीखने की संजीदगी बढ़ी है। लोग भारत की शास्त्रीय कलाओं को शौकिया ही नहीं सीख रहे हैं, बल्कि पूरी मेहनत से साधना कर रहे हैं।[24] इसका प्रमाण था "साहित्य कला परिषद" का दूसरा विदेशी कलाकार उत्सव। यह कार्यक्रम नृत्य के साथ संगीत को भी शुमार करके पाँच दिन चला। इस समारोह में सभी विदेशी कलाकारों ने अपने प्रोग्राम दिये जिन्हें बड़ी संख्या में लोगों ने देखा और सराहा।

यकीनन ही देखा जाये तो संगीत का छंद ताल है और यह मात्र भारतीय संगीत में ही नहीं अपितु विश्व भर में संगीत के क्रमिक एतिहासिक विकास में निर्लिप्त है। श्री विलर्ड ने अपने ग्रंथ–(Treatise of the Hindu Music) में लिखा है–

Metre is allowed to have this effect is Poetry and why not in music. It is very well known that a metre transporition of key without a change in the time has very little power on the spirits of the hearer.[25]

"Tartine supposes "they could not have prolonged any note beyond the time allowed to a syllable and from this course a fine voise would be unable to display its powers by passing rapidly from syllable to syllable to present the loss of time".[26]

---

24. संगीत जगत समाचार N.B.T. – संगीत (पत्रिका) – जून, 1991 पृ०सं० 46
25. डा० अरूण कुमार सेन– भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन –1973 पृ०सं० 54
26. वही – पृ०सं० 54-55

भारतीय संगीत की प्रशंसा विदेशी कला पारखी खुले मन से करते हैं। यूरोप के प्रसिद्ध वायलिन-वादक श्री मेनुहीन के मतानुसार–भारतीय संगीत का यह अत्यंत कसौटी का युग है...। श्री मेनुहीन भारतीय संगीत के चाहक हैं अतः वे कई बार भारत की यात्रा भी कर चुके हैं। उन्होंने भारतीय संगीत से बहुत कुछ लिया। भारतीय धुनों को अमेरिका और ब्रिटेन की प्रजा के सामने प्रदर्शित करके उन्होंने जो लोकप्रियता अर्जित की उसके लिये वे अपने को भारतीय संगीत का ऋणी समझते हैं।[27]

भारतीय संगीत की विविधता सार्वकालिक है। कलाकार का निजी व्यक्तित्व उस विविधता का मूल कारण है, पर आमतौर पर प्रत्येक वायलिन-वादक ने अपनी शैली का विकास स्वतंत्र रूप से किया है। व्यक्तित्व विविध होने पर भी सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है, क्योंकि भारतीय संगीत की आधारशिला आध्यात्मिक ही है। दूसरी ओर पाश्चात्य संगीत पर वहाँ के समाज की प्रवृतियों का प्रभाव पड़ा, जिससे उसमें एकरूपता आती गयी। धीरे-धीरे यह एकरूपता इस हद तक आ गई कि लिपिबद्ध संगीत ही गायन-वादन के लिये दिया जाने लगा। भारतीय संगीत में बंदिशों (नायकी) को छोड़कर गायकी में संगीतज्ञ को अपने व्यक्तित्व प्रदर्शन की पूर्ण स्वतन्त्रता है, ताकि वह आत्मबोध द्वारा अधि + आत्म (अध्यात्म) की पूर्णता की ओर अग्रसर हो सके। आत्मबोध की इस महत्ता को छोड़ पश्चिमीकरण द्वारा सामूहिक मनोरंजन पर बल देना भारतीय संगीत की वास्तविकता उसके उद्देश्य को नष्ट करना ही तो होगा। श्री मेन्यूहीन का कथन है कि–पश्चिमीकरण द्वारा भारतीय संगीत को ऑक्रेस्ट्रा में बाँधना भारतीय संगीत की नैसर्गिक प्रवृति के प्रतिकूल है जिससे भारतीय संगीत का मौलिक विकास अवरूद्ध होगा।[28] भारतीय संगीत में छः सात से अधिक वाद्यों का इकट्ठा वादन उसके हार्द, बारीकी और लालित्य का हनन करना है। आज भी भारत में कुछ संगीतज्ञ ऐसे हैं जो इस हार्द, सूक्ष्मता एवं लालित्य को मुक्तता एवं मौलिकता में तबला एवं तानपुरे के अतिरिक्त अन्य वाद्य संगत को बाधक मानते हैं।[29]

---

27. श्री विट्ठल भूषण रा० भूषण – संगीत कला विहार – मार्च, 1967 पृ०सं० 92

28. वही – पृ०सं० 93

29. श्री विट्ठल भूषण रा० भूषण – संगीत कला विहार – मार्च, 1967 पृ०सं० 93

पेंसिलवानिया विश्वविद्यालय फिलाडेल्फिया के श्री हेराल्ड एस० पावर्स लिखते हैं–''मैं दृढ़ता से कह सकता हूँ कि हमारे देश में संगीत विद्वान इस बात को मानते हैं कि लय एवं ताल का क्षेत्र उनके लिये सबसे कम सुलझा हुआ क्षेत्र है। लय स्वरूपों की पाश्चात्य संगीत में पुनरुक्ति एवं गौणता स्पष्ट है। यह सत्य है कि उनका अंतर्ज्ञान आभासित नहीं होता, किंतु लय-साम्य का वास्तविक सौंदर्य पाश्चात्य-संगीत की सतह के नीचे ठीक उसी प्रकार छिपा रहता है, जिस प्रकार भारतीय संगीत की सम-स्वरात्मकता (हारमोनिकतत्व) ऊपरी सतह के नीचे छिपी रहती है एवं जिसके लिये पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग संभव नहीं हो सका।''[30]

पश्चिम के संगीतज्ञों की धारणा है कि एक कंठ संगीत में 'स्वरित' की चेतना दुर्बल होती है। श्री हेल्महोज के ऐसे ही विचार थे जबकि बात बिल्कुल विपरीत है। भारतीय संगीत में स्वरित का अधिकार जितना स्पष्ट प्रबल और अनिवार्य है उतना पाश्चात्य संगीत में नहीं। पाश्चात्य 'संहति-संगीत' में स्वर-संघातों का प्रयोग होता है। उनकी रचना और गुण उन संघातों के स्वरित (टोनिक) पर निर्भर है। इसीलिये यूरोपीय संगीतज्ञों की ऐसी धारणा हुई कि जहाँ ''संहति-संगीत'' का प्रचलन नहीं वहाँ 'टोनिक' को प्रधानता नहीं दी जाती।[31]

ताल के विषय में जिस प्रकार भारतीय संगीत में अनेक प्रभावपूर्ण कथायें प्रचलित हैं उसी प्रकार पाश्चात्य देश भी इससे अछूते नहीं हैं। जापान के संगीत के साथ एक पौराणिक कथा जुड़ी हुयी है जिसका उल्लेख सर शौ० मो० ठाकुर ने अपने ''यूनिवर्सल हिस्ट्री ऑफ म्यूजिक'' पृष्ठ 35-36 में इस प्रकार किया है–''सूर्य पत्नी 'अमतारामू' अन्य देवताओं के द्वारा अपमानित होकर पर्वत की एक गुफा में छिपी हुई थीं और जब वे किसी भी प्रकार बाहर न निकलीं तब देवताओं ने उन्हें लयात्मक संगीत द्वारा सम्मोहित कर बाहर निकलने के लिये विवश किया।''[32]

---

30. डा० अरूण कुमार सेन – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1984 पृ०सं० 7

31. श्री विट्ठल भूषण रा० भूषण – **संगीत कला विहार** – मार्च, 1964 पृ०सं० 95

32 डा० अरूण कुमार सेन– **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** –1973 पृ०सं० 57

श्री मेन्यूहीन के मत में भारतीय कलाकार की सांगीतिक क्षमता इतनी गहरी और सूक्ष्म है कि दुनिया में अन्यत्र वैसी दुर्लभ है। स्वर-ताल-लय का जितना सूक्ष्म विकास एवं उसे परखने की क्षमता भारतीय संगीतज्ञ के अधिकार में है जगत के किसी क्षेत्र के संगीत में नहीं।[33]

संगीत की आधार-भित्ति ध्वनि होने के कारण उसकी व्यापकता भाषाशास्त्र से अधिक है, एवं काव्य की संकुचित सीमा रेखाओं से इस कला के रसास्वादन की सीमा बड़ी है। भाषा के बंधन में काव्य-सृजन होता है एवं उसकी कलात्मकता का आनंद लेने के लिये उस भाषा का ज्ञान अनिवार्य आवश्यकता है। संगीत क्षेत्र में ऐसी बात नहीं।

लयों अथवा स्वरों की सूक्ष्मता का ज्ञान न होते हुये भी एक साधारण रसिक ध्वनि अथवा नाद की संमोहिनी कला से आकृष्ट हो उसका रसास्वादन करता है यही कारण है कि अंर्तराष्ट्रीय स्तर पर कवि सम्मेलन या साहित्य सम्मेलन नहीं होते किंतु संगीत-सम्मेलन अवश्य होते हैं।[34] मूर्ति अथवा चित्रकला में एक सीमित स्वरूप है जिसके अतिरिक्त अन्य स्वरूपों का दिश्दर्शन कलाकार द्वारा संभव नहीं। संगीत की प्रवहमान स्वर एवं लय धारा में चलचित्रों की भाँति विभिन्न चित्रों का, भावनाओं का आरोह, अवरोह प्रस्तुत किया जाना संभव है।

एम्स्टरडम से श्री अर्नेस्ट हेंस ने लिखा–''हमारे लोक-संगीत में लय के इन स्वरूपों का अभाव है, जिन्हें आप 'ताल' कहते हैं।[35] हम केवल दो या तीन मात्रा-खण्डों का उपयोग करते है और क्वचित ही दोनों का मिश्रण करते हैं। कुछ लोक गीतों में 4/4 का समय माप भी प्रयुक्त होता है, जिसमें कभी-कभी चरण के अंत में एक तालाघात भी रहता है। हमारे संगीत में इससे अधिक लय-स्वरूप आपको नहीं मिलेंगे। स्पष्ट है कि इसीलिये इन स्वरूपों को स्मरण रखने के लिये हमारे संगीत में शब्दांशों अथवा बोलों का प्रचार नहीं है। ड्रम अथवा अन्य ताल-वाद्यों के बजाने वालों का हमारे संगीत में कोई महत्वपूर्ण स्थान

---

33. श्री विट्ठल भूषण रा० भूषण – **संगीत कला विहार** – मार्च, 1967 पृ०सं० 95
34. डा० अरूण कुमार सेन– **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** –1973 पृ०सं० 105
35. डा० अरूण कुमार सेन – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1984 पृ०सं० 7

नहीं है। हमारे लोक संगीत में केवल स्वरात्मक माधुर्य का महत्व है एवं इस हेतु एकार्डियन गिटार, पियानों सदृश वाद्यों में पृथक अथवा सम्मिलित रूप से यदि मूल स्वर बजें तो यह पर्याप्त है। पिछली तीन, चार शताब्दियों से हमारे लोक संगीत का यही स्वरूप रहा है। हमारे लोक-संगीत में बोलों अथवा ठेकों का कोई प्रयोजन नहीं है।''

अंत में शोधकर्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि उपयुक्त उद्धरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि ''भारतीय ताल शास्त्र'' का पाश्चात्य लय-स्वरूपों की तुलना में गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास है। भारतीय तालों के विपरीत पाश्चात्य लय स्वरूपों की उत्पत्ति एवं स्वतंत्र वादन का कभी व्यवस्थित क्रम नहीं रहा।

-x-x-x-x-x-x-x-x-x-x-

तृतीय अध्याय

ताल और लोक संगीत

1. विभिन्न प्रांतों के लोक-संगीतों में ताल
2. विभिन्न प्रांतों के लोक-नृत्यों में ताल

विभिन्न प्रान्तों के लोक-संगीतों में ताल

प्राचीन ग्रंथों का अवलोकन करने से प्रमाणित होता है कि भारतवर्ष में लोकगीतों की परंपरा अत्यंत प्राचीन है, किन्तु कालरेखा का निर्धारण करना आज भी संभव न हो सका है। भाषाविदों का अनुमान है कि मनुष्य ने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिये भाषा का ही सहारा लिया होगा। इसकी पुष्टि के लिये उनका कहना है कि यह देहधारी रूप सामाजिक प्राणी होने से हृदय में उत्पन्न हुये विचार तरंगों के आदान-प्रदान में भाषा। अत्यंत सक्षम माध्यम है।[1] किन्तु कुछ विचारकों ने इसके लिये इंगित, स्पर्श विशिष्ट ध्वनि आदि को आरोपित किया है।

"लोक संगीत" का उद्‌भव मानव हृदय में अवतरित हुये आर्विभाव का चमत्कार है। जन-साधारण, देश के विभिन्न स्तरों के लोग, देहात-पहाड़-घाटी में रहने वाले लोग विभिन्न अवसरों पर उत्स्फूर्तता से जो संगीत निर्माण करते हैं उसे "लोक संगीत" कहते हैं।[2] इस संगीत में खुशी होती है और साथ ही मुक्त कंठ से इस संगीत को गाते हैं। लोक गीत वह गीत है जो लोक में उत्पन्न होकर परम्परा द्वारा दूसरों को सौंपा जाये, या कोई गीत जो इसके अनुरूप लिखा जाये।

वास्तव में ये गीत न तो ग्रामों ने बनाये हैं और न ही नगरों ने। इन्हें बनाया है सर्व साधारण ने "लोक ने"।[3]

लोक संगीत के कुछ प्रकारों में नखरा, शृंगार रहता है। महाराष्ट्र की लावनी, गुजरात का गरबा, राजस्थान का "चौमासा" (वर्षा) अथवा 'सावन' ऋतु में गाये जाने वाले गीत इस प्रकार समाविष्ट होते हैं। लावनी में नखरा, शृंगार तथा उन्मादकारी नृत्य में उन्माद अधिक होता है। गरबा में सहेलियों के साथ आकर्षक नृत्य होता है। राजस्थान के

---

1. मनोहर विनायकराव भागवत – **संगीत कला विहार** – अक्टूबर, 1977 पृ०सं० 458
2. अशोक पेडणेकर – **संगीत कला विहार** – अगस्त, 1969 पृ०सं० 26
3. डॉ० कुलदीप – **लोकसंगीतों का विकासात्मक अध्ययन,** प्रथम संस्करण 1972 पृ०सं० 13-14

गीत में शब्द और अर्थ का बड़ा महत्व रहता है। विरह तथा व्याकुलता का भाव उसमें अधिक रहता है।[4]

विवाह के अथवा अन्य मंगल समय पर धार्मिक उत्सवों में समूह में नृत्य के साथ-साथ गाया जाने वाला लोक गीतों का प्रकार है। महाराष्ट्र में मंगलगौरी के गीत, झिम्पा, नागपंचमी के गीत इस प्रकार में आते हैं।[5] गुजरात में नवरात्रों में गाये जाने वाले लोकप्रिय गीत जो समूह में नृत्य के साथ गाये जाते हैं इस नृत्य में पिचकारी, रंग अथवा रंगीन ख्यालों का प्रयोग किया जाता है। राजस्थान में नवरात्रि के सप्तमी के दिन अथवा विवाह में माता के गीत गाये जाते हैं। लोक संगीत की भाषा एक लुभावनी भाषा है जिसका जन्म बोली के रूप में हुआ। भाषा की उत्पत्ति में भारतीय महर्षियों ने मनुष्य जन्म के साथ ही इसकी उत्पत्ति स्वीकार की तो विदेशियों ने अनुकरणवाद, धातुवाद आदि का सहारा लिया है। वैसे भाषा का जन्म नहीं होता। जन्म होता है 'बोली' का। जो विशिष्ट भू-भाग पर निवास करने वाले जनमानस द्वारा विनिमय हेतु प्रयोग में लाई जाती है, किंतु इस बोली का प्रयोग विस्तृत भू-भाग पर जब विनिमय हेतु किया जाता है तब वह भाषा कहलाती है।[6]

प्राचीन युग में जिस प्रकार संगीत की दो धारायें सामिक तथा लौकिक प्रवाहित थीं, उसी प्रकार भाषा की भी दो धारायें थीं—(1) जिस भाषा का प्रयोग शिष्ट समाज द्वारा किया जाता था।

2. वह भाषा जिसका प्रयोग समस्त जनमानस विनिमय की पूर्ति हेतु करता था। इस दूसरी भाषा को "लोक भाषा" कहा जाता है। वैसे इन दोनों तत्वों की उत्पत्ति 'आहत नाद' से है। लोक संगीत की परिभाषा को यदि विच्छेद करके अर्थ निकाला जाये तो वह इस प्रकार होगा।

---

4. अशोक पेडणेकर – **संगीत कला विहार** – अगस्त, 1969 पृ०सं० 26
5. वही – पृ०सं० 26
6. मनोहर विनायकराव भागवत – **संगीत कला विहार** – अक्टूबर, 1977 पृ०सं० 458

लोक–

लोक का अर्थ है जगह, स्थान या क्षेत्र। कुछ विद्वान विशिष्ट भू-भाग पर निवास करने वाले जन समूह को 'लोक' संबोधित करते हैं। ऋग्वेद में लोक का अर्थ 'भुवन' और 'स्थान' है। श्रीमती विद्या चौहान ने लोक गीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि शोध प्रबन्ध में लोक का अर्थ सरल स्वाभाविक मानव-समाज से किया है, जिसकी भावनाओं विचारों, परंपराओं एवं मान्यताओं में वास्तविक कल्याण तत्व विद्यमान रहते हैं।[7]

संगीत–

वैदिक कालीन साहित्य का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि संगीत के तीनों तत्व-गीत, वाद्य तथा नृत्य का जनमानस में विशेष प्रचार था किंतु इस कला को संगीत न कहकर शिल्प संज्ञा प्राप्त थी। सूत्र तथा जातक साहित्य में भी यही नाम दिखाई देता है परन्तु महाभारत काल में शिल्प के स्थान पर गांधर्व का उल्लेख मिलता है। संगीत शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग बौद्धयुग में दिखाई देता है।

प्राचीन ग्रंथों के साथ-साथ अष्टाध्यायी, कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र तथा महाभारत-रामायण काल में गायन के लिये 'गीति' या गीत की संज्ञा मिलती है, अतः मौखिक गायन करना ही 'गीत' है। संगीत शब्द की निर्मिति 'सम्' और 'गीत' इन दोनों शब्दों के मिलन से हुई ज्ञात होती है। गीत मनुष्य के कंठ की सहज विभूति है, तथा भावों का शब्दमय रूप इसी गीत में नीहित है, वैसे संगीत का विकास संस्कृति के विकास पर निर्भर होने से वह अपने विकास के लिये सामग्री जन-जीवन से जुटाता रहता है।[8]

भारत की यह विशेषता है कि शास्त्रीय कलाओं के विकास के साथ ही लोक कलाओं का विकास प्रागैतिहासिक युग से होता रहा है। लोक-कलात्मक जो शोध कार्य हुये उन्हीं को शास्त्रीय कला का परिष्कृत स्वरूप मिला। "शास्त्रीय" जिसका पर्यायवाची शब्द आंग्ल भाषा में क्लासिकल है अपनी संकीर्णता का स्वयं द्योतक है इसीलिये शास्त्रीय संगीत

---

7. मनोहर विनायकराव भागवत – **संगीत कला विहार** – अक्टूबर, 1977 पृ०सं० 458
8. वही – पृ०सं० 459

को बुद्धि-जीवियों की समष्टि का संगीत मान लोक-संगीत को देश के विशाल जन-समुदाय का संगीत मान सकते है।" लोक संगीत का एक हिस्सा लोक गीत भी है लेकिन लोकगीत क्या है इसके विषय में लोगों के अनेकों मत हैं। एक मतानुसार—लोकगीत का जन्म मानव के सहज हृदय से होकर, "जिसकी भावनाओं में निश्छल (कपटहीन) स्वच्छन्द विचारों का उद्भव होने के साथ-2 जो जन जीवन के समस्त पहलुओं को विशिष्ट स्वरानुभूति से निर्मित राग राग-रागनियों से युक्त हो तथा जो जनोन्मुख से गाये जाते हों", लोकगीत कहलाते हैं। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि लोकगीत की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धायें, खंडितायें और धारायें निछावर की जा सकती हैं क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होकर भी निष्प्राण हैं वे अपने जीवन के लिये किसी शास्त्र विशेष की मुखपेक्षी नहीं है और अपने आप में परिपूर्ण हैं।[9]

डॉ० सदाशिव फड़के जी के अनुसार—लोकगीत विद्यादेवी के बौद्धिक उद्यान के कृत्रिम फूल नहीं, वे मानों अकृत्रिम निसर्ग के श्वास हैं। वे भारी विद्वता के भार से सूक्ष्म बुद्धि की नली के हजारे से छूटने वाला तर्क-वितर्क का फव्वारा नहीं, अज्ञात मलयांचल से आने वाली सुंगधित लहरियों से उद्भूत हृदय की सूक्ष्म तरंगे हैं।

"जिस प्रकार बादलों के मंडराते ही मोर मुक्त कंठ से पुकारने लगता है और आम पर बौर आते ही कोयल कुहुकने लगती है, उसी तरह जीवन के सुख-दुख के उद्‌गारों को प्रकट करने के लिये जो संगीत अपने आप मुखरित हो उठता है उसी को हम लोक संगीत कहते हैं।"[10] इसमें न स्वर का बंधन है न ताल का नियम। यह तो अपने मन की भावनाओं का स्वरित रूप है, जिसमें प्रधानता शब्दों की है जो मन की भावनाओं को मुखरित करते हैं।

लोकगीतों के स्वरूप से संबद्ध जब सूक्ष्मता से विचार किया जाता है तब ज्ञात होता है कि यह संगीत किसी भी एकाकी विरासत न होते हुये भी समाज इसका अधिकारी है।

9. मनोहर विनायकराव भागवत — **संगीत कला विहार** — अक्टूबर, 1977 पृ०सं० 459

10. लीला सोमानी — **संगीत (पत्रिका)** — अक्टूबर, 1986 पृ०सं० 20

कारण-समाज के लोग ही सुख-दुख में एक दूसरे के साथ हिस्सा बनते है, अतः हृदयांकुरों में समाज के संबंधी गीतों का आर्विभाव होना स्वाभाविक है।[11]

व्यापक अर्थ में 'लोक कला' संपूर्ण मानवता पर लागू होती है, किन्तु सामान्य तौर पर यह अशिक्षित अथवा कम पढ़े-लिखे ग्रामीणों की कला है तथा सीधी-सादी कला है। इस प्रकार अशिक्षित जनता का संगीत जिसे लोक संगीत कहा जाता है उनकी भावनाओं की स्वतः अभिव्यक्ति है।[12] यह लाखों ग्रामीणों की बहुमूल्य परंपरा है और इससे क्लान्त श्रमिकों को अपरिमित आनंद मिलता है। इन लोकगीतों का अपना आकर्षण है और इस देश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में इनका विशिष्ट स्थान है।

लोक संगीत का ढाँचा सीधा-सादा है। लय की एकरूपता के कारण ये लम्बे लोकगीत कुछ नीरस लग सकते हैं, किन्तु इसके बावजूद आदिम जाति के लोग इन्हें उत्साहपूर्वक सानंद गाते हैं इनकी स्वर-रचना विचित्र है। इन गीतों से किसी राग-विशेष का संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। शास्त्रीय संगीत से ये एकदम विपरीत हैं, इनकी धुन लगभग समान ही होती है।

जन-जीवन में जहाँ आनंद और उल्लास है वहाँ विरह और वेदना भी है। मिलन के सुखद क्षण हैं तो प्रतीक्षा की लंबी घड़ियाँ भी तन्मयता से अपनी मस्ती में चाहे वह दर्द हो या आनंद, अभिव्यक्ति जब होती है तो वही स्वर 'धरती के संगीत' के नाम से जन-जीवन के प्रतीक बन जाते हैं।[13] अँधेरों से निकला हुआ मुक्त-संगीत भुला देता है कि वहाँ जन-मानस का कितना संघर्षमय जीवन है। धनउपार्जन के लिये घर छोड़कर पुरुष जब बहुत समय तक विदेश में रहें या फौज में भर्ती हो जाते है तो वेदना सहज ही अधरों से गीत के रूप में उमड़ती है–

> ''नेड़ी तो नेड़ी
> करज्यों पिया चाकरी जी
> साँझ पड़यां घर आय।''

---

11. मनोहर विनायकराव भागवत – **संगीत कला विहार** – अक्टूबर, 1977 पृ०सं० 459
12. विजय राघवन – **संगीत** – दिसम्बर, 1967 पृ०सं० 15
13. लीला सोमानी – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1986 पृ०सं० 20-21

अर्थात–हे पिया, पास ही नौकरी कर लो, जिससे साँझ पड़े घर आ सको।''

या

''ऊँचा राणा ज्योडा गोखड़ा रे,
नीचे पिछोला री पाल पटेल्या मावली रे,
मारयो तो जाइलो रे, भारयो तो जाइलो फौज में रे,
मारयो तो जाइलो रे।''[14]

यहाँ पत्नी कहती है–तुम फौज में भर्ती हो रहे हो, किन्तु फौजी की विभीषिका का भी तुम्हें पता है? ये राणा जी के ऊँचे गोखे और बिछौला की पाल को तो देखो।

युद्ध के समय संगीत और लोक संगीतों द्वारा ही सैनिकों के नैतिक स्तर तथा प्रसन्नता को कायम रखा जाता है। लोक गीतों द्वारा ही उन्हें अपने देश, माताओं, पत्नियों, पुत्रों तथा पुत्रियों का ध्यान रहता है जिनके लिये वे जीवन में यातनाओं को झेलते हैं।[15] लोकगीत की कथावस्तु पर देश, काल, पात्र का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। सामायिक घटनाओं का चित्रण लोकगीत के शब्दों का आधार है।

उदाहरणार्थ–

1. स्वतन्त्रता संग्राम के संदर्भ में बने गीत–
   ''शहर गाँधी जी आया''
   और ''मैं नहीं पहनूँ लहँगो रेशम को
   म्हाने खादी को केसरिया रंगवादे ढोला''[16]

2. स्वतन्त्रता के अमर पुजारी,
   सत्य अहिंसा के व्रतधारी।
   बापू तुम्हें प्रमाण–

---

14. लीला सोमानी – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1986 पृ०सं० 21
15. श्री आर०सी० मेहता – **संगीत (पत्रिका)** – जुलाई, 1960 पृ०सं० 47
16. लीला सोमानी – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1986 पृ०सं० 21

बापू तुम्हें प्रणाम।[17]

इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सभी पर्वों पर, प्रकृति से संबंधित, प्रेम-शृंगार, विरह, धार्मिक, देशभक्ति, प्रतीक्षा, विदाई, विवाह-गीत, गुरु-वंदना, अर्थात कहने का तात्पर्य है कि जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जिसके विषय में लोकगीत न बनाये गये हों। इन लोकगीतों की सरल धुन होती है और स्वर का भी कोई विशेष महत्व नहीं होता, किन्तु शास्त्रीय संगीत के नियमों से स्वतंत्र हुये भी अपने नियमों में बद्ध होते हैं और अधिक लोकप्रिय व कर्णप्रिय होते हैं। यहाँ प्रस्तुत हैं कुछ लोकगीतों के प्रकार जो कि अनेक क्षेत्रों में गाये जाते हैं जैसे–

1. विवाह गीत–

जा री सखी सज-धज के अपने पी के द्वारे,
तू खुशियों से झोली भर ले, देख न आँसू हमारे।
जग में रहे तू सदा सुहागिन,
चमकें भाग तिहारे।[18]

2. इसी प्रकार पर्वों के गीत–

आई दिवाली, आई दिवाली
दीपक संग नाचे पतंगा
मैं किसके संग नाँचू, बता जा[19]

रक्षाबन्धन गीत–

"आया-आया मनहर प्यारा राखी का त्यौहार,
थाल-थाल में राखी-रोली, भरती मधुर भावना भोली।
भाई-भाई की आँखों में बसा स्नेह संसार" ॥[20]

---

17. बाबूलाल शर्मा 'प्रेम– **संगीत (पत्रिका)** – जनवरी, 1969 पृ०सं० 108
18. कु० कुशल माथुर – **संगीत (पत्रिका)** – जनवरी, 1969 पृ०सं० 72-73
19. वही – पृ०सं० 72
20. प्रेमचन्द्र 'विजवर्गीय' – **संगीत (पत्रिका)** – जनवरी, 1969 पृ०सं० 113

विदाई गीत–

आई आज विदा की बेला!

जिसको तुमने स्नेह दिया था, निज अंचल की ओट लिया था,

आज वहीं प्राणों का दीपक, जाती हो तुम छोड़ अकेला।[21]

देशभक्ति गीत–

हम ले संगीने हाथों में दुश्मन पर चढ़ते जायेंगे

भारत माता के चरणों में तन-मन भेंट चढ़ायेंगे।[22]

भक्ति गीत–

हे वीणा की देवी।

हम सब तेरे चरण कमल पर, श्रृद्धा के कुछ सुमन चढ़ाकर।

दया दृष्टि कुछ कर दो हम पर, यही चाहते हाथ जोड़कर।[23]

विरह गीत–

''बादर आयो री बाल,

पिअ बिन लगाई इर पावन।

एक तो आँधेरी कारी, बिजुरी चमकत,

उमड़-उमड़ बरखा आवन ॥

जबसे पिया परदेस गमन कीनो

तबसे विरह भयौ भो तव-तापन।

सावन आयो अति झर लावन,

'तानसेन' प्रभु न आये मन भावन ॥''[24]

---

21. प्रेमचन्द्र 'विजवर्गीय' – **संगीत (पत्रिका)** – जनवरी, 1969 पृ०सं० 114
22. गिरिराज शरण अग्रवाल – **संगीत (पत्रिका)** – जनवरी, 1969 पृ०सं० 136
23. रागभूप कल्याण – **संगीत (पत्रिका)** – जनवरी, 1969 पृ०सं० 155
24. 'तानसेन' – **संगीत (पत्रिका)** – जनवरी, 1969 पृ०सं० 53

अथवा

"जो तुम आ जाते एक बार, कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बिन पराग, गाता प्राणों का तार-तार।
अनुराग-भरा उन्माद राग, आंसू लेते वे पद निसार ॥"[25]

विवाह हो या पुत्र जन्म, सावन के झूले हों या फागुन के रंग अथवा खेतों में श्रम की बूँदे गिराते हुये लोग हर परिवेश में गीत गूँजते ही रहते हैं और यह प्रतिध्वनि करते हैं कि यहाँ रहने वालों का इतनी विकट और विषम परिस्थितियों में भी कितनी महान मनोदशा है। तभी यह कहा जाता है कि अभाव में ही साहित्य, संगीत और कला अधिक पनपते हैं।[26] लोकगीत लोक जीवन की ही देन हैं। लोकगीतों की परंपरा लोकजीवन की एक अचेतन क्रिया के रूप में चली आ रही है। लोकगीत की कथावस्तु पर देश काल, पात्र का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। सामायिक घटनाओं का चित्रण लोकगीतों के शब्दों का आधार है। हजारो वर्षों से लोकगीत मुखरित होते रहे हैं, आज भी हो रहे हैं तथा भविष्य में भी होते रहेंगे।

हिमालय की बर्फ और राजस्थान के रेत के मध्य हँसता-गाता पंजाब अपने-अपने 5 दरियाओं के संगीत का सदियों से आनंद लेता आ रहा है। ठाठें मारते दरियाओं की लहरें जब इतराकर नाचती हैं, तो पंजाब अलबेले, गबरु और अल्हड़-भुटियारें (किशोरियाँ) मस्ती से तरंगमय हो उठती हैं। वे लोकगीतों एवं लोकनृत्यों के माध्यम से अपनी समूची खुशियों का बेबाक प्रकटीकरण करने लगते हैं।

पंजाबी लोकगीत पंजाब की संस्कृति का दर्पण है। ये लोकगीत यहाँ के लोक-जीवन में मिसरी की तरह घुले हुये हैं। इन लोकगीतों में पंजाबी लोगों के मन की तरंगों, उमंगों और बुलबुलों को हिलौरे लेते देखे जा सकता है। इन गीतों में गुलाब के फूलों की महक

---

25. महादेवी वर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – जनवरी, 1969 पृ०सं० 54
26. लीला सोमानी – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1986 पृ०सं० 21

और ताजगी है। पंजाबी लोकगीतों और संस्कृति का खून-माँस का रिश्ता है। दुख-सुख, भावनायें, प्रेम, वियोग-संयोग आदि, इन गीतों में ओत-प्रोत हैं। उल्लेखनीय है कि पंजाबी स्त्रियों का इन गीतों में बहुत बड़ा योगदान है। ऋतुओं, त्यौहारों और सामाजिक रिश्तों के बारे में पंजाबी नारियों ने बड़े प्यारे और मनमोहक गीतों को रचा और तराशा है।

कन्या के रूप में लड़की की अपने बाबुल के प्रति हमदर्दी है और चिंता भी। वह जानती है कि उसके कारण बाबुल को अपना सिर झुकाना पड़ेगा, फिर भी उसका सपना है कि अच्छा वर और घर ही मिले।

"बाबुल ज्योंतारियाँ विचोंचन्न

चन्न विच्चों काहन, कन्हैया वर लोड़ी के"

इसी प्रकार पंजाबी स्त्री के जीवन प्रवाह में सबसे मीठी धारा भाई के प्रेम की है। बहन अपने भाई का यश बचपन से ही खेलते हुये गाती है। भाई ही उसे ससुराल से मायके लिवाने आता है तो भाई को आते देख बहन के पाँव जमीन पर नहीं टिकते—

जदों वेख लिया वीर दा बोता

मल्ल वांग पैर धरदी

मेरे मुँह विच्च मिसरी घुलदी

वीरा तेरा नां लैदिआं।[27]

अर्थात—

जब भाई का ऊँट देख लिया तो बहन पहलवानी अदा में पैर रखने लगी। मेरे प्यारे भाई, तेरा नाम लेते ही मेरे मुँह में मिसरी घुलने लगती है तथा हृदय में स्नेह भाव उमड़ पड़ता है।

---

27. डॉ० अमर सिंह वधान **"भारतीय लोकजीवन एवं संस्कृति"** प्रथम संस्करण – 1999, पृ०सं० 18

इसी प्रकार लोक संगीत का दूसरा पहलू लोक नृत्य है। लोकनृत्यों के विषय में भारत विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा अधिक समृद्ध और भाग्यशाली है। लोकशाही जीवन में लोकनृत्य का उतना ही महत्व है, जितना शहरी जीवन में चलचित्र तथा मनोरंजन के साधनों का। संगीत व नृत्य भारतवासियों को प्रकृति ने वरदान स्वरूप प्रदान किया है और इसी अवलंब पर आदिवासी भी अपना जीवन सुखद बनाये रहता है।[28] संगीत व नृत्य की लहरी पर अपना दुःख दैन्य बिसार देता है। वह समय के गीत गाता है और समय के नृत्य से जीवन को खुशहाल बनाता है। संगीत नृत्य का रिद्म बड़ा मनमोहक और शांत होता है। लोकनृत्य की गति, थिरकन, वाद्य यंत्रों के बोल, झाँझ की झनक सब मिलकर जीवन को खुशहाल बना देते हैं। जहाँ प्रकृति का कण-कण नृत्य करता हो भला वहाँ के निवासियों के पैर न थिरकेंगे?[29] नृत्य की परंपरा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। प्रत्येक स्थान पर अलग-अलग प्रकार के लोक नृत्य प्रचलित हैं। अर्थात पहाड़ी स्थान पर रहने वालों का पहाड़ी नृत्य, राजस्थान का राजस्थानी, पंजाब का गिद्धा व भांगड़ा, गुजरात का गरबा और भी अनेकों नृत्य जैसे कि मणिपुरी आसाम का प्रसिद्ध नृत्य है। इसी प्रकार आंध्र प्रदेश का कुचिपुड़ी, आदिवासियों का सैला नृत्य इत्यादि।

विभिन्न वेशभूषाओं भाषा और भौगोलिक स्थितियों के अस्तित्व के बावजूद भारतीय-संस्कृति जिस एकसूत्रता में अविच्छन्न रूप से बँधी हुई है उसकी संपूर्ण सौंदर्यानुभूति जैसी लोक-नृत्यों में प्राप्त होती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। वैष्णवी भक्ति से ओतप्रोत मणिपुर प्रदेश से लेकर पश्चिम की गुजराती द्वारिका तक, झीलों के देश काश्मीर से लेकर समुद्र की लहरों को चूमते हुये दक्षिण भारत तक सब ओर लोक नृत्यों में एक जैसे उल्लास एवं रस बोध तथा भाव के दर्शन होंगे जो उन सबको भारतीयता की संज्ञा से विभूषित करते हैं। भारतीय मिट्टी में धड़कता हुआ जन मानस उनकी गतिमयता में हर क्षण मुखरित होता रहता है।[30]

---

28. महेश चन्द्र शांडिल्य – **संगीत (पत्रिका)** – 1983, पृ०सं० 54
29. वही – पृ०सं० 54
30. केशव चंद्र वर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1970 पृ०सं० 29

कुछ दोहों के अन्तर्गत भी ताल व राग के माध्यम से लोक संगीत को सौन्दर्य-पूर्ण करने का प्रयास हमारे संगीतज्ञों ने किया। निम्न पद राग 'काफी' तथा ताल 'दीपचन्दी' में नियंत्रित कर राजस्थान के रजवाड़ी गीतों में गाया जाता है—

राजा जनक जी री पो राघोबर लूम रह्या छै।
राजा जनक जी री सियावर लूम रह्या छै।
जदरी नवल बना कौकड़ आया कांकड़ करिया झुकया।
जद रायजादा बना बागाँ में आया बागाँ में तम्बुवा तणाया ॥

राघोबर लूम....................

जद री नवल बना पनघट आया पणियारयाँ बींद सराया।
जय रायजादा बना चौहट आया चौहट हाट संजोया ॥

राघोबर ....

जद शाहेजादा बना तोरण आया तोरण कलश बँधाया।
जय रायजादा बना मायाँ में आया मायाँ में मंगल गाया ॥

राघोबर ....

जद री नवल बना चँवरिया में आया चँवरिया में चँवर दुकाया।
जद रायजादा बना फेराँ में आया फेराँ में वेद सुणाया ॥

राघोबर..................

जद री रुपाका बना परण पधारया जीतीड़ा रा ढोल गुड़ाया।
जद दे सूती बना डेरा में आया निरखत लंक लुटाया ॥

राघोबर...................

अर्थात्

राजा जनक के द्वार पर रघुवर (श्रीराम) शोभित हो रहे हैं। नवल बना के काँकड़ पर आने पर ऊँट झुकाये गये और बागों में आने पर तम्बू लगाये गये। पनघट पर आने पर पनिहारनों ने उनकी प्रशंसा की और बाजार में आने पर दुकानें सजाई गईं। तोरण पर आने पर कलश बँधाये गये और 'मायाँ' में आने पर मायों के मंगलगीत गाये गये। चँवरियों में आने पर चँवर ढुलाये गये और भाँवर में आने पर वेद वाणी सुनाई गई।

रुपाले बनाके विवाह करके पधारने पर जीत के ढोल बजाये गये और अपने डेरे में पधारने पर बन्नी के रूप पर रीझकर खूब धन-द्रव्य लुटाया गया तथा नौकर-चाकरों को दस्तूर के अनुसार इनामें बाँटी गई।[31]

भगवान श्री कृष्ण की रासलीला भक्त लोगों के लिये श्रद्धा का, रसिक लोगों के लिये प्रेम का और कलाकारों के लिये अमर प्रेरणा का ज्वलन्त उदाहरण है। विश्व के इस अद्वितीय चरित्र श्रीकृष्ण को रासलीला के विवाद का विषय बनाकर अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित किये गये हैं। इस विषय में शायद कभी सब लोग एक मत न भी हो सकें, मगर यह बात तो स्वीकार करनी ही होगी कि द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण की रासलीला की परंपरा गुजरात, कच्छ और सौराष्ट्र में आज भी प्रचलित है।[32] बंबई को चाहे संयुक्त महाराष्ट्र में माना जाये अथवा उसे स्वतंत्र यूनिट में स्वीकार कर लिया जाये अथवा गुजराती इसे अपना अधिकृत शहर मानें। बंबई में गुजरात के ये जनप्रिय लोकनृत्यों की परंपरा कृष्ण के युवाकाल से यदि आंरभ हुई है तो त्रिलोकी की तीन चरण से नाप लेने वाले महापुरुष के अनंत-यश के भी ये साक्षी रहेंगे।

भरत मुनि के नाट्य शास्त्र के अभिनय दर्पण में कहा गया है कि प्रागज्योतिषपुर नरेश असुर बाण की कन्या ऊषा का विवाह जब श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरूद्ध के साथ हुआ

---

31. ठा० जसवंत सिंह – **राजस्थान के रजवाड़ी गीत** प्रथम संस्करण – 1990, पृ०सं० 19-21

32. श्री सत्य – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1959 पृ०सं० 27

तो कला निपुण ऊषा अपने साथ लास्य-नृत्य की परंपरा लेकर गुजरात में आयी।[33] ऊषा को नृत्य शिक्षा शिव पत्नी "उमा" द्वारा मिली थी। शिवोपासक कृष्ण ने रास द्वारा जहाँ ताण्डव को प्रतिस्थापित किया वहाँ उमा द्वारा ऊषा ने लास्य का प्रचार द्वारिका में किया और जनपद में फैलता-फूलता यह लोक-नृत्य सदियों से नई उमंग और नई पीढ़ियों के चिरन्त उत्साह के साथ आगे बढ़ता आया। 13वीं शताब्दी के भाव-प्रकाशन और 12वीं सदी के संगीत रत्नाकर में भी गुजरात के इन लास्य नृत्यों की यही पृष्ठभूमि आरोचित की गयी है।[34] आज का सुप्रचलित गरबा लोक-नृत्य अनेक संस्कृत के ग्रंथों के प्रमाणिक नृत्य-शैलियों में से एक मुख्य है।

भारत के कृषक जीवन का पूर्ण प्रतिबिंब इन लोक-नृत्यों में उतरा है। प्रकृति और कृषि का जो साहचर्य भारतीय लोक-मानस में अपनी छाप परंपराओं के साथ छोड़ गया है, वह सहज रूप से सब ओर हमारी रागात्मक वृत्तियों में मुखर हो उठा है। इसी कारण ये नृत्य अधिकतर या तो धार्मिक पर्वों या मेलों से संबंधित हैं अथवा खेतों की विभिन्न प्रक्रियाओं से। धार्मिक पर्वों पर जो नृत्य प्रचलित हैं वे भी अप्रत्यक्ष रूप से उस कृषक धर्म की ही प्रच्छिाया हैं। अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न रखने के लिये, खेती की सफलता के लिये, समृद्धि एवं सुख के लिये कृषक उनको अपने नृत्यों से रिझाते हैं। जब वे उनके विश्वासों के अनुसार उनके मनोरथ सफल कर देते हैं तो वे पुनः उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु अपनी भावांजलि नृत्य के रूप में चढ़ाते हैं।[35]

भारतीय संगीत का एक अन्य अद्वितीय अंग है "लय"। भारतीय संगीत में पाये जाने वाले लय के अगणित प्रकार अत्यंत आश्चर्यजनक हैं। 35 शूलादि ताल और चप्पू ताल के चार प्रकार तथा कई संगीतमय ताल हैं। भारतीय नाद-ब्रह्म को सांगीतिक ध्वनि का प्रतीक मानते हैं, इससे यह प्रकट होता है कि भारत में संगीत को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। भारत को आज संगीत की अपनी दो धाराओं पर गर्व है—एक है शास्त्रीय संगीत

---

33. श्री सत्य – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1959 पृ०सं० 27
34. वही – पृ०सं० 27
35. केशव चंद्र वर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1970 पृ०सं० 29

की काफी विकसित प्रणाली तथा दूसरी है अविकसित, किन्तु सजीव लोक संगीत प्रणाली।[36]

यद्यपि भारतीय संगीत-शास्त्र की जाँच से पता चलता है कि भारतीय संगीत की दीर्घकालीन परंपरा है जो चौथी शताब्दी (ईसा पूर्व) से शुरू होती है, किन्तु यह तथ्य भी सही ठहरता है कि भारत का लोक-संगीत जो लाखों अशिक्षित व्यक्तियों की बहुमूल्य संपत्ति है शास्त्रीय से भी निश्चित रूप से पुरातन है।[37] प्रकृति का रूप लय में प्रकट होता है। अतः मानव का संपूर्ण संगीत लय से प्रभावित होता है। आदिम जाति के लोगों ने पहले अपना ध्यान लय पर केन्द्रित किया और मधुर स्वर रचना की बात सोचने के बहुत पहले इसी का विकास किया। यह लय ही है, जिससे सर्वप्रथम मस्तिष्क में कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा अथवा इच्छा जाग्रत हुई। समूचे विश्व में संगीत के विकास का यही प्रथम चरण रहा। समय के साथ-साथ लय गत गति को सजीव बनाने में अवनद्ध वाद्य की संगति की आवश्यकता महसूस हुई। बाद में लय और अवनद्ध वाद्य से किसी प्रकार के आनंद की सृष्टि नहीं हुई तो क्लान्त मन में नया जोश भर उसे ताजगी प्रदान करने के लिये मधुर स्वर-रचना की आवश्यकता हुई।

जब मानव हर्षातिरेक के कारण भाव-विभोर हो जाता है तो उसका मन-मयूर अपने आप ही सानंद नाच उठता है व गाने को बाध्य हो जाता है। लय की लोकगीतों में विशेष प्रधानता विद्यमान रहती है तथा यही लोकगीत विभिन्न तालों में अर्थात खेमटा, दीपचंदी, झपताल, जतताल आदि तालों में निबद्ध कर गाये जाते हैं। इन्हीं लोकगीतों के साथ नगाड़ा, ढोलक, ढप, बैंजो तथा सारंगी आदि वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। लय की सुविधानुसार गायक कहीं लघु मात्रा की दीर्घ कर देते हैं तो कहीं दीर्घ मात्रा को लघु कर देते हैं—उदाहरण के लिये—

लिछमन कै रै बाण लगा रै सक्ति लिछमन कै
ऐसा रै होय कोई बीरा नै जिवालै

---

36. सुजन कुमार पंडित **संगीत (पत्रिका)** – दिसम्बर, 1969 पृ०सं० 15

37. विजय राघवन – **संगीत** (पत्रिका) – दिसम्बर, 1967 पृ०सं० 15

राधा आज सवाई धरती लिछमन के रै
कै तो जिवालै सीता रै सतवंती
कै तो जिवालै हनुमान जती लिछमन कै रै।[38]

मानव जीवन में वाद्यों का प्रमुख स्थान रहा है। पौराणिक गाथाओं में भी हम वाद्यों एवं तालों का वर्णन किसी-न-किसी रूप में पाते हैं। आनंद और उत्साह बढ़ाने हेतु वाद्यों का सदैव से प्रयोग होता आया है। नृत्य और गीत दोनों ही वाद्य व उसकी तालों पर आश्रित हैं। लोक जीवन में इन कलाओं को सुरक्षित रखने में वाद्यों ने समुचित सहायता दी है।[39]

लोक संगीत वाद्य–

विभिन्न प्रदेशों के लोक संगीत में विभिन्न प्रकार के लोक वाद्य प्रयुक्त होते हैं। ये वाद्य अपने लौकिक तत्व तथा मौलिक रूप लिये हुये हैं। उदाहरण के तौर पर हिमाचल प्रदेश के लोक-वाद्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। आदिवासी क्षेत्रों के वाद्यों का अध्ययन करने पर मानव विकास परंपरा के साथ वाद्यों के विभिन्न रूप भी उपलब्ध होते हैं। इस आधार पर हिमाचल प्रदेश के लोक मानस की संगीत प्रियता तथा संगीत ज्ञान का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

हिमाचल प्रदेश के लोक-वाद्यों को अन्य वाद्यों की भाँति चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ये वाद्य अपने लौकिक तत्व तथा मौलिक रूप लिये हुये हैं, जो कि आंचलित परिवेश में उपलब्ध अनेक उपकरणों के माध्यम से निर्मित किये गये हैं। इन वाद्यों में अवनद्ध वाद्य, घन वाद्य, तंत्र वाद्य एवं सुषिर वाद्यों का अपना निजि स्थान है। हिमाचल प्रदेश एक विशाल प्रदेश होने के कारण बारह जिलों में बाँटा गया है—जिनकी अलग-अलग विभिन्न विशेषतायें हैं, जो इन वाद्यों के प्रयोग में भी स्पष्ट दृष्टिगत होती हैं। अवनद्ध वाद्यों

---

38. डॉ० पुष्पेन्द्र शर्मा – **संगीत की उच्चस्तरीय शिक्षण प्रणाली** – 1992 पृ०सं० 22-23
39. मनोरमा शर्मा – **संगीत** (पत्रिका) – जून, 1984 पृ०सं० 32

के अन्तर्गत ढोल, ढोलकी, ढोलक, नगारा दमाया, दमंगटू, नगारटू, गुज्जू-डोरु, हुड़क, घौंसा (विभिन्न ढोलों के स्थानीय नाम) आदि अनेक प्रकार के छोटे बड़े ढोलों का प्रयोग इस प्रदेश के समस्त खण्डों में पाया जाता है।[40] प्रदेश के विभिन्न खण्डों में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न ढोलों का प्रयोग किया जाता है। टमक, डफला, डफ, तुङ्-युङ् (ढोलों के स्थानीय नाम) आदि कुछ अन्य प्रकार के ढोलों का प्रयोग भी मिलता है। इन वाद्यों को पर्वों पर मुख्यतः शादी-विवाह उत्सव त्यौहार, छिंज (कुश्ती, प्रणय गीत, परंपरागत पूजा, देवी देवताओं की झाँकी निकालते समय विशेष प्रकार के ढोलों का प्रयोग किया जाता है।[41] एक बात विशेष रूप से दृष्टिगत होती है कि सभी प्रकार के ढोल सभी अवसरों पर प्रयुक्त नहीं किये जा सकते; जैसे छिंज (कुश्ती) पर केवल ढोल-ढोलकी और टमक (बहुत बड़ा ढोल जिसे जमीन में गाड़ा जाता है) का प्रयोग किया जाता है। पूजा आदि शुभ कार्यों में टमक, ढोल, नगारा, दमामा आदि का प्रयोग होता है। विशेष प्रकार के ढोलों गुज्जू, नगारटू, दमंगटू आदि का प्रयोग कई क्षेत्रों में होता है। धौंसा एक बड़े आकार का ढोल है जो कि खड़े होकर ही दोनों हाथों से डंडों द्वारा पीटकर विशेष अवसरों पर बजाया जाता है। तुङ्-युङ् भी इसी प्रकार के (किन्नौर के) लोकप्रिय वाद्य हैं। इन ढोलों की निर्माण-कला, आकार तथा बनावट सभी पर आंचलिक प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं, साथ ही इनको बजाने की शैली भी अपनी-अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं को संजोये हुये हैं। क्षेत्रीय लोकगीत तथा लोक-नृत्यों की संगति के उपयुक्त ताल ही इन विशेष ढोलों पर बजाये जाते हैं। इसी प्रकार घन वाद्यों में झाँझ मंजीरा, खड़ताल, चिमटा, घंटा, घड़ियाल, थाली, घुँघरु कोकाठा मुरंचंग आदि का निजी महत्व है। सुषिर वाद्यों में रणसिंगा, करनाल, तुरही, बाँसुरी, अलगोजू, शहनाई या पीपणी यहाँ के लोकप्रिय वाद्य हैं। तंत्र वाद्यों में एकतारा या इकतारा किन्नरी (अन्य रूप किंदरी, किंगीरी) दवातारा, ग्राम्यङ् या रवाब जुमङ् या सारंगी, रुमान या खंजरी आदि वाद्य मिलते हैं। इन वाद्यों पर आंचलिकता का प्रभाव अधिक है।[42]

---

40. मनोरमा शर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1984 पृ०सं० 32
41. वही – पृ०सं० 33
42. मनोरमा शर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1984 पृ०सं० 34

लोकसंगीत के वाद्य भी अपनी विशेषता शास्त्रीय संगीत के वाद्यों से कुछ कम नहीं रखते। महाराष्ट्र के लोकगीतों में ढोलकी, तुनतुने, डफ, मंजीरी का प्रयोग करते है। राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश में ढोल, बाँसुरी, डफ का, मध्य प्रदेश पंजाब के लोक संगीत में ढोलक। काश्मीरी तथा हिमाचली गीतों में ढोलक के साथ तुंबक नाड़ी और कभी-कभी बैगपाईपर का उपयोग करते हैं। आसाम नागा जैसे जंगली प्रदेश में भी बड़े-बड़े ढोल रहते हैं। दक्षिण भारत के लोकगीतों में मृदंग, पखावज, मंजीरी, शहनाई, नागसुरम् का उपयोग किया जाता है।[43]

कृषक हो या अधिपति, निर्धन हो या धनवान इस धरती पर समान भाव से गीतों की गुंजार हर कोने में प्रतिध्वनित होती हुई सुनाई देती है। इसीलिये लोकगीत व लोकसंगीत जन जीवन का एक अभिन्न अंग है।[44]

विभिन्न प्रांतों के लोक संगीतों में ताल–

प्रकृति का रूप लय में प्रकट होता है। अतः मानव का संपूर्ण संगीत लय से प्रभावित होता है। आदिम जाति के लोगों ने पहले अपना ध्यान लय पर केन्द्रित किया और मधुर स्वर-रचना की बात सोचने के बहुत पहले इसी का विकास किया। यह लय ही है जिससे सर्वप्रथम मस्तिष्क में कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा अथवा इच्छा जाग्रत हुई। समूचे विश्व में संगीत के विकास का यही प्रथम चरण रहा। समय के साथ-साथ लयगत-गति को सजीव बनाने में अवनद्ध वाद्य की संगति की आवश्यकता महसूस हुई। बाद में जब लय और अवनद्ध वाद्य से किसी प्रकार के आनंद की सृष्टि नहीं हुई तो क्लान्त मन में नया जोश भर उसे ताजगी प्रदान करने के लिये मधुर स्वर-रचना की आवश्यकता हुई।[45]

लय अथवा ताल भारतीय संगीत का एक अद्वितीय अंग है। भारतीय संगीत में पाये

---

43. अशोक पेडणेकर – **संगीत कला विहार** – अगस्त, 1969 पृ०सं० 26
44. लीला सोमानी – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1986 पृ०सं० 23
45. विजय राघवन – **संगीत (पत्रिका)** – दिसम्बर, 1967 पृ०सं० 15

जाने वाले लय के अगणित प्रकार अत्यंत आश्चर्यजनक हैं। 35 शूलादि ताल और चप्पू ताल के चार प्रकार तथा कई संगीतमय ताल हैं। भारतीय संगीत का विकास अगणित प्रमुख संगीत शास्त्रियों की उपलब्धि का परिणाम है। जिन्होंने राजा-महाराजाओं के दरबारों को अलंकृत किया। उन्होंने शास्त्रीय संगीत धार्मिक संगीत और ऑपेरा क्षेत्र में अपने बहुमूल्य योगदानों से भारतीय संगीत को समृद्ध बनाया। भारतीय संगीत के इतिहास में दक्षिण भारत में त्यागराज क्षेत्रज्ञ और पुरंदर दास तथा उत्तर भारत में सूरदास तुकाराम एवं शंकर देव जैसे प्रतिष्ठित वाग्गेयकारों का प्रमुख स्थान है। यह आश्चर्यजनक है कि इनमें से शास्त्रीय संगीत के प्रमुख विद्वान हमारी मिट्टी के लोकगीतों की भावना से प्रेरित हुये। यह सिद्ध करने के कई उदाहरण हैं कि अनेक संगीत-शास्त्रियों ने लोक-संगीत की पद्धति अपनाई यह एक आधार है जिस पर बाद में शास्त्रीय संगीत का विकास हुआ।[46] लोक-संगीत की मनोहर एवं सजीव धुनों में साहित्य जोड़कर कई महान वाग्गेयकारों ने इन लोकगीतों को अमर बना दिया।

विद्वानों के अनुसार यदि शास्त्रीय-संगीत की उत्पत्ति लोक-संगीत से हुई है तो निश्चय ही लोक-संगीत अपने आप में पूर्ण होना चाहिये। लोक-संगीत का निर्माण स्वाभाविक है, इसको समझकर जब हम विश्लेषण करके नियमबद्ध करते हैं तब वह 'लोक' से हटकर शास्त्रीय रूप धारण करता है। इस प्रकार बना हुआ शास्त्रीय संगीत निश्चय ही अपने आप में एक पूर्ण वस्तु हो जाता है। वह मूल 'लोक' रूप से अधिक सुसंस्कृत और व्यवस्थित होता है।[47] संगीत 'शास्त्रीय' हो अथवा 'लोक', सुंदरता उसकी "ताल" ही है। गीत, वाद्य एवं नृत्य की प्रतिष्ठा 'ताल' पर ही हुई है एवं प्रतिष्ठावाचक धातु-रूप 'तल' से 'ताल' शब्द की व्युत्पत्ति 'संगीत रत्नाकर' में उद्धृत है। 'संगीतार्णव' में ताण्डव (पुरुष) नृत्य के 'ता' तथा 'लास्य' (स्त्री) नृत्य के 'ल' वर्णों के संयोग से ताल शब्द की व्युत्पत्ति दर्शायी गयी है। 'संगीत दर्पण' में ताकार से शंकर या शिव और 'लकार' से पार्वती या शक्ति दोनों का योग ताल कहा गया है।

---

46. विजय राघवन – **संगीत (पत्रिका)** – दिसम्बर, 1967 पृ०सं० 16
47. कुमार गन्धर्व – **संगीत (पत्रिका)** – जनवरी, 1966 पृ०सं० 25

'रागार्णव' ग्रंथ में 'उभयकर तालाघातोंत्पन्न' ध्वनि को ताल ग्रहण करने की क्रिया कहा गया है। नरहरि चक्रवर्ती ने 'भक्ति रत्नाकर' ग्रंथ में 'त' से 'कार्तिकेय' आकार से विष्णु तथा 'ल' से मारुत इन तीनों देवताओं द्वारा अधिष्ठित शब्द को 'ताल' कहा है। 'ताल' शब्द की व्युत्पत्ति में ऐसे लक्षण प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध हैं। इस हेतु जिन तथ्यों को आधार लिया गया है मूलतः उनके भावों में पार्थक्य नहीं है। अखंड काल-गति को छंद या पदों में विभाजित करने के जो प्रयोग हुये उन्हें ही 'ताल' कहा गयाहै।[48] उल्लेख है कि ब्रह्मादि देवगणों एवं भरतादि ऋषियों ने महादेव के सम्मुख जिस संगीत का प्रदर्शन किया उसे "मार्ग संगीत" कहा गया एवं मार्ग संगीत में चच्चपुत, चाचपुत सम्पक्वेष्टाक, उद्घट्ट, षटपितापुत्रक इन पंचमार्गतालों के प्रयोग हुये । मार्ग तालों को स्वर्ग एवं देशी तालों को इस भूतल के रंजन हेतु माना गया शास्त्राधार है कि देशी तालों की उत्पत्ति मार्ग तालों से हुई एवं उनकी तीन जातियाँ मानीं गयीं-शुद्ध, सालग एवं संकीर्ण। संगीत में छन्द और ताल ही यथार्थतः स्वरों को गीत प्रदान करते हैं। ताल संगीत को एक निश्चित नियम या समय के बंधन में बाँधती है तथा संगीत में विभिन्न सौंदर्यपूर्ण विकास करती है। उससे संगीत के संयम की रक्षा होती है।

प्रायः सभी लोकगीतों में कहरवा, खेमटा, दादरा, हिंच दीपचंदी जैसे ठेकों का उपयोग होता है। गुजराती, गरबा, मराठी, कोली-गीत (माँझी गीत) में खेमटा और हिंच का प्रयोग विपुल मात्रा में होता है। कहरवा तो पंजाबी गीतों का प्राण है। पहाड़ी प्रदेश में ढोल-नगाड़े के विशेष ठेकों का उपयोग करते हैं। गोवा में "घुमट" नामक मिट्टी के वाद्य पर हिंचका ठेका लगाते हैं। संक्षेप में कहा जाये तो लोगों ने उत्स्फूर्तता से निर्माण किया हुआ संगीत देश की विविध संस्कृति का प्रतीक है।[49] लोक संगीत को ताल में बद्ध करना उसके स्वरों पर निर्भर करता है। साधारणतया लोक धुनें चार-पाँच स्वरों में सीमित हैं। क्वचित धुनों में ही छह स्वर मिलते हैं। जिनकी संख्या निश्चय ही बहुत कम है। लोक धुनों की दूसरी विशेषता यह है कि लोक-धुनें लयबद्ध होती हैं। लय सूचक कोई वाद्य लोक धुन गाते समय न बजाया जाने के कारण ऐसा आभास होता है कि केवल धुनों में स्वर का

48. कुमार गन्धर्व – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1965 पृ०सं० 23
49. अशोक पेडणेकर – **संगीत कला विहार** – अगस्त, 1969 पृ०सं० 27

महत्व है, परन्तु अधिक ध्यान दिया जाये तो लय स्पष्ट दिखायी देती है।[50] नृत्य के साथ जो धुनें गायी जाती हैं, उनमें लय ढोलक की संगति के कारण स्पष्ट व्यक्त होती है। आश्चर्य की बात यह है कि लय के अनेक प्रकार लोक-धुनों में मिलते हैं। समान भाग की लय, जो कि सरल होती है और क्लिष्ट विभाजन की लय जिसमें हिस्से समान नहीं होते, ऐसे दोनों ही प्रकार लोक-धुनों में पाये जाते हैं। एक ही ताल में अनेक गीत गाये जाते हैं किन्तु गीत के बोल भिन्न होने के कारण और विशेषतः लय परिवर्तन होने से वे एक-दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। स्वर-रचना करने के पश्चात ही ऐसी विभिन्न धुनें ज्ञात होती हैं।[51] लोक-धुनें लोक भाषा में होती हैं, यह सभी जानते है। लोक-भाषाओं की विशेषताओं को देखा जाये तो वे सरल और आडम्बरहीन होती हैं। उनमें क्लिष्ट शब्दों का अभाव होता है। इसलिये सरलता पूर्वक भावों को व्यक्त किया जाना उनमें स्वाभाविक है। शास्त्रीय संगीत में काव्य का महत्व लोकगीतों जैसा नहीं होता। दो पंक्तियों में एक लम्बी कहानी का चित्रण उसमें किया जा सकता है। लोक-भाषायें नादमयी होती हैं और इसी कारण आज तक जितनी बंदिशे गायी जाती रही हैं, वे सब प्रायः राजस्थानी, मालवी, ब्रज, पूरबी, पंजाबी आदि में मिलती हैं, वस्तुतः बंदिशें लोकभाषा में बनती रहीं।

तरह-तरह की लोकभाषाओं के साथ ही भिन्न-भिन्न तालों का भी प्रयोग किया जाता है। अर्थात् अधिक चंचलता पूर्ण गीतों अथवा धुनों के साथ कहरवा ताल का अधिक प्रयोग किया जाता है तथा सात मात्रा, छह मात्रा आदि को भी अच्छी तरह से द्रुत लय में संगत करके बजाया जाता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं के गीत भिन्न-भिन्न लयों अथवा तालों में मध्य लय व द्रुत लय में बजाये जाते हैं। प्रस्तुत हैं कुछ भिन्न भाषाओं के विभिन्न लोकगीत—

हिमाचली लोकगीत (चम्बायली) **दादरा ताल (द्रुत लय)**

ले० केशव आंनद

---

50. कुमार गन्धर्व — **संगीत (पत्रिका)** — जनवरी, 1966 पृ०सं० 26
51. कुमार गन्धर्व — **संगीत (पत्रिका)** — जनवरी, 1966 पृ०सं० 27

स्थायी–

मैं त्रकड़ी तू तोल, ओ दिन कैसे थे,
सच बोल। ओ दिन कैसे थे।

अंतरा–

मैं जिभलू तू बोल, ओ दिन कैसे थे, सच बोल।
तू गजरा मैं डोर, ओ दिन कैसे थे सच बोल।
लगेया चरान पया बूर, ओ दिन कैसे थे सच बोल।
सांझ होई घर बड़े दूर, ओ दिन कैसे थे सच बोल।
काकड़ी-घंडोली दे चोर, ओ दिन........................।[52]

x	o	x	o
रे – –	रे प म	म ग रे	रे – ग
मैं ऽ ऽ	त्र क ऽ	ड़ी ऽ ऽ	तू ऽ ऽ
ग सा ऽ	सा सा ऽ	ऩि – सा	रे सा –
तो ऽ ऽ	ऽ ल ऽ	ओ ऽ ऽ	दि न ऽ
रे – सा	ऩि – ध	प़ – –	प़ ऩि –
कै ऽ ऽ	से ऽ ऽ	थे ऽ ऽ	स च ऽ
स – –	– सा रे	ओ दिन कैसे थे.....पूर्ववत।	
वो ऽ ऽ	ऽ ल ऽ		

शेष चरण भी इसी प्रकार गाये जायेंगे।

इसी प्रकार दादरा ताल में और भी बहुत से लोकगीत प्रचलित हैं जिनको अनेकों

52. केशव आनन्द – **संगीत पत्रिका** – मार्च, 1998 पृ०सं० 38

त्यौहार अथवा विशेष अवसरों पर गाया जाता है। इन्हीं में से एक गीत है निमाड़ी विदाई गीत अथवा 'सिखावण'। "निमाड़ में विवाह के समय पुत्री को विदा करते हुए माँ यह सुंदर 'सिखावण' देती है।"

निमाड़ी विदाई गीत **ले० संतोष गुर्जर**

दादरा ताल (मध्य लय)

मात कहे बात भली कान देवो स्याणी, कुल ना लजावजे।
लक्षधरी बात नऽ निभावजे वोस्याणी कुल ना लजावजे!!

1. ससरा ख ऽ अपणा बाप सरी मानजे।
   सासु ख ऽ माय सरी लेखजे वो स्याणी, कुल ना लजावजे

2. जेठजी ख ऽ अपणा बाप सरी मानजे।
   जेठानी कह्यो मति टालजे वो स्याणी, कुल ना लजावजे।

3. ननद ख ऽ अपणी बईण सरी मानजे
   नण्दोई को मान निभावजे वो स्याणी, कुल ना लजावजे।

4. कुल कीर्ति ख ऽ निभावती रहयजे, सबकी सेवा करती रहयजे
   कुटुम हिलई-मिलई रहयजे वो स्याणी, कुल ना लजावजे।[53]

स्थायी–

x	o	x	o	x	o
ग – ग	ग ग रे	स – रे	स नि़ –	स – ग	ग – ग
मा ऽ त	क हे ऽ	बा ऽ त	भ ली ऽ	का ऽ न	दे ऽ वो

---

53. संतोष गुर्जर – **संगीत पत्रिका** – सितम्बर, 1997 पृ०सं० 45

-ग – म	प – –	ग म प	प प म	ग – स	स – प
स्याऽ ऽ ऽ	णी ऽ ऽ	कु ल ना	ऽ ल ऽ	जा ऽ व	जे ऽ ऽ
प – प	प प –	प नि प	प म –	म ग ग	ग स स
ल ऽ क्ष	ध री ऽ	बा ऽ ट	न नि ऽ	भा ऽ व	जे ऽ वो
-ग – म	प – –	ग म प	प प म	ग – स	स – –
ऽस्या ऽ ऽ	णी ऽ ऽ	कु ल ना	ऽ ल ऽ	जा ऽ व	जे ऽ ऽ

अन्तरा–

x	o	x	o	x	o
ग ग ग	– ग रे	रे स –	स – –	ग भ म	म ग ग
स स रा	ऽ ख ऽ	अ प ऽ	णा ऽ ऽ	बा ऽ प	स री ऽ
स रे स	स – प	प – प	– प –	प नि प	प म –
मा ऽ न	जे ऽ ऽ	सा ऽ सु	ऽ ख ऽ	मा ऽ य	स री ऽ
म ग ग	ग स स	-ग – म	प ऽ ऽ	ग म प	प प म
ले ऽ ख	जे ऽ वो	ऽस्या ऽ ऽ	णी ऽ ऽ	कु ल ना	ऽ ल ऽ
ग – स	स – –				
जा ऽ व	जे ऽ ऽ				

शेष अंतरे भी इसी प्रकार गाये जायेंगे।[54]

विनायक का अपभ्रंश 'विन्याक' है। विवाहादि के शुभ कार्यों के आरम्भ में इस गीत को महिलायें सामूहिक रूप से गाती हैं। कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ यह गीत मालना के अतिरिक्त राजस्थान, निमाड़ और गुजरात के कुछ भागों में भी गाया जाता है। यह गीत 'दीपचंदी ताल' की मध्य लय में गाया जाता है।

---

54. संतोष गुर्जर – **संगीत पत्रिका** – सितम्बर, 1997 पृ०सं० 45-46

चालो गजानन जोसी क्यां चालां — **ले० डा० प्यारे लाल श्रीमाल**

तो आछा-आछा लगना मोलावां गजानन — **"सरस पंडित"**

कोटा री गादी पे नोबत बाजे।

नोबत बाजे, इन्दरगढ़ गाजे तो।

झीनी-झीनी झालर बाजे गजानन

कोटा री गादी पे नोबत बाजे।[55]

दीपचन्दी ताल (मध्य लय)

x	2	0	3
स — —	ग — रे —	स — —	नि़ — ध़ —
चा ऽ ऽ	लो ऽ ग ऽ	जा ऽ ऽ	न ऽ न ऽ
नि़ — —	ग — रे —	स — —	स — स रे
जो ऽ ऽ	सी ऽ क्यां ऽ	चा ऽ ऽ	लां ऽ तो ऽ
ग ग —	म — म —	ग म —	स — रे —
आ छा ऽ	आ ऽ छा ऽ	ल ग ऽ	ना ऽ मो ऽ
ग — —	म — रे —	ग — —	रे — स —
ला ऽ ऽ	वां ऽ ग ऽ	जा ऽ ऽ	न ऽ न ऽ
स — —	ग — रे —	स — —	नि़ — ध —
को ऽ ऽ	टा ऽ री ऽ	गा ऽ ऽ	दी ऽ पे ऽ
नि़ ऽ ऽ	ग — रे —	स — —	स — — —
नो ऽ ऽ	ब ऽ त ऽ	बा ऽ ऽ	जे ऽ ऽ ऽ

55. डॉ० प्यारे लाल श्रीमाल — **संगीत पत्रिका** — मई, 1996 पृ०सं० 28
"सरस पंडित"

महाराष्ट्र के लोकगीत–

महाराष्ट्र में अनेक प्रकार के लोक गीत प्रचलित हैं। महाराष्ट्र में कलगी तुरा नामक जो गीत गाया जाता है, उनमें लावणी के विभिन्न प्रकार प्रचलित हैं। कलगी तुरा गाने वालों के दो अलग-अलग संप्रदाय होते हैं, जो परस्पर विरोधी होते हैं। मराठवाड़ा में जो कलगी तुरा गाया जाता है वह प्रश्नोत्तर का एक रूप है, और महाराष्ट्र के कलगी तुरे से भिन्न है। कलगी के उदाहरण, जो लावणी के प्रकार हैं प्रस्तुत हैं। इनके काव्य में आध्यात्मिक दृष्टिकोण पाया जाता है, जो 'सूफी संप्रदाय' तथा 'महानुभाव संप्रदाय' से प्रभावित है। 'बीर' की लावणी का जो उदाहरण है, वो ग्रामीण उर्दू में है। यह लोकगीत सात मात्रिक अर्थात रूपक ताल में निबद्ध है जो इस प्रकार है। इसके लेखक ''लुभाल'' हैं।[56]

किला कांगड़ा...............

ले०–''लुभाल''

किला कांगड़ा कालीधार मइया तै बैकुंड बणाया।

किनी तां मइया तेरा भवन बणाया, किनी तां कलस चढ़ाया। मइया...........

पंजे पांडवें मइया भवन बणाया, कृष्णे से कलस चढ़ाया। मइया.........

स्थायी–

सात मात्रिक (रुपक ताल द्रुत)

0	2	3	0	2	3
स स –	ग –	ग –	म – –	प –	प –
कि ला ऽ	कां ऽ	ग ऽ	ड़ा ऽ ऽ	का ऽ	ली ऽ
प नि					
ध ध प	म ग	ग –	म – –	पध नि	नि –
धा ऽ ऽ	र ऽ	मइ ऽ	या ऽ ऽ	तैंऽ ऽ	बै ऽ

56. लुभाल – **संगीत पत्रिका** – अक्टूबर, 1998 पृ०सं० 41

नि	म	नि			
ध प –	प ध	ध प	(म) – ग	ग –	– –
कुं ऽ ऽ	ठ ऽ	ऽ ब	णा ऽ ऽ	या ऽ	ऽ ऽ

अन्तरा–

स स –	ग –	ग –	म – –	पध नि	नि –
कि नी ऽ	तां ऽ	मइ ऽ	या ऽ ऽ	तेऽ ऽ	रा ऽ
प	म	नि			
ध ध प	प ध	ध प	(म) – ग	ग –	– –
भ व ऽ	न ऽ	ऽ ब	णा ऽ ऽ	या ऽ	ऽ ऽ
			नि	गं	
सं सं –	सं ऽ	सं ऽ	सं रें रें	सं –	नि ध
कि नी ऽ	तां ऽ	ए ऽ	क ल ऽ	स ऽ	च ऽ
	ग म				
(प) – –	म गग	ग –	म – –	पध नि	नि –
ढ़ा ऽ ऽ	या ऽऽ	मइ ऽ	या ऽ ऽ	तैंऽ ऽ	बै ऽ
नि	म	नि			
ध प –	प ध	ध प	(म) – ग	ग –	– –
कुं ऽ ऽ	ठ ऽ	ऽ ब	णा ऽ ऽ	या ऽ	ऽ ऽ [57]

स्वरकार– गुलाम रसूल

इसी प्रकार ऋतुओं पर भी लोकगीत तैयार किये गये हैं जो अनेक भाषाओं में गाये जाते हैं। प्रस्तुत है हिमाचली लोकगीत जिसके लेखक "केशव आनंद" हैं–

---

57. गुलाम रसूल – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर,'1998 पृ०सं० 42

हिमाचली लोकगीत

हथडू मांडड़े ठरी ओ जांदे, **रुपक ताल**

पैरां तो लगदा पाला भइया।

इतड़ी धारा उतड़ी धारा

ऊपर डेरा तेरा भाइया

चम्बा तेरा सैहर सोहणा,

दो नदियां दो घेरा भाइया।

टढ़ी-मेढ़ी रावी जे बगदी

ठंडड़ा पाणी पीणा भाइया।[58]

अर्थात—

(ठंड से हाथ-पैर ठंडे हो जाते हैं, इधर-उधर पहाड़ी के ऊपर तुम्हारा डेरा है। दो नदियों के घेरे में आकर्षक चम्बा शहर है। टेढ़ी-मेढ़ी बहती रावी का ठंडा पानी पीना है।

0	2	3	0	2	3
				ग सा	
प प ग	सा -नि़	ध़नि़ प़	ध़सा सा सा	रेरे रेग	ग —
ह थ डू	मां ऽऽ	डऽ ड़े	ठऽ री ओ	जांऽ ऽऽ	दे ऽ
ग ग ग	म मध	प प	मग रेग सा	रेरे रेग	ग —
पैं रां जो	ल गऽ	दा ऽ	पाऽ ऽऽ ला	भाऽ ऽइ	या ऽ

शेष भी इसी प्रकार गाया जायेगा।

---

58. केशव आनन्द – **संगीत पत्रिका** – मई, 1998 पृ०सं० 43

लोकगीतों की शृंखला में श्रीकृष्ण की मुरली भी पूरी तरह से मिठास देती है। श्याम की मुरली पर अनेकों गीत रचे गये हैं और माखन तो जुड़ा ही श्रीकृष्ण के नाम से है। अनगिनत लोकगीत श्रीकृष्ण के नाम से जुड़े हैं इन्हीं में से एक गीत है–"मुरली सुर मधुर बजाओ श्याम"..........................

गीत

मुरली सुर मधुर बजाओ श्याम, जग मोहिनी रास रचाओ श्याम।

लय-ताल रुचिर अरु गीत मधुर, रस रंग संग पुनि गाओ श्याम।

1. ओ बाँके बिहारी कदम तले– मन भावन छटा दिखाओ ना।

   यह माखन लो, मनुहार करें, खाओ, ग्वालों को खिलाओ ना।

   कब सुनोगे टेर हमारी ओ गिरधारी– अब आ जाओ श्याम!

2. कैसे हो तुम ब्रजराज निठुर, सुध तो लो मोर मुकुट धारी।

   ये गोप-ग्वाल-सखियाँ उदास, तरुवर लतिका यमुना हारी।

   मथुरा में रमे, हमको भूले, तड़पे बहु-ना तड़पाओ श्याम।

3. दानव की बाढ़ लगी ऐसी, तुमरे युग में ना थी ऐसी,

   ये दया धर्म को क्या जाने गठ जोड़ बढ़ी भगवन कैसी?

   ब्रजवीर मुरारी विनय सुनो–दुष्टों से भक्त बचाओ श्याम।

4. मुरली सुर मधुर बजाओ श्याम, जग मोहनी रास रचाओ श्याम

   लय-ताल रुचिर अरु गीत मधुर, रस रंग-संग पुनि गाओ श्याम

   मुरली.......................... ।[59]

---

59. एच० हरेन्द्र जोशी – **संगीत (पत्रिका)** – मार्च, 1999 पृ०सं० 17

तीन ताल (मध्य ताल)

स्थायी–

x	3	x	2
			ग प
			मु र
रे	प	प घ	
ग – ग रे	ग रे ग प	ध – ध प	– प स रे
ली ऽ सु र	म धु र ब	जा ऽ ओ श्या	ऽ म, ज ग
		सं	
ग – ग रे	ग प प ग	ध – सं प	– प गं रें
मो ऽ ह नी	रा ऽ स र	चा ऽ ओ श्या	ऽ म, ल य
सं रें सं प	ध ध प ग	प स रे ग	प प रे ग
ता ऽ ल रु	चि र अ रु	गी ऽ त म	धु र, र स
रे		घ	
स – रे ध	– ध रे स	स ध ध प	– प ग प
रं ऽ ग सं	ऽ ग पु नि	गा ऽ ओ श्या	ऽ म, मु र [60]

अन्तरा–

x	3	x	2
			गरे स
			ओऽ ऽ
		ग	
स रे ग प	प – प ग	ग – प प	प – ग प
बाँ ऽ के बि	हा ऽ री क	द ऽ म्ब व	ले ऽ म न

60. एच० हरेन्द्र जोशी – **संगीत (पत्रिका)** – मार्च, 1999 पृ०सं० 18

नि ध – ध ध भा ऽ व न	ध धसं – प छ टा ऽ दि	ग प ग ध – खा ऽ ओ ऽ	प – ग रे ना ऽ, य ह
स रे ग प मा ऽ ख न	प – प ग लो ऽ म नु	ग ध – प प हा ऽ र क	प – ग प रें ऽ खा ऽ
नि ध – ध – ओ ऽ ग्वा ऽ	ध ध सं प प लों ऽऽ को खि	ग प ग ध – ला ऽ ओ ऽ	प – प ध ना ऽ, क ब
सं सं – सं सु नो ऽ गे	सं – रें गं टे ऽ र ह	सं रें – सं – मा ऽ री ऽ	सं प ध प ग ओ ऽ गि र
ध – प – घा ऽ री ऽ	स रे सरे ध अ ब आऽ ऽ	ध ध ध प जा ऽ ओ श्या	– प ग प ऽम, मु र

इसी प्रकार अन्य गीतों के समान ही पंजाबी गीत भी अपने आप में एक चंचलता का भाव लिये हुये होते हैं तथा पंजाबी गीतों में ताल का अलग ही रूप देखने को मिलता है। पंजाबी गीतों के दो रूप गिद्धा तथा भांगड़ा होते हैं। भांगड़ा गीत की ताल आरंभ होते ही पैर थिरकने लगते हैं तथा नृत्य करने की इच्छा स्वयमेव ही जागृत हो उठती है।

पंजाबी गीत

फुल्ली तां फुल्ली पिया जी नागर बेल, किती वे फुल्लयां फुल्ल गुलाब दा,

चैत न जायो पिया जी बसाख न्यहाल्यो, चैत महीने कुज्जां फुल्लियां।

बसाखे न जायो पिया जी जेठ न्यहाल्यो, बसाख महीने दाखां पक्कियां,

जेठे न जायो पिया जी हाड़ न्यहाल्यो, जेठ महीना पखुआ झोलिये।

हाड़े न जायो पिया जी सौण न्यहाल्यो, हाड़ महीने अम्बुए पक्कदे,

सौणे न जायो पिया जी भादो न्यहाल्यो सौण महीने पीगां झूट्टिए।[61]

कहरवा ताल

x	0	x	0
– धस स स	रेम म मध निध	म मधप म,ग रेग	(स) गरे रे –
ऽ फु ल्ली तां	फुऽ ल्ली पिया जीऽ	ना ऽऽऽ ऽ,ग रऽ	बे ऽऽ ल ऽ
– सरे पम प	ग गस रेम म,ग –	(रे) – – सनि़	स – – –
ऽ किऽ तीऽ वे	फु ल्या फु ल्लगु	ला ऽ ऽ बऽ	दा ऽ ऽ ऽ

संपूर्ण गीत इसी धुन में गाया जायेगा।

अंत में शोधकर्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि लोक संगीत मानव की सहज प्रवृति का श्राव्य रूप है। शास्त्रीय संगीत मानव की सृजनात्मक कुशलता का प्रतीक है। लोक संगीत निर्मिति के प्रेरणा स्रोत विविध थे। वायु की साँय-साँय ध्वनि, झरनों का कल-कल, बांसकुञ्ज से आने वाली सीटी जैसी ध्वनि, बिजली का कड़कना, बादलों का गरजना, पक्षियों की चहचहाहट तथा पशुओं की विविध ध्वनियाँ, ये सभी प्रकृतिस्थ नाद हो लोक-संगीत के जनक थे। अनुकरण भी मानव की सहज-प्रवृत्ति रही है। आदिमानव प्रकृति में निर्मित उन ध्वनियों का अनुकरण करने के लिये जब गुनगुनाने लगा, तब कोई ध्वन्यावली बन गई जिसे आज हम धुन कहते हैं तथा धुन के विस्तार से बना लोक-संगीत। शोधकर्त्री के अनुसार निष्कर्ष यही निकलता है कि लोक-संगीत लय-प्रधान होता है। लय

61. डा० मनोरमा शर्मा, संगीत (पत्रिका) अप्रैल 1998 पृ०सं० 36

मानव देह का एक अविभाज्य अंग है। मानव जीवन का प्रत्येक कार्य भी लय-प्रधान है जैसे हमारा चलना, बोलना, साँस लेना, हमारे हृदय की धड़कन, रक्त प्रवाह अर्थात सभी कुछ लयबद्ध हैं। सुस्वरता व्यक्ति सापेक्ष होती है, किन्तु लय सार्वत्रिक होती है। समष्टि का सम्मिलन लोक संगीत की प्रमुख विशेषता होने से शास्त्रीय संगीत की भाँति इसमें सुस्वरता पर बल नहीं है, महत्व है—लय का। इसी कारण बाल, वृद्ध, स्त्री-पुरुष लोक संगीत के आनंद निधि को भरपूर लूटते हैं। भारत जैसे खण्ड प्रायः देश में विविध आंचलों में लोक-संगीत के संगति के वाद्य अति विपुल एवं विविध हैं। शास्त्रीय संगीत के सभी वाद्यों के जनक के वाद्य ही हैं। डमरु से विविध ताल वाद्य बनें। इकतारा से अनेक तत् तथा वितत् वाद्य बने। लोक संगीत का आधार ही ताल है।

लोक गीत बिना वाद्यों के पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। किसी भी क्षेत्र का लोक संगीत हो वह ताल वाद्यों के बिना अधूरा है। आत्मा रहित शरीर, अर्थात् केवल शरीर बेजान यानी निर्जीव/स्वर व ताल एक-दूसरे के पूरक हैं और यह बात लोक संगीत में उभर कर दिखाई देती है।

कहने का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार लोक संगीत लोकप्रिय होता है, उसी प्रकार तालबद्ध संगीत अतिलोकप्रिय, लुभावना तथा रसीला होता है। ताल रहित संगीत रसहीन ही प्रतीत होगा।

-x-x-x-x-x-x-x-x-x-x-

विभिन्न प्रान्तों के लोक-नृत्यों में ताल

हमारे देश की भव्य संस्कृति में 'संगीत' एवं नृत्य का विशेष महत्व है। प्राचीन काल से ही लोक जीवन में इनका महत्व चला आ रहा है। आज हमारे देश में विभिन्न प्रकार के अनेक श्रेष्ठ नृत्य देखने को मिलते हैं। क्षेत्रीय व प्रादेशिक सीमाओं को तोड़कर मणिपुरी, कत्थक, भरतनाट्यम और गरबा आदि लोक नृत्य भारतीय जन मानस में अपना स्थान बना चुके हैं। नृत्य में कलाकार भारतीय रूप से संगीत की लय व ताल में इस तरह बह जाता है कि उसे न तो शरीर की सुध-बुध रहती है और न ही वाह्य क्रियाओं का उसके मन मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है, बल्कि वह तो संगीत में अपने को आत्मसात करना चाहता है। संगीत की हर पंक्ति उसे अपने लक्ष्य में मार्ग दर्शन प्रदान करती है।[1]

मानव मात्र में नृत्य से प्रेम की प्रवृति सहजात होती है। एक से दो वर्ष के बच्चों को अकसर देखा जाता है कि जब वे कोई वस्तु पाकर बहुत प्रसन्न हो उठते है तो ठुमक-ठुमक कर नाचने लगते हैं। भले ही बालकृष्ण की तरह पैंजनिया उनके पैरों में न हो।[2] मानव जीवन के किसी भी क्षेत्र पर ध्यान दिया जाये, नृत्य प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई देता है, चाहे वह धार्मिक क्षेत्र हो चाहे विवाह आदि हो, युद्ध या त्यौहार हो सभी जगह नृत्य का अवश्य समावेश है।

इसी प्रकार धार्मिक नृत्यों का स्वरूप कई प्रकारों में विकसित हुआ है। कुछ नृत्य तो ऐसे हैं जो मात्र पूजा भावना पर आधारित हैं। उनमें लोकमूथ एकत्र होकर विभिन्न अवसरों, पर्वो और मेलों में किसी विशिष्ट मंदिर अथवा स्थान में उन नृत्यों का प्रदर्शन करते हैं, गीत गाते हैं और भावातिरेक में विभिन्न प्रकार के नट-कौशल प्रस्तुत करते हैं।[3] दूसरे वे धार्मिक नृत्य होते हैं जिनमें नृत्यकार की कल्पना जाग्रत होती है। नर्तक विभिन्न पौराणिक कथाओं को आधार बनाकर स्वयं अपनी कल्पना से देवी-देवताओं का रूप

1. श्याम मनोहर व्यास – **संगीत (पत्रिका)** – अप्रैल, 1985 पृ०सं० 48
2. महेश चंद्र शांडिल्य 'श्रीरंग' – **संगीत (पत्रिका)** – 1983 पृ०सं० 83
3. केशव चंद्र वर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1970 पृ०सं० 29

बनाता है और इसके विपरीत दूसरा नर्तक नृत्य की पूर्व संयोजना के अनुसार किसी राक्षस अथवा असुर का रूप धारण करता है। देवता द्वारा असुर दल की पराजय दिखाकर वे बहुश्रुत जन-भावना "असत पर सत की विजय" का प्रदर्शन करते हैं। अंततः लोक मंगल की भावना की प्रतिष्ठा करते हैं। इस प्रकार लोक नृत्य या नृत्य-नाट्य हर प्रदेश में अत्यंत स्वाभाविक रूप में देखे जा सकते हैं। धार्मिक नृत्यों का मानवीय स्वरूप भी जिस प्रकार इन नृत्यों के माध्यम से उभरा है वह भी लोक-चेतना का एक अद्भुत स्तर है। राधा और कृष्ण की अनंत प्रेम-लीलायें जो नृत्यों में आई हैं वे उन्हें धार्मिक रूप की अपेक्षा सहज मानवीय रूप में रंग देती हैं। प्रेम की ये लीलायें धार्मिकता को प्राधान्य नहीं देतीं।[4]

आदिकाल से ही संगीत मानव-जीवन का एक अत्यंत अभिन्न अंग माना गया है। ऐसा विश्वास माना जाता है कि वेदों में कहा गया है कि युवतियां तरह-तरह के समारोहों में तथा वरुण देवता को संतुष्ट करने के लिये गायन तथा यज्ञ के चारों तरफ नृत्य करती थीं। भागवतोत्तमो का विश्वास रहा है कि कलाकार के आंतरिक भावों की हस्तमुद्राओं द्वारा अभिव्यक्ति से भावाभिव्यंजना सरल हो जाती है और दर्शक भी गीत का मर्म आसानी से समझ सकते हैं। इस प्रकार उन्होंने भागवत गीता की प्रस्तुति आरंभ की।[5]

धर्म के अतिरिक्त जिस वस्तु ने इन लोक नृत्यों को विशेष गीत संचालनों और गठनों में बाँधा है वह है प्राकृतिक अथवा भौगोलिक स्थिति। विशिष्ट प्रदेशों के निवासियों के लोक नृत्यों में उन्हीं तत्वों की जाने या अनजाने विशिष्ट अभिव्यक्ति हुई हैं जो उस क्षेत्र की प्रकृति का अपना सहज श्रृंगार है। हिमालय के उत्तुंग गिरि-शिखरों की महानता और हिमशिखरों का रसोद्वेग पहाड़ी क्षेत्रों के लोक-नृत्यों में देखा जा सकता है।[6] लोक-नृत्य के विशेषज्ञों का इसी प्रकार का मत है कि मणिपुरी नृत्य का आंदोलन और तीव्र आवेग वाले अंग-संचालन मणिपुर प्रदेश के उन भयंकर तूफानों और झंझावतों को मुखरित करते हैं।

---

4. श्री केशव चंद्र वर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1970 पृ०सं० 29-30
5. श्रीमती राजी नारायण – **संगीत (पत्रिका)** – नवम्बर, 1990 पृ०सं० 43
6. श्री केशव चंद्र वर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1970 पृ०सं० 30

जिनके कारण बहुधा वृक्ष तक टूट-टूट कर गिरने लगते हैं। इसी प्रकार नागाओं के नृत्य की तीक्ष्ण जागरूकता एवं शंकाकुलता ही वे मूलाधार हैं जो बीहड़ वनों में किसी भी क्षण आने वाली आशंका के प्रति उनकी सतत् जागरुक चेतना को परिलक्षित करती हैं। मैदानों में थिरकने वाले लोक नृत्यों में जिस सहज मंथरता एवं शांति प्रियता के दर्शन होते हैं वह उस क्षेत्र के निवासियों की मूल प्रकृति का भी परिचायक है। इसी प्रकार आदिवासियों के लोक नृत्यों में उनके अंधविश्वासों से पूरित जादू-टोने के रहस्यमय क्षेत्रों की विचित्र अनुभूतियाँ दीख पड़ती हैं और सागर उद्दाम तरंगों का प्लावनमय गर्जन प्रायः समुद्र तट के मछुओं के गीत और नृत्य में मिल जाता है। इन सब तत्वों ने मिलकर लोक जीवन में अपने को ऐसा घुला मिला दिया है कि वह उनके नैमितिक जीवन का एक गतिमान अंश बन गया है।[7]

मनुष्य अपनी अनुभूति को प्रकट करने में शब्द बनाने से पूर्व भावों से आंदोलित होता है। भावों का निकास (प्रकटन) शरीर की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाओं द्वारा होता है। इसके साथ ही ध्वनि (शब्द) का जन्म होता है। इन सभी के द्वारा अभिव्यक्ति की पूर्णता का प्रयास मानव करता आया है। तात्पर्य यही है कि आज भी शब्दों के द्वारा अभिव्यक्ति की पूर्णता तक पहुँचना असंभव है। इसी के साथ नृत्य की सीमा असीम दृष्टिगोचर होती है। नृत्य शास्त्र के विकास में यह तथ्य ध्यान में रखना है कि नृत्य का मूल उद्देश्य भावाभिव्यक्ति ही है। ताल-लय सहित भावाभिव्यक्ति को ही नृत्य कहा गया है, परन्तु आज प्रायः प्रत्येक शैली के नृत्य में अत्यधिक महत्व लय-ताल को दिया जा रहा है, जिस कारण नृत्य का भावपक्ष दब गया है। नृत्य में लय-ताल के चमत्कारी आकर्षण से मोहविष्ट हो, हम ऐसा न करें कि भावाभिव्यक्ति के साध्य उद्देश्य को ही भूल जायें अपितु लय-ताल के प्रभाव को इस प्रकार दिखाया जाये कि नर्तक के साथ-साथ दर्शक भी नृत्य के लिये उत्सुक हो उठें।[8] लय नृत्य का मूल आधार है तथा ताल के अभाव में नृत्य का कोई अर्थ नहीं है,

---

7. श्री केशव चंद्र वर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1970 पृ०सं० 30
8. सुभाष दीक्षित – **संगीत (पत्रिका)** – मार्च, 1974 पृ०सं० 19

आकर्षण नहीं है। नृत्य चाहे शास्त्रीय हो अथवा लोक-नृत्य, लय ताल के अभाव में अधूरा है।

नृत्य चाहे कोई भी सीखा जाये उसमें वहाँ की लोक-संस्कृति, साहित्य धर्म व मानव जीवन की सीधी छाप दिखाई देती है।[9] लोक नृत्यों को देखकर नर्तकों की संस्कृति का तुरंत आभास हो जाता है। तरह-तरह की वेशभूषाओं, अनेक भाषाओं तथा विभिन्न नैतिक स्थितियों के बावजूद हमारी भारतीय संस्कृति जिस प्रकार एक सूत्र में अविच्छिन्न रूप से बँधी हुई है उसकी संपूर्ण सुदंरता अथवा संपूर्ण सौंदर्यानुभूति, जैसी कि हमारे लोक नृत्यों में प्राप्त होती है वैसी अन्यत्र कहीं प्राप्त होना अति दुर्लभ है। विभिन्न प्रदेशों के विभिन्न प्रकार के लोकनृत्यों में एक अलग ही उल्लास एवं रस बोध तथा भाव के दर्शन होंगे जिसमें एक भारतीयता का आभास होता है। भारतीय जन्मभूमि में धड़कता हुआ जन मानस उनकी गतिमयता में प्रत्येक पल मुखरित होता रहता है।

इसी प्रकार धार्मिक नृत्यों का स्वरूप कई प्रकारों में विकसित हुआ है। कुछ नृत्य तो ऐसे हैं जो कि मात्र पूजा-भावना पर आधारित हैं। उनमें लोकमूथ, एकत्र होकर विभिन्न अवसरों, पर्वों और मेलों में किसी विशिष्ट मंदिर अथवा स्थान में उन नृत्यों का प्रदर्शन करते हैं जैसे कि—गीत गाते हैं और भावातिरेक में विभिन्न प्रकार के नट-कौशल प्रस्तुत करते हैं। दूसरे प्रकार के वे धार्मिक नृत्य होते हैं, जिनमें नृत्यकार की कल्पना जागृत होती है। नर्तक विभिन्न पौराणिक कथाओं को आधार बनाकर स्वयं अपनी कल्पना से देवी-देवताओं का रूप बनाता है और इसके विपरीत दूसरा नर्तक नृत्य की पूर्व संयोजना के अनुसार किसी राक्षस अथवा असुर का रूप धारण करता है। देवता द्वारा असुर दल की पराजय दिखाकर वे बहुश्रुत जन-भावना "असत पर सत की विजय" का प्रदर्शन करते हैं।[10] अंततः लोक मंगल की भावना की प्रतिष्ठा करते हैं। इस प्रकार लोक-नृत्य या नृत्य-नाट्य हर प्रदेश में अत्यंत स्वाभाविक रूप में देखे जा सकते हैं। धार्मिक नृत्यों का मानवीय स्वरूप भी जिस

---

9. छाया भटनागर — **संगीत (पत्रिका)** — जनवरी-फरवरी, 1984 पृ०सं० 185
10. श्री केशव चंद्र वर्मा — **संगीत (पत्रिका)** — जून, 1970 पृ०सं० 29

प्रकार इन नृत्यों के माध्यम से उभरा है वह भी लोक-चेतना का एक अद्‌भुत स्तर है। राधा-कृष्ण की अनंत प्रेम-लीलायें जो नृत्यों में आई हैं वे उन्हें धार्मिक रूप की अपेक्षा सहज मानवीय रूप के रंग देती हैं। प्रेम की ये लीलायें धार्मिकता को प्राधान्य नहीं देतीं।[11]

हमारी वैदिक परंपरा के अनुसार ब्रह्मा ने भरतमुनि को प्रथम नाट्यशास्त्र सिखाया। नृत्य की उत्पत्ति शिव से हुई है। यह भी माना जाता है कि भरतनाट्यम नृत्य भगवान शिवजी ने नंदिकेश्वर को सिखाया और नंदिकेश्वर जी ने आगे चलकर यह विद्या भरत मुनि को सिखायी। चूँकि यह कला सर्वप्रथम शिव से निर्मिण हुई इसलिये शिव को नटराज अथवा नृत्य का राजा माना जाता है।[12]

कुछ नृत्य प्रकृति पर आधारित होकर भारतीय किसानी जीवन को प्रतिबिंबित करते हैं। आज अनेक प्रकार के लोक-नृत्य उनकी फसल की बुवाई, कटाई और शिकार की वृतियों पर आधारित हैं। ये नृत्य न केवल उनकी उन प्रवृतियों पर प्रकाश डालते हैं वरन् उनके बच्चों को अपने कुल की इन सभी मूल प्रवृतियों का परिचय भी देते चलते हैं। इसी प्रकार ऋतु संबंधी नृत्यों में भी उसी सामाजिक जीवन को गतिमयता का बोध होता है। उनकी इस प्रेरणा के स्रोत चाहे सावन के कजरारे मेघ हों या बसंत की मंद मधुमती बयार, या शरद के दुग्ध फेनिल पूर्णिमा, मूल रसानुभूति एक-सी ही होती है। इन लोक नृत्यों में वाह्य सामाजिक जीवन और अन्तर्मन जीवन और अन्तर्मन के भावोद्वेगों का रागात्मक संतुलन दिखाई पड़ता है।[13] लोक नृत्य की कला उन मूल मानवीय संवेगों को आधारभूत रूप से प्रस्तुत कर रही है जिनमें हमें प्रेम, करुणा, दया, राग, निश्छलता आदि अनेक मूल्यों के दर्शन होते हैं। उनमें कहीं कोई बनावटीपन या सभ्यता जनित कुरुपता अथवा अश्लीलता पर परदा डालने का संस्कृत प्रयास नीहित नहीं होता। इसी कारण ये लोक-नृत्य सुसंस्कृत एवं परिष्कृत रुचि बोध को चाहे ग्राह्य न हों, किन्तु वे अपने भीतर उन समस्त तत्वों को समाहित किये हुये हैं जो उन्हें महान बनाते हैं।

---

11. श्री केशव चंद्र वर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1970 पृ०सं० 29
12. नरसिंह सरंगी – **संगीत कला विहार** – जनवरी, 1978 पृ०सं० 13
13. श्री केशव चंद्र वर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1970 पृ०सं० 30

प्रायः सभी जातियों के लोक नृत्यों का अंदाज व तरीका अलग-अलग होता है लेकिन सभी का आधार भाषा व शब्दों के अर्थ लगभग समान होते हैं। लोकगीत की भाषा के अनुसार यह वह संगीत है जब जनसमूह अपने भावों और उमंगों का गाकर नृत्य द्वारा प्रकट करता है। इससे सहज ही उद्गार प्रकट होते हैं।[14]

देश के विभिन्न प्रदेशों के लोक नृत्यों ने न केवल राजधानी, अपितु सभी प्रांतों के प्रमुख नगरों के स्टेज पर स्थान पा लिया है। आदिवासी लोकनृत्यों की दृष्टि से मध्य प्रदेश व छोटा नागपुर आदि अधिक संपन्न हैं। जहाँ प्रकृति का एक-एक कण नृत्य की दशा में दिखायी दे तो वहाँ के निवासियों की और अधिक नृत्य के प्रति प्रवृति दिखायी देती है। नृत्य की परंपरा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। इसका उदाहरण है—आदिम जातियाँ। ये जंगली जातियाँ बड़ी धूम-धाम से और उत्साहपूर्वक अपने जातीय सामूहिक नृत्यों में भाग लेती दिखाई पड़ती है। विशेष प्रचलित आदिवासी-नृत्यों की तो एक बड़ी संख्या है—लेकिन निम्नस्थ नृत्य अधिक लोकप्रिय हैं जैसे कि करमा, सैला, दुर्ग, गेडी, युद्ध, शिकार लाठी, गैर नृत्य आदि।

आदिवासियों की नृत्य कला एक ओर आमोद-प्रमोद का सुलभ साधन है तो दूसरी ओर पौरुष के संवर्धन का नैसर्गिक माध्यम भी। आदिवासियों का सैला नृत्य पुरुष प्रधान समूह नृत्य है। यह नृत्य भारत की विभिन्न जन-जातियों कोरकू, गोंड, भील, हो, मुंडा आदि में किया जाता है। यह नृत्य भारत के प्रत्येक भाग के आदिवासियों ने अपनाया है तथा यह "डंडा नृत्य" के नाम से विख्यात है। अतः हाथों में दो-दो डंडे लेकर एक-दूसरे से टकराते हुये गोलाकार घूमते हुये आरंभ में मद्धिम गति में और इसके बाद की गति धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। आदिवासी युवक सिर में मयूर पंख को खोलकर तथा घुँघरू बाँधकर यह नृत्य करते हैं।

इस नृत्य की विविध शैलियाँ हैं, जिनको शिकार सैला, गरौनी सैला, लहवी सैला, सर्वनृत्य, हिरौनी सैला आदि कहा जाता है तथा विभिन्न प्रकार से यह नृत्य किया जाता है।

14. प्रो० विजय प्रवीण – **संगीत (पत्रिका)** – जुलाई, 1997 पृ०सं० 30

सैला नृत्य विभिन्न शैलियों में विभिन्न पर्व-त्यौहार जैसे—विवाह, दशहरा, दीवाली आदि अवसरों पर किया जाता है। इस नृत्य में ढोल, टिमकी, वंशी आदि वाद्ययंत्रों का विशेष उपयोग किया जाता है। आदिवासियों का जीवन कलामय है, ऐसा कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी। अधिकांश लोग कलाकार होते हैं। नृत्य एवं संगीत उनके जीवन का अंग है। या कह सकते हैं कि उनका जीवन ही संगीत है तथा नृत्य एवं संगीत ही उनका जीवन है।[15]

जिस प्रकार सैला-नृत्य लोक-नृत्यों की श्रेणी में आता है उसी प्रकार गुजरात के नृत्य जो कि गरबा के नाम से प्रचलित हैं ये भी लोक नृत्यों की श्रेणी में आते हैं। आज का सुप्रचलित गरबा लोक-नृत्य अनेक संस्कृत के ग्रंथों के प्रमाणिक नृत्य-शैलियों में से एक मुख्य है।[16] गरबा मिट्टी के एक पात्र को कहा जाता है। जिसमें अनेक छिद्र होते हैं तथा इसमें जलता हुआ एक दीपक होता है। राजस्थान की ओर भी यह प्रथा धार्मिक रूप से सुप्रचलित है। इससे संबंधित लोकगीत ''गरबो घूमें छे।'' कुँआरी कन्यायें काफी उत्साह से गाती हैं। गुजरात में गरबे का यह दीपक नवदुर्गा की पूजा में संजोया जाता है और इससे सामूहिक स्त्रियों को मुक्त लास्य की भक्ति प्राप्त हो जाती है। नव दुर्गा जी की स्मृति में होने वाले कीर्तन में स्त्रियों की ताली का स्वर, गोलाकार वृत्त तथा ताल और स्वर के साथ सहज स्वाभाविक नृत्य मुद्रा में बड़ी आसानी से सीखकर सबके सामने प्रस्तुत करने का अवसर मिल जाता है। इस नृत्य में प्रतिस्पर्धा की जाती है तथा कीर्ति-पत्र भी दिये जाते हैं।[17]

इसी के साथ-साथ यहाँ रास भी पुरुषों में काफी लोकप्रिय है। भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र द्वारा प्रेरित यह लोक नृत्य आज भी उनकी कीर्ति गाते हुये गोल वृत्ताकार में पुरुषों द्वारा डांडियों के ताल को ढोल, शहनाई के स्वर के साथ मिलाते हुये चला आ रहा है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ताल के वेग के साथ ही नृत्य की गति का मेल है

---

15. महेश चंद्र शांडिल्य 'श्रीरंग' – **संगीत (पत्रिका)** – मई, 1983 पृ०सं० 54
16. श्री सत्य – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1959 पृ०सं० 27
17. श्री सत्य – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1959 पृ०सं० 27-28

और यह वेग कभी-कभी इतना तीव्र हो जाता है कि उसे संभालना भी कठिन हो जाता है। इनमें एकताल, तीन ताल, पंची, छग्गी, अठिया, बारिया आदि अनेक प्रकार की तालें हैं।[18] इन संख्यात्मक तालों की गिनती पर नृत्य की डांडियों के स्वर विभाजित हैं। इनमें से गूफ-रास काफी जटिल और मोहक है। रंगीन डोरियों को पकड़े हुये ताल व स्वर के साथ चरणों के संतुलन को सँभाले हुये इन डोरियों को एक सूत किया जाता है और फिर प्रत्येक नर्तक उसे उसी रीति से वापस भी खोल डालता है। शहनाई की मधुर आवाज, ढोलक की निश्चित थाप, पाँवों की थिरकन, गति की निश्चित चंचलता के साथ-साथ नर्तकों के अंग-विन्यास की शोभा अत्यंत अद्‌भुत और दर्शनीय होती है।

गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ, इस सारे प्रदेश में गरबा-गरबी और रास सुप्रचलित हैं। कुछ आदिवासी जातियों में इन नृत्यों के कुछ प्रभेद प्रचलित हैं। भाषा अथवा बोली के इस प्रासंगिक प्रकारान्तर के साथ-ही-साथ इन लोक नृत्यों की शैलियों में कुछ अंतर पाया जाता है, किन्तु कृष्ण द्वारा प्रस्तुत रास और ऊषा द्वारा समर्पित गरबा-लास्य नृत्य गुजरात की मूर्ति पर कृष्ण यश कथा के साथ सदैव जीवित रहेंगे।

इसी नृत्य-संगीत के इतिहास में वर्षों से चला आ रहा एक नृत्य 'अग्नि नृत्य' जो कि रोमांचकारी होने के साथ ही विविधता व वैचित्र्य लिये होता है। दक्षिणी राजस्थान व उत्तरी गुजरात के आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र में 'अग्नि नृत्य' काफी लोकप्रिय है। डामौर, गरासिया, खराड़ी रोल एवं परमार आदि आदिवासी में यह नृत्य काफी प्रचलित है। होली तथा नवरात्र पर्व पर यह लोक नृत्य आयोजित किया जाता है।[19] उदयपुर जिले की खैरवाड़ा तहसील में गोदावरी के तट पर एक भव्य शिवालय पर होली के पर्व पर भारी मेला लगता है। देवी की प्रतिमा के सम्मुख आदिवासी 'अग्नि नृत्य' करते हैं। इस नृत्य के आयोजन के लिये समतल भूमि का चयन किया जाता है। मंच के एक ओर लोक-गायक और वादक-ढोलक, मृदंग, मंजीरे, हारमोनियम आदि ताल-वाद्य लेकर बैठते हैं तथा दूसरी ओर अग्नि-मंच रहता है। लोक गीतों की मंद-मंद धुनों के साथ ही मंच पर बनाये गये

---

18. श्री सत्य – **संगीत (पत्रिका)** – जून, 1959, पृ०सं० 28
19. श्याम मनोहर व्यास – **संगीत (पत्रिका)** – अप्रैल, 1985 पृ०सं० 48

लकड़ियों के ढेर को अग्नि दी जाती है। इसके साथ ही वाद्य यंत्र बज उठते हैं। तत्पश्चात कलाकार (नर्तक) अपनी आदिवासी वेशभूषा में करतल-ध्वनि के साथ ही सर्वप्रथम अग्नि मंच को प्रमाण कर एक बार चक्कर लगाता हुआ नंगे पाँवों ही अग्नि में प्रवेश करता है। छह से आठ फुट लंबा लगभग आठ फुट चौड़ा एवं दो-ढाई फुट ऊंचा अग्नि-मंच काफी भयावह होता है। वाद्य यंत्रों की ताल तथा लय पर नर्तक उस मंच पर नृत्य करता घूमता है। कभी अंगारों को गेंद या फूल की तरह हाथ में लेकर उछालता है, तो कभी पैरों से रौंदता है। नर्तक नंगे पैरों से अंगारों पर चलते हैं। पैर के तलुओं पर कोई रासायनिक पदार्थ नहीं लगाते हैं।[20] नृत्य से पूर्व पवित्र कुंड में स्नान करते तथा नृत्य की समाप्ति के पश्चात उसी कुंड में पैर धोते हैं। दहकते अंगारों पर यह नृत्य काफी रोमांचकारी एवं विस्मयकारी है कि वे लोग यह सब देवी की कृपा मानते हैं। किन्तु सही अर्थ नर्तक का आत्मबल व निरंतर साधना है।

हमारे यहाँ अग्नि-नृत्य को संगीत-साधना का ही एक अंग माना गया है। केवल भारत में ही नहीं वरन् विदेशों में भी यह नृत्य किये जाते हैं। हंगरी में आग पर चलने वालों को 'निस्थि-नीरसा' कहा जाता है। इंडोनेशिया एवं जावा-सुमात्रा द्वीप समूह में 'मिलाई-ऐसा' नामक उत्सव आयोजित किया जाता है, जिसमें नर्तक दहकते अंगारों पर अग्नि-नृत्य करते हैं। मारीशस, जापान, चीन फिजी आदि देशों में भी अग्नि-नृत्य आयोजित किये जाते हैं। राजस्थान में बीकानेर में एक जन साथी संप्रदाय है जो पीढ़ियों से इस नृत्य कला से जुड़ा है। इस प्रकार संगीत मय "अग्नि-नृत्य" भारतीय कला एवं संस्कृति का प्रारंभ से ही अभिन्न अंग रहा है।[21]

भारत के पश्चिमी किनारे से पूर्व में मध्य बिंदू तक और उत्तर में सतपुड़ा पहाड़ की पंक्तियों से दक्षिण में गोम तक की सीमा तक फैले हुये महाराष्ट्र में अनेक जातियाँ तथा उपजातियाँ जीवन बिता रही हैं। ऐतिहासिक तथा औद्योगिक समृद्धि साथ ही यह प्रदेश

---

20. श्याम मनोहर व्यास – **संगीत (पत्रिका)** – अप्रैल, 1985 पृ०सं० 49
21. वही – **संगीत (पत्रिका)** – अप्रैल, 1985 पृ०सं० 49

लोक कला तथा सभ्यता की दृष्टि से भी वह संपन्न है। प्रारंभ में कोंकण किनारे के लोक-नृत्यों का विचार करें तो वहाँ का "कोप्ठी नृत्य अथवा नाखवा नृत्य" प्रमुख सिद्ध होगा। सागर की सौम्य तथा रौद्र लहरियों पर जीवन बिताने वाली कौली जमात के बहुत सारे नृत्य स्त्री-पुरुषों के और सामूहिक होते हैं। इस नृत्य में पुरुष लुंगी, जैकेट तथा सिर पर टोपीनुमा चीज धारण करके हाथों में डांट लेकर सागर पार जाने का अभिनय करते हुये नृत्य करते हैं। सागर का तूफान, सागर में नाव चलाना आदि विषयों के गीतों पर ये नृत्य आधारित रहते हैं। "नाखवा नासवा मार वल्हं" अथवा "दरयाला आयलयं तूफान" कहकर नृत्य करने वाला वह सागरपुत्र अंत में "सोनियाचा नारष्ठ देईन तुला रं रामा, जावंदे होंडा बंदखला" कहकर ईश्वर से प्रार्थना करता है।"[22]

थाना जिले में कातकरी आदिवासी के नृत्य और कोंकमके कुनबी समाज के होली के दिनों का "डेरा नृत्य" प्रचलित है। हाथों में घास लेकर अथवा तरह-तरह के स्वांग भरकर ये नृत्य किये जाते हैं। इसी प्रकार हाथों में लकड़ियाँ अथवा डंडिया लेकर उन्हें पटकते हुये नृत्य का चलन है। इस नृत्य को 'काठखेल' नृत्य कहा जाता है।

मध्य पूर्व महाराष्ट्र के नृत्यों में लावनी नृत्य की विशेषता है उसका शृंगार रस। इस नृत्य में महाराष्ट्रीय तरीके की साड़ी पहनकर एक या दो नर्तिकायें कमरपट्टा बाँधकर पैरों में घुंघरु पहनकर शृंगार पूर्ण गीत पर नृत्य करती हैं। विशेष प्रकार की सलामी से नृत्य आरंभ किया जाता है तथा अंत में कठिन मुद्राओं, द्रुत पद, विन्यासों की लड़न्त होती है। दूसरे 'बाध्या-मुख्ळी' नृत्य में दो नर्तिकायें और दो-एक पुरुष आते हैं यह नृत्य प्रायः जेजुरी के देवता 'खंडोबा' को उद्देश्यकर होता है। बाध्या तथा मरळी को खंडोबा से सम्मान प्राप्त है। उसका वर्णन करने वाले ये गीत होते हैं।

इसके अतिरिक्त हाथों में मशालें लेकर नृत्य करने वाले मल्हारी आते है। बीच में पालकी दोनों ओर लंबे-लंबे बाँसों पर रंगीत निशान बाँधकर पहाड़ पर भैरव के दर्शन के लिये जाने वाली धनगर (गडरिया) जमात का 'धनगर नृत्य' नावीन्यपूर्ण होता है।

---

22. अशोक पेडणेकर – **संगीत कला विहार** – जून, 1970 पृ०सं० 267

"भैरुबा माता भैरुबा'
जय जय हो माजा भैरुबा"[23]

इस प्रकार के गीत की पंक्तियाँ सभी गडरिये ऊँची आवाज और ढोल की संगत में गाते हैं। खेतों की कटाई के समय होने वाला किसानों का 'भलंरी नृत्य' होता है। कमर में साड़ी का पल्लू दबाकर स्त्रियाँ कंकड़ फेंकने वाली रस्सी को घुमाने का अभिनय होता है।

"कुल्लू" जनपद पहाड़ियों का एक मुख्य हिस्सा है। जहाँ मेलों का शुभारंभ ही लोक वाद्यों से होता है। जोड़ी करनाहल की धाँ–तू, गाँव के आर-पार जब सुनाई देती है, तो समझो मेला प्रारंभ हो गया है। लोक नृत्य में 'हेसी' और 'ढोली' मुख्य वादक होते हैं ये ही पूरे नृत्य का संचालन करते हैं। इनकी महत्ता को समझते हुये लोक गीतों में भी ढोली और हेसी से इस प्रकार प्रार्थना की है यथा–

"बाजडे ढोलिया ढोली नाटी,"
जाचनी छवदी हेसी घाटी।
बूदल नौचला धियाडी रावी
बाजडे ढोलिया ढोली नाटी।[24]

अर्थात्–

हे ढोल वादक तू ढोल पर धीमी लय की ताल छेड़, तेरे साथ जो शहनाई वादक हैं उसके बगैर तो नारी अधूरी है। ढोल और शहनाई की धुन पर बूढ़े बुजुर्ग भी दिन-रात नाचने लगते हैं। ढोल के साथ भाणा वादन भी हो जाये तो नृत्य में कुछ विशेष आनंद आयेगा। इस लोक-गीत की पंक्तियाँ इसकी पुष्टि करती हैं यथा–

"कोढी रा ढोल बाजला भाणा,
कोढी री जातरा दै जाणा"

---

23. अशोक पेडणेकर – **संगीत कला विहार** – जून, 1970 पृ०सं० 268
24. डॉ० सूरत ठाकुर – **हिमाचल के लोकवाद्य** प्रथम संस्करण – 1996, पृ०सं० 72

अर्थात दूर चोटी के पास वाले दर्रे के पास एक गाँव है जहाँ से ढोल और भाणा की आवाज आ रही है, शायद वहाँ मेला लगा है। चलो, उस मेले में चलें।

सतपुड़ा पहाड़ की घाटियों में रहने वाले आदिवासी और भील लोगों में 'भील नृत्य' प्रसिद्ध हैं। ये लोग अधिकतर वस्त्रों का काम वल्कल अथवा पेड़ों की टहनियाँ कमर पर बाँधकर लेते हैं। एक दूसरे के गले में अथवा कमर में हाथ डालकर आगे-पीछे झूमते हुये स्त्रियाँ नृत्य करती हैं तथा पुरुष गले में बड़े-बड़े ढोल बाँधकर नृत्य करते हैं। ये लोग अलंकार के तौर पर सिर पर और गले में काँच के मणि और कोड़ियों की मालायें और पट्टे बाँधते हैं। इस नृत्य में सींग, शंख आदि का उपयोग वाद्य के रूप में होता है। महाराष्ट्र और मध्य-प्रदेश की सीमा पर, विदर्भ में इसी प्रकार "मादिक नृत्य" होता है। इस नृत्य में प्रायः स्त्रियाँ श्वेत तथा लाल वस्त्र पहनकर हाथों में लकड़ियाँ लेकर उनसे जमीन पर आघात करते हुये नृत्य करती हैं। ढोल लेकर नृत्य करने के लिये पुरुष सिर पर सींग बाँधकर चेहरे पर काँच की नलियों की मालायें छोड़ देते हैं।

"आजि मां धंतुरीवरी, अजि मां नाचु केलायं"

अथवा

"राजा बोले पारधानाला, बोलवा फांसे पारघ्याला"[25]

इस प्रकार के गीत कातकारी नृत्य में होते हैं। इनके अतिरिक्त शिक्षित समाज में मंगला गौरी जैसे समारोह में फुगड़ी, झिम्मा, डंडा, गोविंदा, दशावतार आदि के नृत्य तथा नृत्य-नाटक के छोटे प्रकार भी बड़ी संख्या में महाराष्ट्र में दिखायी देते हैं। विविधता की दृष्टि से महाराष्ट्र के लोकनृत्य निस्संदेह उच्च श्रेणी में आ जाते हैं।

नृत्यों की शृंखला में आता है "मणिपुरी नृत्य"। मणिपुर के लोग हर उत्सव पर अपने शास्त्रीय एवं लोक-नृत्यों को प्रधानता देते हैं। वहाँ उत्सव सामाजिक हो अथवा

---

25. अशोक पेडणेकर – **संगीत कला विहार** – जून, 1970 पृ०सं० 268

धार्मिक, उसमें नृत्य को प्राथमिकता दी जाती है। विशेषकर दीपावली पर नृत्य प्रेमियों का उत्साह देखते ही बनता है। युवक-युवतियों के समूह नृत्य करते हुये एक गाँव से दूसरे गाँव में पहुँचते हैं।[26] मार्ग में भी लोग नृत्य-मंडली में शामिल हो जाते हैं तथा जैसे-जैसे मंडली आगे बढ़ती जाती है उसमें हर्ष-विभोर नृत्यरत नर-नारियों की संख्या बढ़ती जाती है। दीपावली पर गाँव-गाँव घूमने वाले इन नृत्य समूहों में अनोखी बेफिक्री तथा आनंद का भाव देखने में आता है। यहाँ की नृत्य परंपरा अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। यहाँ की पैराणिक गाथाओं में नृत्य की व्युत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। सृष्टा या परम गुरु के लयबद्ध संचालन से नृत्य का जन्म हुआ। सृष्टा ने सर्वप्रथम अपनी सहचरी को जो कि सौंदर्य का प्रतीक थी यह सृष्टि का प्रथम चरण था, तदुपरांत सृष्टा एवं उनकी सहचरी ने मिलकर सृष्टि को पूरा किया। सृष्टि कार्य पूर्ण होने पर परमगुरु के सृष्टि-नृत्य की परंपरा को अन्य छोटे देवी-देवताओं ने संजोये रखा। परमगुरु को प्रसन्न रखने के लिये देवगण पूजा अर्चना के साथ नृत्य भी किया करते थे। तत्पश्चात में नृत्य का विकास होता रहा जिसके अन्तर्गत एक ही शैली के विभिन्न नृत्य प्रचलित हुये। प्रत्येक नृत्य का किसी पौराणिक घटना विशेष से संबंध है, मणिपुर के अधिक लोकप्रिय नृत्य हैं—लाई हरोबा, रासलीला, खबका इशरी, चोलम, पुङ्ग चोलम, औगरी-हंगेल तथा थागल सांगबी। होली पर तथा डोल यात्रा के समय औगरी हंगेल नृत्य लड़के लड़कियों के समूह द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।[27]

दीपावली के अवसर पर प्रायः रास और लाई हरोबा नृत्य ही किये जाते हैं। मणिपुर में सर्वाधिक प्रिय लोक नृत्य हैं 'रासलीला'। मणिपुर के बाहर रासलीला को ही मणिपुर-नृत्य कहा जाता है, किन्तु यथार्थ में यह मणिपुर नृत्य की एक शैली मात्र है। दूसरा नंबर 'लाईहरोबा' का है जिसका अर्थ है—देवताओं का मनोरंजन और ईश्वर का आशीर्वाद। इस नृत्य की 12 पृथक शैलियाँ हैं।[28]

---

26. पं० डी० मोहन नेहरु – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1960 पृ०सं० 44
27. पं० डी० मोहन नेहरु – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1960 पृ०सं० 44
28. वही – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1960 पृ०सं० 44-45

लाइहरोबा सामूहिक नृत्योत्सव का प्रारंभ पुष्पांजलि से होता है। विभिन्न प्रकार के सुंदर वस्त्र पहने नृत्यांगनायें देवताओं को फल एवं पुष्प भेंट करती हैं। नर्तकियों का नेतृत्व देव बालायें करती हैं तत्पश्चात् युवक युवतियों के दल में से अपने नृत्य साथी चुनते हैं तथा नृत्योत्सव का दूसरा दौर शुरू होता है। नृत्य का आरंभ विलंबित लय से होता है। नर्तक वाद्यों की ताल पर धीरे-धीरे नृत्य आरंभ करते हैं। प्रारंभ में हस्त मुद्राओं का प्रदर्शन अधिक होता है तथा साथ-ही-साथ पैरों से ताल दी जाती है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे लय बढ़ती है नर्तक क्लान्ति से अभिभूत होते जाते हैं तथा अंत में नतमस्तक होकर देवताओं को नमस्कार करते हुये नृत्य समाप्त कर देते हैं। नर्तकों के साथ-साथ दर्शक भी झुककर हथेलियाँ भूमि पर टिका देते हैं तथा उन पर शीश झुकाकर देवताओं को प्रणाम करते हुये उनके आशीर्वाद की कामना करते है।[29] लाई-हरोबा-नृत्य को मणिपुर की 'खम्मा थाइबा' लोक-गाथा से भी काफी बल मिला है। यहाँ के कुशल नर्तक इस प्रेम कथा का नृत्यावतरण करते हैं। इसका नृत्याभिनय अत्यंत आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक होता है। नर्तकों की वेशभूषा एवं साज-सज्जा मणिपुर की स्थानिक विशेषता ही नहीं यहाँ की प्राचीन परंपराओं की प्रतीक भी हैं। स्त्रियाँ नृत्य के समय सुनहरी पट्टी की साड़ी एक विशेष तरीके से बाँधती हैं, सिर पर विशेष प्रकार का मुकुट, कर्णफूल, हार, कटिबंध, चूड़ियाँ अंगूठियाँ आदि आभूषण ग्रहण करती हैं। किन्तु इस नृत्य में पायल का उपयोग नहीं होता। पुरुषों की पोशाक केवल एक रेशमी रंगीन धोती होती है। कटि से ऊपर उनका शरीर निर्वस्त्र होता है तथा पुरुष भी स्त्रियों की ही भाँति वक्ष तथा भुजाओं पर कई आभूषण ग्रहण करते हैं, तथा इनके आभूषणों की संख्या स्त्रियों से अधिक ही होती है। लाई-हरोबा-नृत्य का संगीत एक ढोल, कई बाँसुरियाँ, बड़े-बड़े घंटे, मंजीरे तथा 'पीना' नामक वाद्य होते हैं।[30] इस नृत्य के कुछ रूप और हैं जिनको 'औगरी हंगेल' तथा 'थाल सांगबी' भी कहा जाता है।

आदिकाल में मणिपुर के लोग आत्मवादी थे बाद में यहाँ वैष्णव धर्म का आगमन

---

29. पं० डी० मोहन नेहरु – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1960 पृ०सं० 45
30. वही – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1960 पृ०सं० 45

हुआ तथा वैष्णव धर्म के प्रसार के साथ ही नृत्यों की शैली तथा नृत्य कथाओं का प्रभाव शक्तिशाली था। लाईहरोबा की लोक शैली में कला का प्रादुर्भाव हुआ। धीरे-धीरे लय-ताल आदि के नये-नये नियम बनाये जाने लगे जिससे कठिन होते हुये भी कला की दृष्टि से उनमें निखार आया। कालांतर में अन्य नृत्य कथायें विस्मृति के गर्भ में समाती गईं और राधाकृष्ण की गाथा को सर्वत्र अपना लिया गया। राधा कृष्ण के नृत्याभिनय के समय से ही ताल वाद्य के रूप में 'खोल' का प्रचलन हुआ।[31] इससे पूर्व नृत्य हेतु कोई ताल वाद्य नहीं था। पहले साधारण तथा धीरे-धीरे तालों का विकास हुआ, नृत्य के साथ-साथ कठिन तालें व क्लिष्ट बोल प्रयुक्त होने लगे।[32] वैष्णव धर्म का प्रसार जब मणिपुर में अपनी चरम सीमा पर था तो यहाँ तीन प्रकार के शास्त्रीय नृत्यों ने स्थायी लोकप्रियता प्राप्त की। रासलीला, गोपलीला तथा लाई हरोबा।

मण्डियाली जनपद में मंडी क्षेत्र में प्रचलित परंपरागत "लुड्डी लोकनृत्य" काफी प्रचलित है। यह नृत्य मंडी जिले के बल्ह क्षेत्र, सुंदर नगर, बग्गी, रिवाल्सर तथा मंडी शहर में अधिक लोकप्रिय रहा है। जोगेन्द्र नगर, पपरोला तथा लडबढोल इत्यादि क्षेत्रों में भी यह लोकनृत्य प्रचलित है। यह नृत्य विवाह तथा धार्मिक संस्कारों के समय देवी देवताओं की मनौती पर मंदिरों तथा मेलों उत्सवों इत्यादि के समय पर किया जाता है। इस नृत्य पर अन्य किसी नृत्य का प्रभाव न रहकर यह नृत्य विशुद्ध तथा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।

लुड्डी शब्द लुड्डना शब्द का अपभ्रंश है तथा स्थानीय बोली का शब्द है। इसका अर्थ यहाँ आनंद मनाना, झूमते हुये प्रसन्नता व्यक्त करना, फूले न समाना तथा हर्ष व उल्लास से इधर-उधर लुढ़कने से लिया गया है। मंडियाली लोक साहित्य में 'लुड्डना' शब्द को हास्य-व्यंग्य के रूप में भी अत्यधिक प्रयोग में लाया जाता है। इस नृत्य में ताल लय तथा गीत के साथ सारे शरीर का ऐसा संचालन रहता है मानो नर्तक तथा नर्तकी लुढ़कते

---

31. पं० डी० मोहन नेहरु – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1960 पृ०सं० 52
32. वही – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1960 पृ०सं० 52

हुये आगे बढ़ रहे हों। लुढ़कने की इन मुद्राओं से ही शायद इस नृत्य का 'लुड्डी' नाम पड़ा है।[33]

इस लोक नृत्य को स्त्री व पुरुष सामूहिक रूप से करते हैं। इस नृत्य की यह विशेषता है कि नर्तक नृत्य करते हुये एक-दूसरे का हाथ नहीं पकड़ते। स्वतंत्र रूप से लंबे-लंबे कदम रखकर शरीर के विभिन्न अंगों का विक्षेप करते हुये तथा शरीर को मुँह के बल बाँयें झुकाकर नृत्य करते हैं तथा इस नृत्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो नर्तक आगे बढ़ते हुये लुढ़क रहे हैं। आरंभ में नर्तक तथा नर्तकियों के शरीर संचालन मध्य-लय में ताल, लय गीत व शहनाई द्वारा लोकगीत की धुन की संगति से आरंभ होता है तथा धीरे-धीरे लय की गति को बढ़ाते हुये अंत में इस नृत्य की गति द्रुत लय में प्रवेश कर लेती है तथा उसी लय में इस नृत्य को समाप्त किया जाता है।[34]

इस नृत्य में नर्तक तथा नर्तकियों के लिये किसी विशिष्ट परिधान की आवश्यकता नहीं होती, अपने साधारण परंपरागत लिबास में वे निस्संकोच इस नृत्य को करते हैं।

सांप्रदायिक सद्भाव के रूप में एक परंपरा ''हाथी-नृत्य'' के रुप में 'मालवांचल' के देवास जिले के सतवास में देखने को मिलती है। सतवास में एक मराठा परिवार है जिसके मुखिया श्री मंगेशरावदाभाडे जी हैं। कहा जाता है कि इस परिवार में न जाने कितनी पीढ़ियों से मुहर्रम मास के प्रारंभ होते ही एक हाथी बनाने की परंपरा चली आ रही है। इस हाथी को बनाने वाला व्यक्ति लगातार दस दिन तक (मुहर्रम मास प्रारंभ होने के दिन से कत्ल की रात तक) अन्न और जल ग्रहण किये बिना रहता है। यह हाथी जिसे गणेश जी कहते हैं बाँस की खपच्चियों के ढाँचे पर कागज चिपकाकर बनाया जाता है तथा फिर उस पर आँखे, सूंड, कान, दाँत, पैर आदि से आकार दिया जाता है और रंग-बिरंगे सुनहरे कागजों से सुसज्जित करके गणेश जी का रूप जी दिया जाता है।[35] हाथी के ऊपर एक पालकी भी बनायी जाती है जिसे 'होदा' भी कहते हैं। इसका वजन लगभग 50 किलो होता

---

33. यादवेन्द्र शर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – अप्रैल, 1993 पृ०सं० 41
34. यादवेन्द्र शर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – अप्रैल, 1993 पृ०सं० 41
35. डॉ० विजयाखडीकर – **संगीत (पत्रिका)** – अगस्त, 1997 पृ०सं० 40

है किंतु दो व्यक्ति इसे आसानी से उठाकर नृत्य कर सकते हैं।

इस हाथी के विषय में लोगों को तरह-तरह के विचार हैं। उनका यह भी विचार है कि हाथी के सामने मानता करने पर पूर्ण हो जाती है। जिसकी इच्छा पूर्ण हो जाती है वह हाथी बनवाता है। बनाने का काम वही परिवार करता है। हाथी-नृत्य का भी एक स्थान निश्चित है।

हाथी को लेकर नाचने से इसे "हाथी-नृत्य" कहा जाता है। अंदर छिपे हुये नर्तक दिखाई नहीं देते, केवल हाथी ही नृत्य करता हुआ प्रतीत होता है। जिस प्रकार वास्तविक हाथी को चलाने वाले महावत के हाथ में अंकुश होता है, जिससे वह हाथी की दिशा नियंत्रित करता है, उस प्रकार इस हाथी के ऊपर तो कोई नहीं होता किंतु अंदर के नर्तकों को एक व्यक्ति बाहर से अंकुश निर्देशित करता रहता है। अंदर वाले उसी प्रकार नृत्य करते रहते हैं। दूर से देखने पर ऐसा लगता है जैसे हाथी झूम-झूम कर नृत्य कर रहा हो। यह नृत्य अति सुंदर लगता है। इस नृत्य को कराने की इजाजत, हाथी बनाने की इजाजत और यहाँ तक कि नृत्य की संगत के लिये वाद्य बजाने की भी इजाजत दाभाडे परिवार को ही है, इसके अलावा किसी को नहीं है। इसमें बाँसुरी व घेरा वाद्य बजाये जाते हैं। बाँसुरी की अलग-अलग धुन पर यह नृत्य चलता है नर्तकों की चाल टेढ़ी-मेढ़ी होती है, जिससे हाथी का मुँह कभी दाँयीं ओर तो कभी बाँयीं ओर हिलता है इस प्रकार यह नृत्य अंदर के नर्तक परिवर्तन होते हुये चलता रहता है। बिना किसी जाति भेद के मराठा परिवार के ये सदस्य परंपरा से मुहर्रम का त्यौहार मनाते चले आ रहे हैं व गणेश जी भी जात-पात का भेद किये बिना हर याचक की झोली भर देते हैं।[36]

ताजिए और 'हाथी नृत्य' के अद्भुत संगम देखने हर जाति व धर्म के लोग बड़ी संख्या में वहाँ आते हैं। यहाँ के लोगों का कहना है, कि यह 'हाथी-नृत्य' मालवा के अतिरिक्त पूरे भारत में कहीं ओर नहीं होता।

---

36. डॉ० विजयाखडीकर – **संगीत (पत्रिका)** – अगस्त, 1997 पृ०सं० 42

जिला फिरोजपुर के लोकनृत्य व लोकगीत अपने आप में एक अलग स्थान रखते हैं। प्रायः सभी जाति के लोक-नृत्यों का अंदाज अलग-अलग होता है। किन्तु आधार, भाषा व शब्दों का अर्थ लगभग समान होता है। विश्व-लोक संगीत परिषद् द्वारा बनाये नियमों का सरकार ने इस जिले में ही उपयोग किया है। समयानुसार सरकार यहाँ लोक संपर्क विभाग द्वारा आयोजित अलग-अलग जातियों के लोकगीत व लोकनृत्यों का प्रदर्शन कराती है व कहीं-कहीं इनमें प्रतियोगिताओं का भी आयोजन किया जाता है। पंजाब का पश्चिमी इलाका जिला फिरोजपुर के राय सिक्ख जाति के लोकनृत्यों का महत्व बड़े समय से चला आ रहा है। यह नृत्य इतना अधिक प्रसिद्धि पा चुका था कि सन् 1982 में श्रीमती इंदिरा गाँधी ने इसको देखने की इच्छा प्रकट की थी तथा दिल्ली में इस नृत्य का प्रदर्शन कराया गया था। इस नृत्य को 'झूमर नृत्य' कहकर पुकारा जाता है।[37] पंजाब का ही एक प्रसिद्ध नृत्य भांगड़ा है। झूमर-नृत्य के प्रदर्शन पर स्व० इन्दिरागाँधी अत्यंत प्रसन्न हुई थी तथा कहा था कि–"वाकई इनका झूमर नृत्य सराहनीय है, मैंने ऐसा नृत्य कहीं भी नहीं देखा, जिसमें प्रत्येक नर्तक को अपनी कला अलग-अलग भी दिखानी पड़े।"[38] इनके लोकगीतों का भी अपना ही अंदाज है तथा वाद्यों में ये लोग अधिकतर बाँसुरी, अलगोजा, ढोल, तुम्बी आदि वाद्यों का प्रयोग करते हैं। इन लोगों में स्त्रियाँ अनपढ़ होते हुये भी राग व तालों की जानकारी रखती हैं। रागों के अन्तर्गत–झिंझोटी, जोगिया, भैरवी, पीलू पहाड़ी, सिंदूरा आदि की जानकारी इन्हें होती है व स्वरों से अनजान होते हुये भी ये गाकर रागों का स्वरूप खींच सकती हैं। कहा जाता है कि सन् 1947 से पहले अंग्रेज गवर्नर बार्डर फाजिल्का (हैड सुलेमान) ने केहर सिंह नामक व्यक्ति को 10 किले, जमीन, 'हीर' गाने पर दी जो अभी भी जीवित है।

'झूमर' नृत्य में इनकी 'बोलियाँ' भी बोलने की प्रथा है जिसका अपना ही अंदाज है–

"उचीयाँ लमीयाँ टाहलियाँ, विच ई भेड़ा दा वाड़ा

---

37. प्रो० विजय प्रवीण – **संगीत (पत्रिका)** – जुलाई, 1997 पृ०सं० 30

38. प्रो० विजय प्रवीण – **संगीत (पत्रिका)** – जुलाई, 1997 पृ०सं० 30

भेड़ा ता लमतलमीयाँ ओ, विच ई छत्रा काला।''[39]

अर्थात, ऊँचे-ऊँचे लम्बे-लम्बे टाहली (शीशम) के पेड़ हैं, उनमें भेड़ों का एक आँगन है जिसे भेड़वाड़ा कहते हैं, उनमें भेड़ें भी लम्बी और छोटी हैं किन्तु एक छत्रा अर्थात भेड़ू काले रंग का है।

कहने का भाव यह था कि—''ये सब नाचने वाले बच्चे हैं, उनमें मैं एक काले भेड़ू के समान हूँ।'' कई बार 'दोहड़े' भी झूमर में बोलते हैं। ये लोग इस नृत्य में ड्रैस को भी बहुत महत्व देते हैं। ये अधिकतर मेलों में, अखाड़ों में, विवाह-शादी या पीर-फकीरों की दरगाहों पर अपनी कला-कौशल दिखाते हैं तथा इनमें फसलों की बिजाई, कटाई, झार आदि का भाव प्रदर्शन भी देखने को मिलता है। इस नृत्य को डॉ० गुरदीन सिंह ने जोरदार शब्दों में सराहा है, वे लिखते हैं—

I did not see the Jhumar like this, even in the India. It gives me Peace, Power, inspiration, Love and so many other things.[40]

ये लोग अधिकतर ढोले तथा सोहले गाते हैं इनके झूमर भी नियमों में बँधे हैं जैसे कि ढोली को तालों का ज्ञान होना चाहिये, जैसे कि तीनताल, झपताल, कहरवा, दीपचंदी इत्यादि। साथ ही सभी को तिहाइयाँ व छोटे-छोटे टुकड़े बनाने भी आने चाहियें, चाहे नृत्य कहरवे में होता हो, किंतु समय-समय पर तालें बदल-बदल कर प्रदर्शन करते हैं। इसके अतिरिक्त भावों का प्रदर्शन भी अलग-अलग करना आना चाहिये। इसी प्रकार यह भी आवश्यक है जिस तरह संगीत में राग गायन समय तबला अथवा तानपुरा स्वरित रूप में बजाया जाता है। ये लोग भी अपने-अपने मुख से एक प्रकार का स्वर देते हैं। आरंभ में सामूहिक रूप से एक ही भाव का प्रदर्शन किया जाता है किंतु उसके बाद एक-एक करके अपना अलग-अलग नृत्य करते हैं तथा बाकी सदस्य निश्चित किये भावों का प्रदर्शन करते

---

39. प्रो० विजय प्रवीण — **संगीत (पत्रिका)** — जुलाई, 1997 पृ०सं० 31
40. वही — **संगीत (पत्रिका)** — जुलाई, 1997 पृ०सं० 40

हैं नृत्य में विलंबित, मध्य तथा द्रुत तीनों लयों का प्रदर्शन करते हुये तिहाई से समाप्त किया जाता है।[41]

हिमाचल प्रदेश के प्रत्येक जिले के अपने-अपने लोक नृत्य हैं। ये सभी नृत्य प्राकृतिक सौंदर्य, धार्मिक प्रवृतियों, ऐतिहासिक तथा सामाजिक विशेषताओं से परिपूर्ण हैं। इन लोक-नृत्यों के मूल में ग्रामीण समाज का सीधा-सादापन तथा स्वाभाविकता रहती है तथा इसी स्वाभाविकता को स्वतंत्र रूप से लय में बाँधकर एक निश्चित रूप में प्रकट करते हैं। यह नृत्य-प्रथा यहाँ आधुनिक युग की उपज नहीं अपितु शताब्दी पूर्व चली आ रही है।

''बुढ़ला लोक नृत्य'' मण्डी जिला के बल्ह क्षेत्र का एक प्रसिद्ध तथा विशुद्ध नृत्य है। यह नृत्य हास्य मुद्राओं से भरपूर तथा फसल के आगमन, पैदावार तथा फसल एकत्रित करने की खुशी के उपलक्ष में किया जाता है। यह नृत्य कार्तिक मास की पूर्णिमा से आरम्भ होकर आठ दिन तक निरंतर चलता रहता है। जनश्रुति के अनुसार दीपावली से पहली पूर्णिमा के अवसर पर जिसे 'माल पुन्या' के नाम से जाना जाता है, पशुओं से दंगल कराया जाता है–तथा गौपूजा का भी आयोजन होता है। इस त्यौहार को मनाते हुये लोग गाँव में अपनी-अपनी मण्डलियाँ बनाकर तथा गाँव के विभिन्न स्थानों पर जाकर 'बुढ़ला लोक-नृत्य' करते हैं।[42] इस नृत्य को केवल रात में ही किया जाता है तथा यह नृत्य गाँव के विभिन्न घरों में ही किया जाता है। इस नृत्य की पोशाक भी स्त्रियों के परिधान-सलवार कुर्ता तथा चुन्नी ओढ़कर पुरुष ही करते हैं तथा बीहुल नामक वृक्ष की छाल से (जिसको स्थानीय बोली में 'सेल' कहा जाता है) बुढ़ला नर्तक को सेल की लम्बी-लम्बी दाढ़ी तथा मूँछें लगाई जाती हैं। गले में बड़े-बड़े घुँघरुओं की माला डाली जाती है। धान की पुआल को कमर तथा भुजाओं में बाँधा जाता है। इसी पुआल से बना हुआ एक लम्बा टोप सिर के ऊपर पहना होता है। इन नर्तकों को 'चंद्राओली' के नाम से जाना जाता है।

बुढ़ला लोक-नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीतों को बुढ़ला नृत्य गीत कहते हैं। ये

---

41. प्रो० विजय प्रवीण – **संगीत (पत्रिका)** – जुलाई, 1997 पृ०सं० 31
42. डॉ० यादवेन्द्र शर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – मार्च, 1996 पृ०सं० 19

गीत ताल तथा लय प्रधान होते हैं तथा इनका विषय खेतीबाड़ी व हास्य होता है। प्रस्तुत है एक बुढ़ला नृत्य गीत–

राहुता हरनाले फूल माले लो, मरुआ ता पंजपतरा फूल माले।

आओ सुहागणिये फूल माले लो, सूती रे सब ठवाले।

माले ओ...............................

आओ सुहागणिये फूल माले, ओ गाभरु खेलदेखोड़ू चावल

माले ओ.........................

चानणी ओची री सारी धारा, ओ मिली कने वांडणा दुख सारा।

बोलद जोड़ी रे बुन्ह ख्वाड़े, ओ दुःखारे कटी गई सब ध्याड़े।

माले.......................................।[43]

लोक गायक 'माला त्यौहार' को सुहागन का रूप देकर कह रहा है कि आओ सुहागन फूलमाला के मन में फसल के आगमन के उपलक्ष्य में प्रसन्नता, उमंग तथा उल्लास भर दो। घर के सभी बच्चे अखरोटों से खेल रहे हैं तथा खुशियाँ मना रहे हैं। ऊँची-ऊँची पहाड़ियों पर जैसे चाँदनी रात अपना प्रकाश एक समान बिखेरती है, इसी तरह आओ हम भी मिलकर एक-दूसरे का दुख दर्द बाँटें।

बहुत से बुढ़ला लोक नृत्य गीतों का भाव निरर्थक होता है किंतु इन गीतों में हास्य रस का पुट अधिक रहता है। ताल तथा लय की प्रधानता रहती है। प्रस्तुत है गीत–

नाच सहारे बोले टोपा रे भारे,

ओ सूती रे, सब लोग ठवाले

माले ओ, माल़े माल़े ओ माल़े माल़े ओ माल़े[44]

---

43. डॉ० यादवेन्द्र शर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – मार्च, 1996 पृ०सं० 21

44. वही – **संगीत (पत्रिका)** – मार्च, 1996 पृ०सं० 28

सरईकला का 'छाऊ-नृत्य' भगवान शिव 'नटराज' के रूप में नृत्य कला के अधिष्ठित देव हैं। इनकी अंग-भंगिमा कला जगत का प्रतीक है। सरईकला का 'छाऊ-नृत्य' उन्हीं भगवान शिव की आराधना में किया जाता है। इस नृत्य का प्रचलन बिहार के सिंह भूमि इलाके में विशेष रूप से है तथा इसके विकास में भूतपूर्व महाराजाओं का महत्वपूर्ण योग रहा है। 'छाऊ-नृत्य' में भाव एवं रस का प्रदर्शन अंग-संचालन द्वारा होता है। अन्य नृत्यों की भाँति इसमें मुख-मुद्राओं एवं हस्त-मुद्राओं का प्रयोग नहीं होता। इसमें प्रमुखतः कुछ ना कुछ लास्य का प्रयोग भी होता है। इस नृत्य में नारी का अभिनय भी पुरुष ही करते हैं, अर्थात स्त्रियों के लिये यह वर्जित है। इसके अतिरिक्त छाऊ शैली के नृत्य में मयूर-नृत्य, सागर-नृत्य, स्वप्न-नृत्य, सूर्य-पूजा-नृत्य, अभिसार-नृत्य, चंद्र-भामा-नृत्य आदि बसंत ऋतु में किया जाता है रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों के आधार पर जिनमें मानव मात्र की भावधारा संनिहित है, भगवान शिव से विहार का 'जादुरनृत्य' ओशव जाति का लोकप्रिय नृत्य है। तरूण व तरूणी इस नृत्य में गीत गाते एवं नृत्य करते हैं गीत का भाव होता है–

"तुम्हारा प्रेम अमर हो तुम्हारी सुंदरता बनी रहे"[45]

इसी प्रकार हैदराबाद का लम्बडी नृत्य भी दशहरा, दीवाली आदि उत्सवों पर बड़े उत्साह से किया जाता है। इस नृत्य में लम्बंडी जाति के पुरुष हाथ का काम करते है तथा उनकी स्त्रियाँ रंगबिरंगे वस्त्र, आभूषण पहनकर पशुओं को चराती तथा हाथ की बनी हुई चीजें बाजार में बेचती हुई भ्रमण करती हैं। इस नृत्य में लंबड़ी जाति की स्त्रियाँ अपने सिरों पर पानी के घड़े रखकर नृत्य करती हैं।[46]

"दक्षिण भारत" में नृत्य परंपरा भी संगीत के साथ चलती रही। वहाँ अनेक भाँति के सुंदर लोकनृत्य प्रचलित हैं। तमिल तेलगू और कर्नाटक क्षेत्र में भाषा, वेशभूषा और लोक नृत्य की शैली में वहाँ की संस्कृति एवं सभ्यता के अनुसार-विभिन्नता हैं। उनमें से

---

45. श्री भैरो प्रसाद श्रीवास्तव – **संगीत कला विहार (पत्रिका)** – दिसम्बर, 1967 पृ०सं० 560
46. श्री भैरो प्रसाद श्रीवास्तव – **संगीत कला विहार (पत्रिका)** – दिसम्बर, 1967 पृ०सं० 561

अनेक शैलियाँ लुप्त प्राय हो गई हैं। उड़ीसा का संगीत और नृत्य दक्षिण-भारतीय शैली में और आँध्र की कला में अधिक समानता थी।[47]

"केरल" का "स्थिराई नृत्य" एक मनोरम किंतु भयदायक नृत्य है। इसके नर्तक एक विशेष वर्ग के व्यक्ति होते हैं जिनमें इस नृत्य की कला वंश परंपरागत से विद्यमान रहती है। यह नृत्य प्रायः एक ही व्यक्ति के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यह नृत्य काफी कठिन है तथा इसकी वेशभूषा भी बड़ी विषम एवं विचित्र है जिसे पूर्ण करने में बड़े धैर्य की आवश्यकता है।

"ढोल नृत्य" के विषय में जालौर का ढोल-नृत्य भी काफी कौतुकमय होता है। इसमें जालौर के ग्रामीण वृहदाकार वाले ढोल को सिर पर रखकर घुमाते रहते हैं। इन नर्तकों की विशेष ताल व लय होती है। "डोकरी" राजस्थान का हास्यप्रधान नृत्य है। नृत्य की वेशभूषा भी अद्‌भुत व डरावनी होती है। यह नृत्य किसी मनोरंजन कथा के साथ होता है। 'लूर' और 'धमाल' इस अवसर के लोकप्रिय गीत हैं। होली पर इस नृत्य की खूबी शृंगार व हास्य रस पर होती है।

'असम' प्रान्त का 'बिहू' प्राचीन सामाजिक लोक-पर्व है। यह तीन अवसरों पर मनाया जाता है—पहला दीपावली, दूसरा संक्रान्ति तथा तीसरी होली। इसमें होली पर मनाये जाने वाले 'बिहू' का अधिक महत्व है। इसमें प्रायः ग्रामीण प्रेमी व प्रेमिकाओं में विवाह-संबंध होते हैं। इस महोत्सव में नृत्य एवं गीत की विशेषता रहती है। असम के नागाओं के 'खोनेमा' दल का इसी नाम का नृत्य बहुत मनोरंजक है। इसमें वस्त्राभूषणों से अलंकृत नवयुवकों का अपूर्व सजधज के साथ जुलूस निकाला जाता है। यह जुलूस दो वृत्ताकार रूप में परिणत हो जाता है, तत्पश्चात् यह दो भागों में बँट जाता है। कभी उसका एक भाग वृत्त के भीतर प्रवेश करता है व कभी दूसरा भाग। नर्तकों का पदाघात दृढ़तापूर्वक होता है।

---

47. श्री भैरो प्रसाद श्रीवास्व – **संगीत कला विहार (पत्रिका)** – दिसम्बर, 1967 पृ०सं० 561

संथालों का 'हण्टा नृत्य' हास्य रस से परिपूर्ण रहता है। 'वाहा' उनका द्वितीय नृत्य गीत है जो होली के अवसर पर करमा की भाँति गाया व नृत्य किया जाता है[48] पूर्णिमा का चन्द्रमा जब आकाश में उदित हो जाता है, तब युवतियाँ भाँति-भाँति के फूलों से सुसज्जित होकर वृक्ष के नीचे एकत्रित हो जाती हैं दूसरी ओर झुण्डों और वाद्यों सहित युवकों का दल एकत्रित हो जाता है। यह दल आगे बढ़कर युवतियों का हाथों में हाथ लेकर नृत्य करते हैं।

"होली" का त्यौहार अपने आप में एक मनोरंजन पर्व है जिस पर अनेकों जातियाँ तरह-तरह के नृत्य करके इस त्यौहार को मनाते हैं। भिन्न-2 जातियों में इस पर्व पर किये गये नृत्यों को भिन्न-भिन्न नाम दिये जाते है। जैसे—"खासी जाति" में यह नृत्य 'नौंगक्रेम' के नाम से किया जाता है। गोंडों का 'कर्मानृत्य' भी होली पर किया जाने वाला एक नृत्य है। "मुण्डा" के लोग होली को फागपूर्व कहते हैं व नृत्य करते हैं। 'कोल' में मदनोत्सव नामक पर्व माघ पुन्नी से आरंभ होकर फाल्गुन की होली तक चलता है। जिस पर किया नृत्य 'देशौलीबोंगा' के नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रकार भारत में होली हास-परिहास एवं रस, रंग का व्यवहार है। भारतीय जीवन में इसका कुटिया से लेकर राजमहल तक अधिक सम्मान होता है। होली का रंग श्रीमान से लेकर धनहीन तक के जनसमूहों में परमोल्लास का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। बृज, वृंदावन, नंदगाँव, बरसाने आदि की होली तो एक निराली चीज है। राधा के गाँव बरसाने और श्रीकृष्ण के गाँव नंदगाँव में होने वाली सामूहिक होली 'लट्ठमार होली' के नाम से भारतवर्ष में प्रख्यात है।[49]

राजस्थान में इस पर्व पर 'डंडा नृत्य' करते हुए यह पर्व मनाते हैं। इस नृत्य में प्रत्येक व्यक्ति (नर्तक) अपने हाथ में एक छोटा-सा डंडा रखता है जिसे वह बजाता है। इस नृत्य का नियंत्रण एक व्यक्ति बीच में बैठकर नगाड़े पर डंडे के प्रहार से करता है।

लोकनृत्य एक ऐसी कला है जिसमें मानव जाति ही नहीं बल्कि पुश-पक्षी भी उसमें हिस्सा लेते हैं। बटेर, हंस, मयूर, अश्व, हाथी, तीतर, मुर्गा और मत्स्य आदि भी उनके

---

48. भैरो प्रसाद श्रीवास्तव — **संगीत कला विहार (पत्रिका)** — दिसम्बर, 1967 पृ०सं० 563
49. वही — **संगीत कला विहार (पत्रिका)** — दिसम्बर, 1967 पृ०सं० 564

पालक, सारथी (सईस) और महावत आदि द्वारा नृत्य करते हैं जो प्रायः सरकस आदि में देखने को मिलता है। यह नृत्य मनोरंजक होता है।

"लाबो हंसो मयूरश्च हयो कुजर एवच
तितरः कुक्कुटोमीनो त्यष्टधा गतयोमता ॥"[50]

(नाद विनोद ग्रंथ)

इस प्रकार भारत में अनेक प्रकार के लोक-नृत्य प्रचलित हैं। जाति, समाज, प्रदेश आदि उनकी कई पहचानें हैं। इन नृत्यों का प्रमुख लक्षण है—लय और ताल। ये अनेकों वाद्यों, किन्तु अधिकतर ढोलक पर किये जाते हैं। कहने का अर्थ है कि ढोलक लोक नृत्य का एक प्रचलित रूप है।[51] नृत्य कला में संगीत का लय पक्ष ही होता है। नृत्य कला वस्तुतः नाट्य और संगीत की संधि में स्थित है। एक ओर भाव भंगिमाओं के कारण उसका संबंध नाट्य से होता है तो दूसरी ओर लय और ताल का प्रबल आधार रहने के कारण व संगीत के अन्तर्गत मानी जाती है।[52] महर्षि भरत ने नर्तन के तीन भेद कहे हैं जिन्हें नृत्त, नृत्त, और नृत्य कहा है। इसमें नृत्त् तो नाट्य है—नृत्त में नाट्य का प्रभाव कम होकर संगीत का प्रभाव दिखाई पड़ने लगता है और नृत्य में संगीत का प्रभाव अधिक बढ़ जाता है तथा नाट्य-गुण अंगिभूत होकर रह जाते हैं। नृत्य करते समय यद्यपि गान एवं वाद्य-वादन का ध्यान उपलब्ध होता है किंतु इस प्रक्रिया से नृत्य में स्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतएवं संगीत की दृष्टि से नृत्य एकांगी है अर्थात केवल गति अथवा लय पर आधारित है। कहने का अर्थ यही है कि नृत्य में संगीत का केवल लय तत्व ही पाया जाता है।[53]

नृत्य शास्त्र के विकास में यह तथ्य ध्यान में रखा जाता है कि नृत्य का मूल उद्देश्य भावाभिव्यक्ति ही है। ताल-लय सहित भावाभिव्यक्ति को ही नृत्य कहा गया है। प्रायः

---

50. श्री भैरो प्रसाद श्रीवास्तव – **संगीत कला विहार (पत्रिका)** – दिसम्बर, 1967 पृ०सं० 564
51. आचार्य सूर्यमणि शास्त्री – संगीत – अप्रैल, 1997 पृ०सं० 38
52. डा० लाल मणि मिश्र – भारतीय संगीत वाद्य – 1973, पृ०सं० 9
53. डा० लाल मणि मिश्र – भारतीय संगीत वाद्य – 1973, पृ०सं० 19

प्रत्येक शैली के नृत्य में अत्यधिक महत्व लय व ताल को दिया जाता है।[54] ताल व लय पर अधिकार करना नर्तक के लिये भी अति आवश्यक है, अन्यथा वह बेताला कहलायेगा।

नृत्य जहाँ एक ओर भावाश्रित है वहाँ दूसरी ओर उसे लय का भी बंधन है। इस प्रकार दुहरी विशेषता रखने वाला पूर्ण नृत्य ही संगीत का सही रूप में अंग है। नृत्य में ताल (जो लय के नापने का पैमाना है) का प्रदर्शन या दिग्दर्शन पद-संचालन द्वारा होता है। आचार्य नंदिकेश्वर ने लिखा है कि "जैसी ताल हो उसी के अनुरूप पद-संचालन होना चाहिये। जैसी पैरों की गति हो वैसे ही हाथ चलने चाहियें। हाथों के संचालन के अनुसार ही दृष्टि की योजना हो और जिधर दृष्टि जाये उधर ही भाव हों और भावों का अनुगमन ही मन द्वारा किया जाना चाहिये।"[55] इस बात से यही तात्पर्य है कि ताल (तथा लय) और भावों का आपस में अन्योन्याश्रित संबंध है। यही कारण है कि नृत्य में भावों का प्रदर्शन ताल के अनुरूप होता है क्योंकि नृत्य में नायक का वास्तविक चरित्र उसकी गतियों को मूल रूप में प्रस्तुत करने पर ही वांछित प्रभाव डाल सकता है और गतियाँ लयाधीन हैं।

लोकगीत/नृत्य प्रायः गतिप्रधान होते हैं, अतः ताल-वाद्यों में मुख्यतः लय का स्थान सर्वोपरि होता है। तालवाद्यों की एक और विशेषता है कि इनका प्रयोग हर्षोल्लास के लिये किया जाता है। अतएव तालवाद्यों का प्रयोग प्रतीकात्मक कहा जा सकता है। लोक नृत्य के साथ जिन ताल वाद्यों का प्रयोग होता है, उन्हें ही लोक 'ताल-वाद्य' कहते हैं।

किंतु इनकी अनुपस्थिति में अत्याधुनिक ताल-वाद्य तबला सर्वाधिक उपयोगी साबित हुआ, जो हर ताल वाद्य की कमी पूरी करता है और किसी भी लोक-संगीत व नृत्य में तबले का प्रयोग उसके ऊपर थोपा हुआ-सा नहीं जान पड़ता, अपितु वह अन्य लोक ताल वाद्यों की अपेक्षा लोक-संगीत व नृत्य में चार चाँद लगा देता है व संगीत को सरस बना देता है।[56]

---

54. सुभाष दीक्षित – **संगीत (पत्रिका)** – मार्च, 1974 पृ०सं० 19
55. श्री पुरु दाधीच – **संगीत (पत्रिका)** – अगस्त, 1959 पृ०सं० 20
56. प्रदीप कुमार रावत – **संगीत (पत्रिका)** – जनवरी-फरवरी, 1993 पृ०सं० 61

लोक संगीत/नृत्यों में तबले की ताल को प्राण समझा जाता है। तबले जैसे लय-वाद्य के अभाव में नृत्य होना असंभव-सा जान पड़ता है क्योंकि आदिवासियों के नृत्यों की जीवन शक्ति ताल-वाद्य ही है। ताल, लय एवं स्वर को नियंत्रित करती है तथा संगीत को आकर्षक व नर्तकों की पद-गति को सुव्यवस्थित रखती है तथा तत्कार, परन, बोल, भाव आदि का गहरा संबंध तबले के बोल-विस्तार से ही है।[57]

अन्त में शोधकर्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि भारतीय लोक-नृत्यों में लय अथवा ताल का बहुत महत्व है यदि भाव, नृत्य का सुंदर शरीर है तो लय उसकी आत्मा है। जब हम किसी ऐसे नृत्य को देखते हैं जिसमें लय अथवा ताल का महत्व नहीं है तो अंगों का अनिश्चित परिचालन और घुँघरुओं की बेताली ध्वनि दर्शनेन्द्रियों और श्रवणेन्द्रियों के लिये कड़वाहट का कारण बन जाती है, फिर चाहे उसकी कथा कितनी ही सुंदर क्यों न हो। जब हम किसी सुंदर प्रतिमा को देखते हैं तो विचार उठता है कि काश यह जीवित होती। ठीक इसी प्रकार सुंदर भावों वाला नृत्य भी लय के आधार बिना प्राणीविहीन प्रतिमा के समान है। यही कारण है कि शास्त्रीय संगीत के साथ-साथ लोक संगीत में ताल को इतना महत्व दिया गया है। भिन्न-भिन्न भाषाओं के भिन्न-भिन्न लोकनृत्य होते हुये भी उसका मूल आधार ताल ही है संगीत में ताल का समावेश गायन, वादन तथा नृत्य तीनों के अन्तर्गत माना गया है। बिना ताल के तीनों ही अपूर्ण तथा आकर्षणहीन हैं। ताल, संगीत में सदा अखंड रूप में विद्यमान रहती है। विभिन्न लयकारियों के प्रयोग से जहाँ एक ओर प्रदर्शन में चमत्कृति उत्पन्न होती है, वहीं दूसरी ओर प्रदर्शनकर्ता को किंचित विश्रांति का अवसर भी प्राप्त होता है। विभिन्न लयों, वृत्तियों द्वारा विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति भी प्रगाढ़ होती है। उदाहरण के लिये—शोक एवं कारुणिक भावों का प्रदर्शन विलंबित लय में जहाँ प्रभावकारी होता है, वहीं उत्साह और उमंग के भावों को द्रुत लय द्वारा प्रभावशाली रीति से अभिव्यंजित किया जा सकता है। इसी प्रकार निर्वेद भावों की अभिव्यंजना के लिये

---

57. प्रदीप कुमार रावत – **संगीत (पत्रिका)** – जनवरी-फरवरी, 1993 पृ०सं० 62

मध्य लय सर्वोत्तम मानी गयी है। इन लयों के द्वारा ही नृत्य को आकर्षक रूप दिया जाता है। ताल, काल मापक और सांगीतिक क्रियाओं का आधार है। कहने का अर्थ यही है कि जिस प्रकार तल अथवा धरातल पर सृष्टि निर्भर रहती है, उसी प्रकार सांगीतिक सृष्टि तालाधारित है।

-x-x-x-x-x-x-x-x-x-x-x-x-

चतुर्थ अध्याय

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत और ताल

चतुर्थ अध्याय

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत और ताल

संप्रति संगीत के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। प्रायः प्रत्येक देश में जहाँ संगीत परंपरा समृद्ध रही है, संगीत की अनेक विधायें प्रचार में हैं। इसी प्रकार भारतीय संगीत को लोक संगीत तथा शास्त्रीय संगीत इन दो वर्गों में रखा जाता है। कुछ अन्य विचारकों का मत है कि लोक संगीत तथा शास्त्रीय संगीत के मध्य एक और कोटि भी है जिसे वे 'सुगम संगीत' कहते हैं। कुछ लोग सुगम-संगीत के अन्तर्गत ही 'लोक-संगीत' को मानते है और इस प्रकार ये द्विविध वर्गीकरण के पक्षधर हैं।

शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त अन्य संगीत को हम चाहे कुछ भी नाम दें, किंतु वास्तविकता में यह प्रश्न उठता है कि शास्त्रीय संगीत क्या है? अथवा किस संगीत को शास्त्रीय संगीत कहते हैं? सामान्य दृष्टि से विचार करें तो संगीत के दो अर्थ प्रकट होते हैं–प्रथमानुसार–''शास्त्रीय संगीत'' से अभिप्राय उस संगीत से है, जो शास्त्र-आधारित अथवा शास्त्र-अनुमोदित है; क्योंकि इसी अर्थ में शास्त्रोक्त होने पर 'शास्त्रीय' शब्द प्रचलित हुआ है।[1] दूसरे अर्थानुसार शास्त्रीय संगीत से अभिप्राय क्लासिकल म्यूजिक से है जिसका हिन्दी पर्याय ''शास्त्रीय संगीत'' प्रचलित हो गया है। अन्य अर्थानुसार–''जो संगीत परंपरानुसार तथा शास्त्रबद्ध हो वही 'शास्त्रीय संगीत' कहलाता है।''

सही अर्थों में–''शास्त्रबद्ध संगीत से तात्पर्य उस संगीत से भी है जो संगीत, संगीत-शास्त्र के स्वर, लय, तालादि नियमों से बँधा होता है तथा जिसमें नियमों का उल्लंघन करने पर उसकी शुद्धता तिरोहित हो जाती है। परिवर्तन इसमें भी मान्य है परन्तु नियमानुकूल।[2]

आचार्य बृहस्पति के अनुसार ताल का महत्व स्वर से अधिक है, क्योंकि ताल ही

1. डा० छायारानी टी० 'सूफी'– **संगीत (पत्रिका)** – जुलाई 1994 पृ०सं० 12
2. डा० चित्रा गुप्ता–संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता–1992 पृ०सं० 58

वह शक्ति है जो स्वर में प्राण का संचार करती है।

"ताल संगीत का वह आसन है जिस पर गीत, वाद्य और नृत्य 'प्रतिष्ठित' या टिके रहते हैं।"[3]

संगीत द्वारा भावाभिव्यक्ति स्वरों के माध्यम से अर्थाभिव्यक्ति है। संगीत अपने मूल रूप में स्वर-योजना ही है, जिसका निबन्धन ध्वनि, नाद, लय, गति, ताल, पद आदि के सहारे होता है। स्वर विन्यास तथा सामंजस्य के द्वारा ही संगीत में 'श्रव्यात्मक रूप' का निर्माण होता है, जिसमें संगति विशेष प्रयोजनीय रहती है। पतंजलि के अनुसार 'स्वर' वे हैं जो स्वयं शोभित हैं—

"स्वयं राजन्ते इति स्वराः"[4]

शारंङ्गदेव ने इसी का पल्लवन करते हुये लिखा है—

"स्वतो रंजयति चित्तसं स्वर उच्चये।"

अर्थात जो अपने सहज स्वरूप से ही श्रोता के चित्त का अनुरंजन करता है उसे स्वर कहते हैं।[5]

ओमकारनाथ ठाकुर ध्वनि की मधुरता या कर्णप्रियता तथा काल की नियमित गति को ही स्वर और लय के रूप में संगीत को दो विशेषतायें मानते हुये लिखते हैं—"ध्वनि यदि कानों को सुनने में रंजक न लगे तो उसे हम संगीत के उपयुक्त नहीं मानते। इसी प्रकार यदि कोई नियमित गति न हो तो भी संगीत नहीं बन सकता। इन्हीं दोनों को सांगितिक भाषा में स्वर तथा लय कहते हैं तथा यही संगीत के दो मुख्य तत्व हैं।"[6]

पुराविदों के अनुसार संगीत कला तथा शास्त्र का उद्‌गम स्वयंभू परमेश्वर से हुआ है। भारतीय परंपरा के अनुसार-नटराज शिव नृत्य कला के आदि स्रोत हैं तथा भगवती सरस्वती गीत तथा वाद्य कला की प्रवर्तिका हैं। दत्तिल के अनुसार—गन्धर्व के आदि

---

3. सरयू कालेकर — **'रामपुर की सदारंग परंपरा और प्रतिनिधि आचार्य बृहस्पति'** — 1984 पृ०सं० 129
4. डॉ० कविता सूद— **संगीत (पत्रिका)** — 1990, जुलाई, पृ०सं० 3
5. डॉ० नगेन्द्र, — **भारतीय संगीत शास्त्र की भूमिका** — पृ०सं० 124
6. डॉ० कविता सूद— **संगीत (पत्रिका)** — 1990, जुलाई, पृ०सं० 4

प्रवचनकार स्वयंभू ब्रह्म हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार गांधर्व के तत्वों को समाहित करने वाला नाट्यवेद स्वयं ब्रह्मा की रचना है। नृत्यकला का ताण्डव तथा लास्य रुप भगवान शिव तथा पार्वती की देन माना जाता है। अन्य परंपरानुसार संगीत का उद्गम पशु-पक्षियों की ध्वनि से हुआ है। 'मतंग' बृहद्देशी में 'कोहल' के नाम से निम्न श्लोक उपलब्ध है—

षड्जं वदति मयूर, ऋषभ चातको वदेत।
अजा वदति गान्धार, कौञ्चो वदति मध्यम् ॥
पुष्प साधारणेकाले, कोकिलः पंचमो वदेत्।
प्रावृटकाले तु सम्प्राप्ति, धैवतं दुदरो वदेत ॥
सर्वदा च तथा देवि निषादं वदते गजः।

प्रस्तुत श्लोक-लेखक की विनम्र सम्मति से यह सिद्धान्त आंशिक रूप से सत्य माना जा सकता है। अपने पार्श्वस्थ पशु तथा प्रकृति की विभिन्न ध्वनियों को सुनकर तथा उनकी मञ्जुमञ्जुलता को अनुभूत कर स्वयं ऐसी ही ध्वनियों को गाने की प्रेरणा आदिम मानव को हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।[7]

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सैद्धांतिकता और वैज्ञानिकता के माध्यम से स्पष्टता तथा सरलता है। भारतीय सांगीतिक रचना के नियम केवल संगीत के ही नियम नहीं है, उनका स्पष्ट संबंध सूक्ष्म तथा स्थूल प्राकृतिक तत्वों से है। इसी कारण हम संगीत को अपने इतना निकट पाते हैं। भारतीय संगीत की एक अन्य विशेषता उसमें प्रयुक्त निश्चित परिभाषिक शब्दावली है, जिससे संगीत का केवल शास्त्रीय पक्ष ही नहीं, क्रियात्मक पक्ष भी अत्यंत समृद्ध तथा स्पष्ट हुआ है। आधुनिक ठाठ-राग-वर्गीकरण की पद्धति इसी प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर टिकी है। राग, राग-जाति, काल, लक्षण, ताल, आरोह-अवरोह, ठाठ आदि के साथ ग्रह, अंश, न्यास, वादी-संवादी, रूपकालाप, आलप्तिगान आदि अनेक पारिभाषिक शब्द संगीत के स्वरूप का निर्माण भी

---

7. शरच्चन्द्र परांजपे – **भारतीय संगीत का इतिहास** द्वितीय संस्करण – 1985 पृ०सं० 6-7

करते हैं और उसे स्पष्टता भी प्रदान करते हैं। स्वर और लय संगीत के मूल तत्व हैं, पद, गौण, तत्व। संगीत के पारिभाषिक ज्ञान से अपरिचित रहने पर भी संगीत से आनंदानुभूति होती है। वस्तुतः संगीत में शब्द और अर्थ की द्विविधता नहीं होती। अपने स्वर, लय, गति, स्वर-संगति आदि के माध्यम से शास्त्रीय संगीत एक संपूर्ण मानसिक प्रभाव उत्पन्न करता है, वास्तव में यही उसका अर्थ है। इसी कारण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी अनुभूति को सहेतुक मानते हैं।

स्वर-तालबद्ध शब्द-रचना जो मधुर हो, जिससे सुनने वालों का चित्त प्रसन्न हो, गीत कहलाता है। शारंगदेव कृत संगीत-रत्नाकर में गीत की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

'रञ्जक-स्वर-संदर्भो गीत मित्यभिधीयते''

अर्थात स्वरों का वह समुदाय जिससे मन का रंजन हो गीत कहलाता है। गीत के भी दो प्रकार बताये गये हैं—गांधर्व और गान। जिस संगीत का प्रयोग गांधर्व लोग किया करते थे, गांधर्व गीत कहलाता था। उसे शब्द प्रधान तथा वेदों के समान अपौरूषेय माना जाता था। उसे मार्ग अथवा ''मार्गी संगीत'' भी कहा गया है। कारण, उसे मोक्ष प्राप्ति का साधन (मार्ग) माना जाता था। उसमें कठोर नियमों का पालन आवश्यक था, किन्तु अब 'मार्गी संगीत' का प्रचलन समाप्त हो गया है।

जिस संगीत की रचना हमारे संगीतज्ञ समाज के मनोरंजन हेतु करते आये हैं उस संगीत को 'देशी संगीत' का नाम दिया गया। स्पष्ट है कि संगीत जन-रुचि के अनुसार समय-समय पर बदलता रहा है—तथा इसमें आवश्यकतानुसार संगीतज्ञों द्वारा संशोधन और परिवर्तन होते रहे हैं। इस संगीत के विषय में विद्वानों का मत है—

देशे देशे जनानां, यद्रुच्या हृदरंजकम्।
गानं च वादनं, नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते ॥ (रत्नाकरे)[8]

---

8. विष्णु नारायण भातखंडे जी – **हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति** चतुर्थ संस्करण पृ०सं० 30

देशी संगीत को भी दो वर्गों में रखा गया है। 1. निबद्ध गान 2. अनिबद्ध गान

'निबद्ध गान'–ताल में निबद्ध अथवा तालबद्ध संगीत-सामग्री 'निबद्ध गान' कही जाती है। वर्तमान काल में प्रचलित गीत जैसे—ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, ठुमरी आदि तथा प्राचीन काल के प्रबन्ध, वस्तु, रुपक आदि ही तालबद्ध होने के कारण निबद्ध गान कहलाते है।

अनिबद्ध गान–जो सामग्री ताल में न बँधी हो केवल स्वरबद्ध हो, उसे अनिबद्ध गान कहते हैं जैसे—आलाप। मुख्यतः आलाप का प्रयोग गीत अथवा गत के पूर्व होता है। निबद्ध व अनिबद्ध गान के विषय में संगीत रत्नाकर में कहा गया है—

निबद्धमनिबद्धं तदद्वेधा निगदितं बुधैः।
बद्धं धातुभिंरगैश्च निबद्धमभिधीयते ॥
आलप्तिर्बं धहीनत्वाद निबद्ध मितीरितम्।
संज्ञात्रयं निबद्धस्य प्रबन्धो वस्तुरुपकम् ॥

(रत्नाकरे)[9]

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत नियमबद्ध होकर भी एक पूर्ण स्वतंत्र कला है। अनुशासन और स्वतन्त्रता के बीच कला का रूप और अधिक निखर उठता है। किसी भी राग के गायन, तथा ताल के वादन में गायक-वादक उसे कुछ नियमों तथा एक निश्चित स्वरूप के अंतर्गत सीमित करके मनचाहा विस्तार दे सकता है। स्वर, राग, ताल, ठाठ आदि वही रहने पर भी स्वर-विस्तार आलाप, स्वरूप तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से कलाकार अपनी प्रस्तुति को हर बार नया रूप दे सकता है।[10] वास्तव में संगीत के नियम गणित या विज्ञान के नियम नहीं हैं। संगीत नियमों में एक अनोखी स्वतन्त्रता जुड़ी रहती है जो रसानुभूति में समर्थ होती है। गायन, वादन तथा नृत्य के अलग-अलग अथवा सम्मिलित

---

9. विष्णु नारायण भातखंडे जी – **हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति** चतुर्थ संस्करण पृ०सं० 30
10. डॉ० कविता सूद– **संगीत (पत्रिका)** – 1990, जुलाई, पृ०सं० 6

प्रभाव की अनुभूति में आस्वादक तक की गम्यता लय के माध्यम से है। निरंतर आगे की ओर बढ़ती लय-गति के कारण संगीत अपनी गतिशीलता में ही रसानुभूति के योग्य बनता है। उसे स्थिर रूप में एक ही बार ग्रहण नहीं किया जा सकता। डॉ० गार्गी **खोजनोव के** अनुसार–"एक विशेष ताल से उत्पन्न ध्वनि लोगों को सामान्य अवस्था में ध्यान अवस्था में ले जाने में सक्षम है।" ऐसी तालें अधिकांश भारतीय शास्त्रीय संगीत की धुनों में नीहित हैं। यह मानवीय तनावों को दूर करने में सहायक हैं। जब इतनी तीव्र शक्ति हमारे संगीत में विद्यमान है, तब हम क्यों कर्णभेदी ध्वनि उत्पन्न करने वाली ध्वनियों की ओर प्रवृत्त हों?[11]

शास्त्रीय संगीत में लय अपने अनुशासन और नियमितता में ही अनियमित रहकर रसानुभूति कराती है। एक ही ताल और लय के अन्तर्गत कभी दुगुन, कभी चौगुन, कभी डेढ़गुन तो कभी तिगुन आदि और कभी एक निश्चित लय में चलकर चमत्कार, सौंदर्य तथा आकर्षण पैदा करती है। कभी विलंबित, कभी द्रुत और कभी मध्य लय में चलकर संगीत का प्रवाह मधुर आकर्षण पैदा करता है।[12]

"द्रुतो मध्य विलम्बरश्च द्रुत शीघ्रतमो मतः"
द्विगुण द्विगुणौ ज्ञेयों तस्मान् मध्य विलंबितौ ॥"
रामशंकर (पागलदास)

अर्थात, विलंबित के द्रुत (दून) को मध्य कहते हैं और मध्य के द्रुत को अणुद्रुत (चौगुन) कहते हैं। तीनों लयों का रूप न्यूनाधिक होने से बनता है।

एवं

"लय शोणित वपु ताल में, मात्रा नाड़ी जान।
त्वच आघात प्रभानिये कहत सबै बुधिमान ॥"[13]
राम शंकर (पागलदास)

---

11. मनोज आनंद – **संगीत (पत्रिका)** – जुलाई, 1990 पृ०सं० 9
12. डॉ० कविता सूद– **संगीत (पत्रिका)** – 1990, जुलाई, पृ०सं० 9
13. श्री भगवान दास मृदंगाचार्य – **मृदंग तबला प्रभाकर** प्रथम संसकरण पृ०सं० 4

इसके अतिरिक्त (1) अतिद्रुतलय, (2) अति-अतिद्रुतय लय, (3) अति-विलंबित लय, (4) अति-अति विलंबित लय भी होती हैं। किसी एक गति को बराबर समान अथवा ठाह लय मानकर लय की सबसे छोटी इकाई एक मात्रा में एक से अधिक मात्रायें बोलने को लयकारी कहते हैं। यह लयकारियाँ निम्नलिखित हैं—(1) दुगुन (2) चौगुन (3) अठगुन (4) छःगुन (5) तिगुन (6) डेढ़गुन (7) सवागुन (8) पौन गुन इत्यादि। दो पर न बाँटी जाने वाली लयकारियों को विकट लयकारियाँ कहते हैं, ये निम्नलिखित हैं—आड़ी, बिआड़ी, कुआड़ी, महाआड़ी, महाबेड़ी, महाकुआड़ी, आड़ की आड़ आदि।[14]

शास्त्रीय संगीत की विशेषता है कि वह शब्दार्थ रहित होने पर भी काव्य के समान रसानुभूति में समर्थ होता है। राग की आत्मा 'रस' है और रसाभिव्यक्ति में ही उसकी सार्थकता है। प्राचीन काल में संगीत पर रस की दृष्टि से विचार नाटक के परिप्रेक्ष्य में ही हुआ। प्रायः सभी आचार्यों ने सांगीतिक स्वरों का संबंध रसों से जोड़ा। यहाँ यह स्मरणीय है कि संगीत विज्ञान की भाँति न तो गणित तर्क पर आधारित है, और न ही काव्य की भाँति काल्पनिक उड़ान है। प्रत्युत यह एक ऐसा प्रकृति प्रदत्त उपहार है जो मानवीय जीवन को अनादिकाल से प्रेरित व प्रभावित करता रहता है। यूरोप के महान संगीतकार "रार्बट शोमैन" का यह कथन सार्थक प्रतीत होता है कि—"संगीत का सौंदर्याकर्षण उसकी उत्पत्ति के रहस्य में नीहित है।"

संगीत के आधार घटक, स्वर, ताल तथा पद हैं तथा इन तीनों की त्रिवेणी ही सामंजस्यपूर्ण एकता में एकत्रीकृत होकर जब अभिव्यक्त होती है, तभी वह संगीत-सौंदर्य का वास्तविक सृजन करती है। नाट्य-शास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत ने इसीलिये गांधर्व (जो प्राचीन काल में संगीत की संज्ञा थी), का लक्षण करते हुये कहा है—"गांधर्वम् त्रिविधम् विधात् स्वर ताल पदात्मकम्।"[15]

---

14. श्री भगवत शरण शर्मा – **ताल प्रकाश** – प्रथम संस्करण – 1959 पृ०सं० 16
15. डॉ० सुरेन्द्र कु० त्रिपाठी 'मूर्ति' – **संगीत (पत्रिका)** – दिसम्बर 1989 पृ०सं० 6

संगीत की सृष्टि नाद से होती है। जिस प्रकार मिट्टी अथवा पत्थर से प्रतिमा, रंग-रोगन से चित्र और ईंट से भवन तैयार होते हैं उसी प्रकार संगीत का उपादान नाद है। अध्यात्म क्षेत्र में इस नाद को ब्रह्म का स्वरूप माना गया है। इसे 'शब्द ब्रह्म', 'नादब्रह्म' कहकर अभिहित किया गया है। यह कोई अलंकारिक अभिव्यक्ति नहीं, वरन् इसमें सत्यता का समावेश है। मस्तिष्क का बुद्धि विपर्याय तथा चिंतन का विकृत विचार-प्रवाह का निराकरण करने में यह शत-प्रतिशत सफल सिद्ध होता है। जब अकेले नाद में इतनी सामर्थ्य है तो नादों के समुच्चय संगीत में कितनी शक्ति होगी, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।[16]

संगीत का द्वितीय महत्वपूर्ण घटक ताल है, जो स्वरों द्वारा सृजित सौंदर्य की अभिवृद्धि करता है। जिस प्रकार तल अथवा धरातल पर सृष्टि निर्भर रहती है, उसी प्रकार सांगीतिक सृष्टि तालाधारित है। ताल का संगीत में वही महत्व है जैसा कि काव्य में छंद का। इसीलिये छंद को वेदों का पैर कहा गया है। पैरों से ही प्राणी की स्वाभाविक गति संभव है और गति ही जीवन है। जिस प्रकार छंद का अर्थ वश में करना या ढँकना है, 'छादनात् छंदः', क्योंकि छंद द्वारा अक्षरों को ढका जाता है, अर्थात उनमें तारत्मय स्थापित किया जाता है, उसी प्रकार ताल द्वारा स्वरों का आच्छादन होता है। सांगीतिक रचनाओं में गत्यात्मकता ताल से ही संभव होती है, चाहे वह ताल समूमात्रात्मक हो अथवा विषममात्रात्मक।[17]

मात्रा ताल की इकाई है तथा उसी के संघात् से ताल रचना होती है। जिस प्रकार काल को हम दृष्टि से पल, घड़ी, घंटा इत्यादि के रूपों में खंडित करके देखते हैं, उसी प्रकार मात्रा अथवा काल ताल खंडरूप है। वस्तुस्थिति तो यह है कि ताल, संगीत में सदा अखंड रूप में विद्यमान रहती है। ताल की गति को सांगीतिक भाषा में लय अथवा गति कहा जाता है तथा लय के भेद लयकारियाँ हैं। संगीत की सरसता को और अधिक प्रभावशाली बनाने

---

16. अभय प्रकाश जैन – **संगीत पत्रिका** – दिसम्बर, 1989 पृ०सं० 3
17. डॉ० सुरेन्द्र कु० त्रिपाठी 'मूर्ति' – **संगीत (पत्रिका)** – दिसम्बर 1989 पृ०सं० 8

के लिये ताल और लय का एक विशेष योगदान है। प्रथम तो यही कि ताल द्वारा सांगीतिक रचनाओं में एक नियमितता का क्रम आ जाता है तथा अतिरिक्त ताल संगीतज्ञ की त्रुटियों को ढँकने का कार्य भी करता है। गायक अथवा वादक की श्वास-प्रक्रिया के कारण जो किंचित अवरोध या शिथिलता संगीत-प्रदर्शन में संभाव्य रहती है उसे तालिक-चक्र सहजता एवं स्वाभाविक रीति से संतुलित बनाये रखता है। ताल, प्रदर्शन में चमत्कृति उत्पन्न करने के अतिरिक्त प्रदर्शनकर्ता को किंचित विश्रांति का अवसर भी प्रदान करती है। शास्त्रीय संगीत के निबद्ध तथा अनिबद्ध, दोनों ही रूप मनोहारी होते हैं, कारण कि दोनों में ताल प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहती है। संगीत का अनिबद्ध रूप तालहीन नहीं होता, जैसा कि कुछ लोगों को भ्रांति है। प्रत्युत इसमें लय का समावेश उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार कि अतुकांत कविता में प्रवाह होता है।

शास्त्रीय संगीत का तृतीय घटक शब्द अथवा पद है तथा इसके द्वारा ही संगीत और काव्य का एकीकरण होता है[18] प्रायः लोग इस भ्रम में रहते हैं कि पदविहीन संगीत भी होता है, किन्तु यह बात नितांत भ्रामक है। पद न केवल संगीत का एक आवश्यक घटक है अपितु संगीत में निश्चितता पद के द्वारा ही संभव है। यह अलग बात है कि पद सार्थक हो अथवा निरर्थक। काव्य में जहाँ सार्थक पदों का ही प्रयोग किया जाता है वहाँ संगीत में सार्थक के साथ-साथ निरर्थक पदों का प्रयोग भी प्रचलित है। ये पद अर्थ की दृष्टि से निरर्थक हो सकते हैं, प्रयोजन की दृष्टि से नहीं। 'देरे नाना दिर दिर नाना तोम् ताना नाना' इत्यादि शब्दों का प्रयोग सांगीतिक रचनाओं में प्रचुरता से मिलता है, किन्तु उनका भी अपना एक महत्व है। सौंदर्य-सृजन में इस प्रकार के पद न केवल नवीनता की उत्पत्ति करते हैं अपितु उनके द्वारा कंट्रास्ट (Contrast) भी उत्पन्न होता है, जिससे श्रोता का चित्त आह्लादित होता है। भाव के महत्व को समझने के लिये अभाव का होना आवश्यक है। इसी प्रकार सुख की अनुभूति दुःख की अनुभूति के बिना नहीं हो सकती। सांगीतिक

---

18. डॉ० सुरेन्द्र कु० त्रिपाठी 'मूर्ति' – **संगीत (पत्रिका)** – दिसम्बर 1989 पृ०सं० 8

अर्थहीन पदों का भी इसी परिप्रेक्ष्य में महत्व समझा जा सकता है। सार्थक रूप में पद संगीत के लिये एक वरदान होते हैं।

संगीत का सौंदर्य-शास्त्र स्वर, ताल और पद-संबंधी उन सभी बिन्दुओं का दार्शनिक चिंतन है, जो तत्संबंधी सौंदर्यानुभूति में सहायक हैं।[19]

आचार्य बृहस्पति ने राग व ताल में सिद्धि पाने के लिये कहा है कि–

रागों के पल्टों को बार-बार दोहराइये, जब तक कि उसका रूप आपके मस्तिष्क में बैठ न जाये। पल्टों की अच्छा साधना हो जाने पर एक-एक मात्रा में दो-दो स्वरों को कहना चाहिये। प्रत्येक मात्रा पर ताल पड़ते रहना चाहिये और हर तान कहने के पश्चात् ख्याल अथवा बंदिश का मुखड़ा कहते रहना चाहिये। इस प्रकार तानों को एक गुन, दुगुन और चौगुन की लय में अभ्यास करना चाहिये। यह विधि तानों को लय और ताल में अभ्यास करने की है।

एक ही पलटा बराबर की लय में हाथ से ताल देकर जब घंटों परिश्रम किया जायेगा तब इसी एक पल्टे से विभिन्न तानों के गुलदस्ते तैयार हो जाते हैं, क्योंकि यह कहावत प्रसिद्ध है कि–"काम को काम बताता है।" यह बात केवल सुनकर निकाल देने की नहीं है इस पर गौर करके अमल करने पर ही इसका आनंद आयेगा।[20]

कंठ और वाद्य संगीत में गमक का स्वरूप पृथक-पृथक होता है, जैसा कि दो कंठ अथवा वाद्यों में। इसका कारण यह है कि एक ही ठाठ से उत्पन्न होने वाले समान स्वरों के राग, जिनकी आरोही-अवरोही भी समान ही हो केवल गमक के प्रयोग द्वारा ही दो राग बन जाते हैं। इसके अर्थ यही हुये कि केवल विराम द्वारा ही राग की सुदंरता, भावुकता और स्वाभाविकता आदि गुणों को बदला जा सकता है।

'अमरकोष' कहता है कि समय का माप ही 'ताल' है। उसका माप लघु, गुरु तथा

---

19. सुरेन्द्र कुमार त्रिपाठी मूर्ति – **संगीत (पत्रिका)** – दिसम्बर 1989 पृ०सं० 19
20. आचार्य बृहस्पति – **संगीत चिंतामणि** – पृ०सं० 431

प्लुत द्वारा किया जाता है।[21] लघु एक मात्रा है तथा दीर्घ दो मात्रायें हैं। भिन्न पक्षियों की बोलियों को भिन्न-भिन्न मात्राओं का आधार माना है। उदाहरण के लिये नीलकंठ की बोली एक, कौए की बोली दो तथा मोर की बोली तीन मात्राओं को प्रकट करती है। ताल के अंतर्गत भी चार प्रमुख भाग—1. सम 2. विषम 3. अतीत 4. अनाघात। जैसे कि तीन ताल में चार-चार मात्राओं के चार भाग हैं। उसमें तीन भागों पर 'ताली' है तथा एक भाग पर ताली नहीं 'खाली' है। दूसरी ताल पर 'सम' है। 'सम्' के कुछ ही समय बाद में ताल देने को विषम तथा कुछ पहले ताल देने को अतीत तथा अतीत व समय अथवा सम या विषम के मध्य में ताल देने को 'अनाघात कहते है।[22]

इसी प्रकार लय को भी तीन भागों में विभाजित किया गया है—विलंबित, मध्य, द्रुत। राग की चाल का लय से घनिष्ठ संबंध है। शांत-रस के रागों को विलंबित लय में ही उत्तम प्रकार से गाया जा सकता है। द्रुत लय में ऐसे राग गाने से उनका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। स्वरों को शुद्ध रूप में रखने के लिये उनके गायन-काल में लय-मात्रा का ध्यान रखना पड़ता है—जैसे कि—चार श्रुतियों वाले स्वर में तीन अथवा दो श्रुतियों वाले स्वर से अधिक समय लगाना पड़ेगा। इसी कारण लय में भीड़ रखने के लिये आवाज को चार श्रुतियों के स्वरों में तीन अथवा दो श्रुतियों वाले स्वरों की अपेक्षा अधिक गंभीरता दिखाई देगी। अर्थात, चार श्रुतियों वाले स्वर अथवा दो श्रुतियों वाले स्वरों का एकीकरण जब गमक द्वारा किया जाये, तो ये श्रुतियाँ ही लय में विराम का काम करती है।[23]

लय को उलट-पलट कर कुआड़ी, आड़ी तथा बिआड़ी आदि बनाया गया है। इसीलिये इसमें सम, विषम, अतीत व अनाघात चारों गृहों का समावेश किया गया है। इनसे सम-स्थान में सुंदरता उत्पन्न की जाती है। गायक लय में कुशलता दिखाने हेतु अपने गायन के मध्य में सम-स्थानों को इनके आधार से विचलित करता रहता है।

---

21. श्री भगवान दास मृदंगाचार्य — **मृदंग तबला प्रभाकर** प्रथम संसकरण पृ०सं० 2
22. वही — **मृदंग तबला प्रभाकर** प्रथम संसकरण पृ०सं० 2
23. अविनाश चंद्र पाण्डेय — **संगीत (पत्रिका)** — जुलाई, 1986 पृ०सं० 15

संगीत में स्वतंत्र वादन में वादक को अनेकों प्रकार की लय प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है जिनका वादन उठान, परन, गत, रेला, टुकड़े आदि के रूप में किया जाता है। यही कलायें नृत्य व अन्य वाद्यों की संगत करके उनकी शोभा बढ़ाती हैं। 'उठान' परन का ही एक विशिष्ट प्रकार है जो नृत्य या तबला सोलो में सर्वप्रथम बजायी जाती हैं। नृत्य के आरंभ में जिस प्रकार एक जोरदार छंद (परन) द्वारा शुरूआत की जाती है उसी प्रकार पूरबबाज (वाराणसी) में ऐसे बोलों से सोलो का आरंभ होता है। 'उठान' पहले बराबरी की लय में बजाकर उसकी दुगुन की जाती है। इसके बोलों के चयन में परन की सारी विशेषतायें होने के कारण इसे प्रारंभिक 'परन' कहना अनुचित न होगा। उदाहरण हेतु उठान के निम्न बोल प्रस्तुत है जो कि तीन ताल में निर्मित की गयी है।

घिटघिट	घिड़नग	त्रकतूना	किड़नग	घिटतक	ऽतधित	तकऽत्त	तककत
x				2			
धिरधिरकिटतक	तात्रकतक	तक्ड़ान	धाऽकत	धिंऽता	ऽनधाऽ	दिंऽताऽ	कऽऽतं
0				3			
कत्रकधा	तिटकत	धाऽकत	धाऽकत	धाऽ	कततक	कत्रकधा	तिटकत
x				2			
धाऽकत	धाऽकत	धाऽ	कतकत	कत्रकधा	तिटकत	धाऽकत	धाऽकत
0				2			

"परन"–परन एक सुंदर व जोरदार बोलों का वह समूह है जो कम-से-कम दो या अधिक आवर्तन में होना आवश्यक है। यह पखावज पर बजायी जाती है किन्तु आधुनिक समय में पखावज के ही बोलों को तबले पर भी बजाया जाता है। एक ही परन विभिन्न लयों में बजायी जाती है। दिल्लीबाज में परन कम मिलती है, किन्तु पूरब तथा पंजाब के बाजों में उसका काफी प्रचार है। परन के विषय में मृदंगाचार्य यमुना जी का कथन है–

उघट करन नाना लये, होंय घनाक्षर वर्ण

धमक-धमक धधकार गत, ताको कहियत पर्ण[24]

"रेला"–कायदे की बंदिश के समान निर्मित बोलों का वह समूह जो तेज लय

---

24. श्री भगवान दास मृदंगाचार्य – **मृदंग तबला प्रभाकर** प्रथम संस्करण पृ०सं० 2

(अर्थात चौगुन-अठगुन) में बजायी जा सके और जो इस तेज लय में धारा-प्रवाह चलता हुआ सुनाई दे उसे रेला कहते हैं। चूँकि तबले पर 'तिरकिट', 'धिरधिर', 'घिड़नग', 'धिनगिन' ये बोल अच्छी तैयारी में बजाये जा सकते हैं इसलिये अनिवार्य रूप से रेले में इन्हीं बोलों का प्राधान्य रहता है। वादक की तैयारी की चरम-सीमा उसके रेला बजाने में स्पष्ट दिखाई देती है इसलिये सोलो बजाने में इसका महत्व है। संगत के क्षेत्र में तानकारी के साथ तथा वाद्यों के झाले के साथ बजाने के लिये इसकी आवश्यकता पड़ती है। रेले के विषय में रामशंकर (पागलदास) जी ने कहा है–

''धिट-तिट धुमकिट आदि में, करि अणुद्रुत गति चाल।''

पुनि अवि पुनि चल पड़े, ताकों कहिय पड़ाल ॥[25]

लय का एक अन्य संबंध गीति अर्थात गाने के तरीके से भी है। यह पद तथा लय से मिलकर वर्ण से अलंकृत होता है। प्राचीन लोगों की गायन की यह शैली अलग ही थी, जो भूली जा चुकी है। परंतु इसका मूल सिद्धांत तो याद रखने योग्य है। इसकी विस्तृत व्याख्या 'संगीत रत्नाकार' में है जिससे यह भी पता चलता है कि संस्कृत के काल में पद भी तालों के आधार से गाये जाते थे। इसी सिद्धांत पर ध्रुपद का जन्म भी हुआ है।[26]

छंद की दृष्टि से एक वाग्गेयकार की रचना ताल तथा धुन का ही आधार है। सोलहवीं शताब्दी की भक्ति संबंधी रचनाओं को देखा जाये तो विदित होगा कि उनकी रचनाओं अथवा भजन का आधार राग तथा ताल ही है। स्वामी हरिदास, बैजू, तानसेन, सूरदास, त्यागराज, दीक्षितरं तथा श्यामा शास्त्री जी आदि जो अपने समय के महान कलाकार थे, उन्होंने भी अपनी रचनायें राग और ताल के अनुसार ही की हैं। इसका सबसे उत्तम उदाहरण स्वामी हरिदास जी की उन रचनाओं से है जो घनाक्षरी छंद तथा दंडक पद में से दिया जा सकता है। इनमें से प्रथम प्रकार की रचनायें ध्रुपद तथ सम मात्रा की तालों के लिये तथा दूसरे प्रकार की रचनायें धमार तथा विषम मात्राओं की तालों के लिये काफी

---

25. श्री भगवान दास मृदंगाचार्य – **मृदंग तबला प्रभाकर** प्रथम संसकरण पृ०सं० 2
26. अविनाश चंद्र पाण्डेय – **संगीत (पत्रिका)** – जुलाई, 1986 पृ०सं० 16

उपयोगी है। इन सबका ध्येय संगीत को उचित धुन, ताल तथा गीतों द्वारा भर देना है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में यही आधारभूत सौंदर्य है—इसमें शब्द द्वारा भाव तथा भावों द्वारा शब्द को व्यक्त करने की सुंदरता है। कला की कोई भाषा नहीं होती क्योंकि देश व काल के बंधन से वह बाहर होती है। कला-जगत में संगीत को सबसे ऊँचा माना गया है—इसमें केवल स्वर तथा लय की आकृति तैयार होती है। यहाँ की कला अपना एक स्वतंत्र रूप रखते हुये भी अधिक व्यापक सुदृढ़ और सुंदर बनी हुई है।[27]

हिन्दुस्तानी संगीत व उत्तर भारतीय संगीत एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं। आज संपूर्ण भारत में हिन्दुस्तानी व कर्नाटकी दो संगीत पद्धतियाँ प्रचलित हैं। कर्नाटकी संगीत दक्षिण भारत में कर्नाटक में व्याप्त है तथा हिन्दुस्तानी व उत्तर भारतीय संगीत मैसूर, आन्ध्र प्रदेश और मद्रास को छोड़कर समस्त भारत में प्रचलित है। उत्तर-भारतीय संगीत पद्धति का प्रचलन 13वीं शताब्दी के लगभग हुआ।[28]

संगीत के संदर्भ में 'ताल' शायद राग से भी अधिक मूलभूत तत्व है यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो समस्त प्रकृति का व्यवहार ताल के आधीन होता है इसीलिये शास्त्रकारों ने निर्विवाद लिख दिया है कि—

''यानिकानि च कर्माणि लोके तालाश्रितानि च।
आदित्यादि ग्रहाणां च ताले नैव गतिर्भवते ॥[29]

यद्यपि उत्तर तथा दक्षिण भारतीय संगीत में ताल का समानांतर विकास दिखाई देता है, तथापि गहराई से देखने पर इनमें उतना ही अंतर है, जितना एक वृक्ष की दो शाखाओं में होता है।

संगीत में लय अवाद्यरूप से गतिशील है। हम उसे ताल के संयोग से सीमित करते हैं तथा विभिन्न रूपों में संगठित करके ताल की संज्ञा में सम्मिलित कर देते हैं। ताल दो

---

27. प्रभा अत्रे – **संगीत (पत्रिका)** – जुलाई, 1986 पृ०सं० 17
28. तृप्त कपूर – **''उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा''** – 1989 पृ०सं० 20
29. रामशंकर दास (पागलदास) – **संगीत कला विहार** – 1966 पृ०सं० 60

प्रकार के माने गये हैं जिनमें एक नियमित तथा दूसरी अनियमित है। नियमित हम उन तालों को कहते हैं जो एक नियम से आबद्ध रहते हैं तथा अनियमित उसे कहते हैं जो किसी विशेष नियम से आबद्ध नहीं रहते।

शास्त्रीय संगीत की तीनों विधाओं गायन, वादन तथा नृत्य की संगति हेतु तालों का प्रयोग किया जाता है परंतु भारतीय संगीत परंपरा में प्रचलित सभी ताल-वाद्य शास्त्रीय संगीत की संगत हेतु प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। कुछ विशिष्ट ताल-वाद्यों का प्रयोग ही शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में किया जाता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त की जाने वाली तालों में विशेष रूप से पखावज, तबला तथा कर्नाटकीय मृदंगम पर बजायी जाने वाली तालों का प्रयोग किया जाता है इनसे आधार स्वर भी प्राप्त किया जा सकता है।[30]

उत्तर भारतीय संगीत पद्धति का प्रचलन 13वीं शताब्दी के लगभग माना गया है। कहा जाता है कि ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही भारत पर मुस्लिम-आक्रमणों के कारण मूल भारतीय संस्कृति का रूप विकृत होना आरंभ हो गया था। वह शास्त्रीय संगीत जो हिंदू राज्यकाल में विद्वान सुसंस्कृत ब्राह्मणों की धरोहर समझा जाता था। तेरहवीं शताब्दी तक आते-आते अपने शास्त्रीय पक्ष से हटने लगा था। मुसलमान आक्रमणकारी भारतीय मंदिरों को मिटाकर धन, आभूषण आदि ही लूटते थे किन्तु कुछ समय पश्चात वे आर्थिक निधियों के साथ-साथ कला एवं विज्ञान की निधियों को भी ले जाने लगे। धीरे-धीरे उन्हें इसी देश में रहकर शासन करने की इच्छा हुई। मौ० गौरी ने अपने एक दास कुतुबुद्दीन ऐबक को उत्तर पश्चिमी भाग का सुल्तान नियुक्त किया।

यह घटना 1206 ई० की है। इसी बीच भारत की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं कलात्मक व्यवस्था के बिगड़ जाने के कारण लगभग दो सौ वर्ष (1000 ई० से 1206 ई०)

---

30. चित्रा गुप्ता– **संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता**– 1992 पृ०सं० 56

तक का यह लड़खड़ाता युग भारतीय संगीत की दृष्टि से 'अंधा युग' बन गया। इस काल का कोई भी संगीत ग्रंथ आज उपलबध नहीं है।[31]

संगीत का इतना पतनोन्मुख होते हुये भी आज तक इसका अस्तित्व बने रहना आश्चर्यजनक बात है। वास्तव में यदि देखा जाये तो मुसलमानों के भारत आगमन से मुस्लिम संस्कृति ने धीरे-धीरे भारतीय जीवन में प्रवेश पाना आरंभ कर दिया था। इस प्रकार यह दो संस्कृतियों में परस्पर समन्व्य का युग भी कहा जा सकता है। यद्यपि इस काल में भारतीय संगीत अपने वैदिक सौंदर्य को कायम न रख सका। मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित होने के कारण भारतीय संगीत एक नयी दिशा में प्रविष्ट अवश्य हो चुका था। यही प्रभाव उत्तर भारतीय संगीत पद्धति के निर्माण की आधार शिला बना।

प्रसिद्ध विद्वान वण्डारे प्रम्दा ने अपनी पुस्तक 'दि न्यू आउट लुक ऑफ इंडियन कल्चर' में लिखा है—"यह हमें मानना पड़ेगा कि मुस्लिम संस्कृति से मिलकर भारतीय संगीत का सौंदर्य समृद्धशाली होकर उसमें एक ऐसी मंत्रमुग्धक अपूर्वता आ गई जिससे भारतीय संगीत की आकर्षण शक्ति की अभिवृद्धि हो गई। उत्तर भारत के संगीत में ईरानी-अरबी के मिश्रित प्रभाव से एक ऐसा लावण्य प्रतिभासित होने लगा जो उसके विकास का मुख्य साधन रहा।"[32]

पंडित भातखंडे जी के मतानुसार भी—"उत्तर के मुसलमान शासकों ने संगीत तथा नृत्य कला की रक्षा की। वे लोग अपने साथ अपना निजि संगीत यहाँ लाये तथा उसका मिश्रण हिन्दू संगीत से कर दिया। इसी के फलस्वरूप हमें आज हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृति के सुंदर रूप में "हिन्दुस्तानी संगीत" प्राप्त है।"[33]

आज हम भारतीय संगीत एवं यावनी मिश्रित संगीत को ही हिन्दुस्तानी अथवा 'उत्तर भारतीय संगीत' कहते हैं। यह कहना गलत न होगा कि आज जो उत्तर भारतीय

---

31. तृप्त कपूर – **"उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा"** – 1989 पृ०सं० 20
32. तृप्त कपूर – **"उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा"** – 1989 पृ०सं० 21
33. वही – **"उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा"** – 1989 पृ०सं० 21

संगीत विकास के पथ पर इतना अग्रसर हो चुका है वह मुस्लिम आक्रमणों के पश्चात प्राचीन भारतीय संगीत में आये परिवर्तनों का ही परिणाम है। इससे पूर्व संपूर्ण भारत में केवल एक ही संगीत पद्धति व्याप्त थी। आज भी दक्षिण के कर्नाटक आदि प्रदेशों में उसी प्राचीन भारतीय संगीत पद्धति का प्रचलन है जिसे आज भी कर्नाटक अथवा ''दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति'' कहा जाता है। स्पष्ट है कि 14वीं तथा 15वीं शताब्दी तक भारतीय संगीत में उत्तरी व दक्षिणी संगीत धारायें बहने लगी थीं। उत्तर भारतीय संगीत में निरंतर परिवर्तन हुये जिनके आधार पर आधुनिक संगीत का निर्माण हुआ।

चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में अलाउद्दीन खिलजी (1226 ई० से 1316 ई० तक) के दरबारी संगीतज्ञ एवं प्रख्यात फारसी कवि अमीर खुसरो ने गायन एवं वादन दोनों क्षेत्रों में कई पद्धतियों का प्रचार किया, अनेक नवीन रागों व तालों की रचना करके भारतीय संगीत में उन्हें प्रचलित किया।[34] अमीर खुसरो द्वारा भारतीय व ईरानी संगीत में मिश्रण का कार्य आरंभ हुआ तथा अकबर के समय तक ईरानी व भारतीय संगीत का समन्व्य होता रहा जिसके परिणाम स्वरूप ईरानी संगीत की अनेक विशेषतायें भारतीय संगीत में आ गईं।

चौहदवीं शताब्दी के प्रारंभ में कंठ संगीत की प्रमुख शैलियाँ धमार तथा ध्रुवपद बीन तथा रबाब पर सरलता पूर्वक बजाई जा सकती थीं, उनकी संगति में मृदंग या पखावज का प्रयोग किया जाता था। जिस प्रकार आलाप व ध्रुवपद का घनिष्ठ संबंध बीन तथा रबाब के साथ था उसी प्रकार आलाप तथा वर्तमान प्रचलित ख्याल गायकी का निकट संबंध सितार, सरोद तथा सुरबहार के साथ है। इनकी ताल संगति में तबले का प्रयोग किया जाता है। ख्याल गायकी व सितार आदि वाद्यों का प्रचार होने पर उसके अनुरूप ताल-वाद्य तबले का भी प्रचार होने लगा। मसीत खाँ द्वारा सृजित मसीतखानी गत में ध्रुवपद की गंभीरता भी है, ख्याल की लालित्यपूर्ण मधुरिमा भी इस बाज में तबले ने अपने लालित्य एवं माधुर्य के कारण मृदंग को मात दे दी क्योंकि तबला चाटी का वाद्य है तथा मृदंग थाप का।[35]

---

34. तृप्त कपूर – **''उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा''** – 1989 पृ०सं० 22
35. डा० चित्रा गुप्ता– **संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता**– 1992 पृ०सं० 58

मृदंग का एक शरीर तथा दो मुख होने के कारण इसके बोल आपस में कुछ घुले रहते हैं। इससे उत्पन्न नाद भी गंभीर होता है किन्तु तबले के दाँया-बाँया दो भाग होने से इससे उत्पन्न नाद स्पष्टतः अलग सुनाई देता है व इसके समान गंभीर भी नहीं होता है। दोनों वाद्यों व उत्पन्न नादों में अंतर का कारण दोनों वाद्यों की बनावट व वादन शैली है। मूलतः गायन-प्रकारों को गंभीर तथा कोमल प्रकृति के अनुरूप ही मुलायम और गंभीर नाद उत्पन्न करने वाले ताल वाद्यों की आवश्यकता हुई।[36]

मुगल काल के प्रथम चरण में (बाबर व हुमाँयू के काल सन् 1525 ई० से 1556 ई० तक) ख्याल गायन शैली का जन्म हो चुका था। इस काल में ख्याल व कव्वाली का अधिक प्रचार रहा। श्रृंगारिक रचनायें प्रचलित होने से संगीत के आंतरिक सौंदर्य का विकास रुका रहा।

मुगल काल के द्वितीय चरण में विशेषतः अकबर के समय (1550 ई० से 1605 ई० तक) में संगीत में विशेष प्रगति हुई। अनेक संगीतज्ञ जैसे तानसेन, बैजू-बाँवरा, नायक बक्शू, कबीर, तुलसी, मीरा तथा सूर इत्यादि का जन्म हुआ। इस काल में अनेक उत्तर भारतीय संगीत ग्रंथों की भी रचना हुई। इसीलिये अनेक विद्वानों ने गुप्त काल के समान अकबर काल को उत्तर भारतीय संगीत का 'स्वर्ण युग' माना है।[37]

मुगल काल के अंतिम चरण में (शाहजहाँ के समय से ही) कलाकारों का जीवन दार्शनिक पृष्ठभूमि से हटकर अन्य केन्द्रों में उन्मुख हो चुका था। परन्तु अंतिम मुगल बादशाह, मुहम्मद शाह रंगीले (1719 ई० से 1740 ई०) ने भारतीय संगीत के विकास में बहुत योगदान दिया। सदारंग व अदारंग ने हजारों ख्यालों की रचना इसी काल में की।[38]

भारत में ब्रिटिश राज्य स्थापित होने के साथ ही भारतीय राजा तथा जमींदार अंग्रेजों

---

36. डा० चित्रा गुप्ता – **संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता**– 1992 पृ०सं० 58
37. तृप्त कपूर – **''उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा''** – 1989 पृ०सं० 22
38. वही – **''उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा''** – 1989 पृ०सं० 22

के हाथ की कठपुतली मात्र रह गये, साथ-ही-साथ संगीतकारों को मिलने वाला राजाश्रय भी बंद हो गया। रियासतों में आश्रित कलाकारों के व्यक्तिगत स्वार्थ तथा साथ-ही-साथ संगीतकारों को मिलने वाला राजाश्रय भी समाप्त हो गया। रिसायतों में आश्रित कलाकारों के व्यक्तिगत स्वार्थ तथा स्वयं को सर्वोपरि मानने की संकुचित भावनाओं ने संगीत में "घराना" प्रथा को जन्म दिया इस "घराना" परिधि में लखनऊ, जयपुर, बनारस, आगरा, पटियाला, ग्वालियर, मथुरा, रामपुर घरानों द्वारा संगीत की अभिवृद्धि एक संकुचित सीमा में होती रही।

संगीत कला के क्षेत्र में परिवर्तन की प्रक्रिया यद्यपि प्राचीन समय से ही चली आ रही है, तथापि वर्तमान शास्त्रीय संगीत को देखते हुए ये परिवर्तन पंद्रहवीं शताब्दी से एक मोड़ लिये दिखाई देते हैं।[39] ऐसा स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है। ये परिवर्तन ध्रुपद-गेय विधा से अधिक स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगते हैं जो निश्चित समय, स्थान तथा व्यक्ति विशेषों से सम्बंध रखते हैं। वर्तमान समय में उत्तर हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत यद्यपि भारत के अधिकांश क्षेत्रों के कोने-कोने में व्याप्त हैं तथापि पंद्रहवीं शताब्दी में इसका स्रोत भारत के मध्य क्षेत्र, मध्य प्रदेश तथा आज के मध्य प्रदेश से ही फूटा है।[40]

आधुनिक काल में हिन्दुस्तानी संगीत को पुनर्जीवित करने का श्रेय पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर तथा पं० विष्णु नारायण भातखंडे को जाता है, जिन्होंने अपना संपूर्ण जीवन संगीतोद्धार में लगाया तथा अपने अथक प्रयत्नों द्वारा दिव्य-विधा को जन-सामान्य तक पहुँचाया। महलों व दरबारों में कुछ गिने-चुने सुविधा सम्पन्न व्यक्तियों के मनोरंजन का साधन मात्र बन चुकी इस कला को सामान्य जनता के सुनने व सीखने के लिये सुलभ करना इन्हीं के प्रयासों के फलस्वरूप हुआ। इन्हीं के द्वारा जगह-जगह पर संगीत प्रशिक्षण केन्द्र खुले तथा भारतीय संगीत का बाकायदा शिक्षण पहली बार आरंभ हुआ। पं० भातखंडे ने देश के कोने-कोने में पहुँचकर अस्त-व्यस्त संगीत निधि को समेटकर लिपिबद्ध किया व

39. डॉ० कला श्री खण्डे – **संगीत 'पत्रिका'** – अगस्त, 1993 पृ०सं० 3
40. डॉ० कला श्री खण्डे – **संगीत 'पत्रिका'** – अगस्त, 1993 पृ०सं० 3

उसे ठोस पद्धति का रूप दिया। यही नहीं उन्होंने लगभग साठ दुर्लभ ग्रंथों का सृजन भी किया जिन्हें 'हिन्दुस्तानी संगीत का आधुनिक शास्त्र' कहा जा सकता है।[41] अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों का आयोजन किया जिससे संगीत पुनः जन-समाज में श्रेष्ठ स्थान ग्रहण करने लगा तथा निःसंदेह स्वतंत्र भारत के संगीत पर इन दोनों विष्णुओं का यथेष्ठ प्रभाव है जिन्होंने वास्तव में उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत को स्वतंत्रता दिलाई।

भारतीय संगीत को विकासोन्मुख करने की दृष्टि से मध्यप्रदेश के तत्कालीन बाँधवगढ़ (बुन्देलखण्ड) क्षेत्र का भी अपना महत्व है।[42] राजा रीवा–नरेश रामचंद्र बघेला बाँधवगढ़ के तत्कालीन शासक रहे हैं। कालींजर के राजा कलाप्रेमी कीर्ति सिंह की संगीतमयी सांस्कृतिक वाटिका को शेरशाह सूरी ने ध्वस्त कर दिया था, जिसे राजा रामचंद्र ने पुनः सजाया। अनेक संगीतज्ञ तथा साहित्यकार उनकी राज्यसभा को सुशोभित करने लगे। जगत्-गुरु तानसेन अपने विरक्त तथा अशांत जीवन काल में लगभग सन् 1557 में रीवा-नरेश रामचंद्र (राजाराम) के पास पहुँचे तथा पुनः आर्थिक समृद्धि व मानसिक सुख को प्राप्त हुये। पं० तानसेन ने अपने बहुत अच्छे ध्रुपदों की रचना राजा रामचंद्र के आश्रय में ही की है। जिस प्रकार का सम्मान संगीताचार्यों को ग्वालियरपति राजा मान सिंह द्वारा प्राप्त होता था, वैसा ही तानसेन को कालिंजर-नरेश राजा रामचंद्र से प्राप्त हुआ[43] संभव है कि राजा मानसिंह के पुत्र विक्रमाजीत के समय से वर्तमान तक अनेक सम्राटों द्वारा अनेकानेक उपाधियों से विभूषित संगीत सम्राट तानसेन के आश्रयदाता स्वयं गायक, वाग्गेयकार या ग्रंथकार न रहे हों किन्तु एक युग प्रवर्तक संगीतज्ञ को आश्रय तथा आर्थिक व मानसिक स्थायित्व देकर राजा रामचंद्र ने संगीत की बहुमूल्य सेवा की है।[44]

संगीत के कला पक्ष व प्रायोगिक दृष्टिकोण से मध्यप्रदेश की भूमि पर जितना महत्वपूर्ण कार्य हुआ है संभवतया उतना ही कार्य उस समय शास्त्रपक्ष पर भी हुआ है। संगीत के शास्त्रपक्ष पर प्रकाश डालने वाले महत्वपूर्ण ग्रंथों में 'संगीतदर्पण' व 'मान

---

41. तृप्त कपूर – **''उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा''** – 1989 पृ०सं०-22
42. डॉ० कला श्री खण्डे – **संगीत 'पत्रिका'** – अगस्त, 1993 पृ०सं० 6
43. आचार्य हरिहर निवास द्विवेदी – **''तानसेन जीवनी व्यक्तित्व तथा कृतित्व''** – पृ०सं० 32
44. डॉ० कला श्री खण्डे – **संगीत 'पत्रिका'** – अगस्त, 1993 पृ०सं० 6

कुतूहल' के अतिरिक्त कर्नाटक के पंडित पुंडरीक विट्ठल का "सद्राग चंद्रोदय" एक है, जो फारुखी वंश के अहमद खाँ के पोत्र ताज खाँ के बेटे बुरहान खाँ के राज्यकाल में मध्यप्रदेश के राज्य में बुरहानपुर (तत्कालीन खानदेश) में रचा गया।[45]

उपरोक्त राजा-नरेशों के अतिरिक्त कुछ और भी उल्लेखनीय अधिपति थे, जिनका किसी-न-किसी रूप में संगीत के विकास में अनमोल योगदान रहा है। संगीत प्रतियोगिताओं को भी उस समय के आश्रयदाताओं ने बहुत अधिक प्रोत्साहित किया। प्रत्येक संगीतज्ञ चाहे वह गायक हो, नायक, वादक हो, नर्तक हो, हर समय प्रतियोगिता के लिये कटिबद्ध रहता था तथा इन प्रतियोगिताओं को देखने व सुनने हेतु सभी गुणीजन और गणमान्य दरबारी उपस्थित रहते थे। कभी-कभी जनसाधारण को भी इन प्रतियोगिताओं में उपस्थित होने का आमंत्रण रहता था। संगीतज्ञों को पुरस्कृत किया जाता था। अमीर खुसरो व गोपाल नायक की प्रतियोगिता इस बात का प्रमाण है।

इस प्रकार हम देखते है कि जटिल सामरिक परिस्थितियाँ होते हुये भी यह युग संगीत के इतिहास का स्वर्णिम युग था तत्कालीन संगीत मानव-मस्तिष्क में नवीन रंग भरता हुआ, भावनाओं में रंगीन उड़ान तथा नयनाभिराम सुषमा फैलाता हुआ, विषाद एवं क्रोध व घृणा के आँगन में हर्ष, शांति व प्रेम के प्रताप प्रवाहित कर रहा था तथा समस्त जड़ चेतन में जीवन तथा उत्साह के अभिनव स्फुरणों को मुखरित कर रहा था।[46]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। छोटे-छोटे राज्यों के पश्चात एक सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना होने पर स्वतंत्र भारत में प्रान्तीय तथा केन्द्रीय शासन द्वारा सभी कलाओं को प्रोत्साहन मिला और इसके प्रसार का कार्य तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ। संगीत महाविद्यालय, संगीत-सम्मेलन, आकाशवाणी एवं संगीत नाटक अकादमी, भारतीय संगीत के शास्त्रीय सिद्धांत और गायन वादन के प्रायोगिक रूपों के उत्थान के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। कलाकारों को देश के सांस्कृतिक

---

45. विष्णु नारायण भातखंडे जी – **उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास - 1974** पृ०सं० 29
46. डॉ० पूर्णिमा शर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – अक्टूबर, 1993 पृ०सं० 16

प्रतिनिधि के रूप में विदेशों में भेजना आरंभ हुआ और स्वतंत्रता प्राप्ति के पाँच वर्ष बाद ही राष्ट्रीय स्तर पर संगीत कलाकारों को सम्मानित किया गया। संगीत महोत्सव, संगीत विषयक विचार गोष्ठियाँ, सेमिनार एवं संगीत प्रतियोगिताओं के आयोजन समय-समय पर केन्द्रीय व प्रान्तीय स्तर पर होने लगे। संगीत को उच्च स्तर पर विषय के रूप में मान्यता मिली।

स्वांतत्र्योत्तर भारत में संगीत के विकास के संदर्भ में एक विद्वान कर्नानी की निम्न टिप्पणी दृष्टव्य है—

There have been more changes to Hindustani Music in the twenty years independence then in the two hundred years before it.[47]

शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में तालों का प्रयोग एक अति आवश्यक प्रयोग है जिसके अभाव में संगीत रसहीन होकर अधूरा प्रतीत होता है। शास्त्रीय संगीत में जिन तालों का प्रयोग किया जाता है उन तालों का रूप-विधान अनोखा प्रतीत होता है। शास्त्रीय तालों से तात्पर्य उन भारतीय तालों से है जिनका प्रचार कर्नाटक, मणिपुर अथवा ऐसे ही अन्य छोटे प्रदेशों को छोड़कर संपूर्ण भारत वर्ष एवं पाकिस्तान में है। कर्नाटकी, मणिपुरी आदि ताल-पद्धतियों में प्राचीनता के संरक्षण एवं व्यवस्था का जो परिचय मिलता है—उत्तर भारतीय शास्त्रीय ताल पद्धति में उसका अभाव है। अनेक मतमतान्तरों के कारण हिन्दुस्तानी तालों के विविध रूपों का प्रचलन हुआ है। भारत वर्ष की विशालता के कारण परिवर्तनों का होना स्वाभाविक है। हमारे प्रचलित तालों में जो विभिन्न रीतियाँ आज विद्यमान हैं उनके आधार पर उन तालों का वास्तविक स्वरूप क्या है इसका निरुपण आज संभव नहीं। हमारे संगीतज्ञों में कुछ ऐसे भी हैं जो ताल एवं काल के पृथक प्रदर्शन का विशेष ध्यान नहीं रखते।[48] कुछ ताल शास्त्रियों ने घाट के स्थान पर भी काल प्रदर्शन

---

47. तृप्त कपूर – **"उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा"** – 1989 पृ०सं० 24

48. डा० अरूण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** – 1973 पृ०सं० 192

प्रचलित किया है और कहीं-कहीं एक तालाघात से दूसरे तालाघात के बीच मान्य कालखण्डों को उसके पूर्ववर्ती ताल खण्ड में समाहित कर दिया है। ऐसी स्थिति में कौन से कालखण्ड तालखण्डों के अनुगामी हैं एवं किन काल खण्डों से केवल लय-साम्य की रक्षा होती है इसका निर्णय करना कठिन हो गया है। काल विहीन ताल रचना करने वाले आड़ा चौताल को 2/4/4/4, चौताल को 4/4/2/2, धमार को 5/5/4, सूलताल को 4/2/4 मानते हैं और काल को निरर्थक प्रतिपादित करते हैं। कुछ ताल-शास्त्रियों का विचार है कि प्राचीन अधिकाँश तालों को आज द्विगुणित मात्राओं में प्रचलित किया गया है। उनके मतानुसार आड़ा चौताल 7 मात्रे का, चौताल 6 मात्रे का, सूलताल 5 मात्रे का एवं त्रिताल 8 मात्रे का ताल है[49] जैसे—

आड़ा चौताल — 1/2/2/2

+ 2 3 4

चौताल— 2/2/1/1

+ 2 3 4

सूलताल— 2/1/2

+ 2 3

इस मत के अनुयायियों का अनुमान है कि तालों के वास्तविक स्वरूप इसी प्रकार थे। इन्हें विलंबित करने के लिये मात्राओं को द्विगुणित किया गया और विलंबित लय साम्य की रक्षा सरलता से हो सके, इसलिये तालाघातों के बीच में तालखण्ड की रीति प्रचलित की गयी। इस आधार पर ताल शास्त्री जो ताल खण्डों के समान ही काल खण्डों को पृथक मानकर तालों का जाति निर्णय करते हैं वह निरर्थक एवं निराधार हो जाता है।[50] विद्वानों

---

49. डा० अरूण कुमार सेन — **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** — 1973 पृ०सं० 192
50. वही — **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** — 1973 पृ०सं० 193

का मत है कि उत्तर काल पद्धति सुनियोजित नहीं है किन्तु परंपरागत जौ सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है उसे इस प्रकार कह देने मात्र से काम न चलेगा। हिन्दुस्तानी ताल पद्धति की विशेषतायें कई प्रकार से आँकी जा सकती हैं जैसे–प्रत्येक तालों में उनके ठेके का निर्धारण, उनके स्वतंत्र वादन का अपना महत्व, साथ-साथ भिन्न-भिन्न तालों में भिन्न-भिन्न टुकड़े तथा नाना प्रकार की रचना का बाहुल्य। वैसे उत्तर पद्धति में भी ठेके के पश्चात एक मात्रा का ही आधार रह जाता है। क्योंकि अलग-अलग तालों की रचनाओं को अलग-अलग तालों में हेर-फेर करके बजाने की प्रथा प्रचलित है। ऐसा अवश्य है कि शास्त्रों में कुछ व्याख्या एक दूसरे से भिन्न हो जाती है, जिसका मूल कारण भारतीय दर्शन हो सकता है। जिस प्रकार कबीर के शब्दों में 'नदिया' एक घाट बहुतेरे। कहे कबीर वचन के फेरे।[51] हमारे प्रचलित शास्त्रीय तालों में अणु-द्रुत, द्रुत, लघु, गुरु एवं प्लुत इन पाँच मात्राओं का विशेष प्रयोग होता है। एक मतानुसार लघु मात्रा का काल एक लघु अक्षर के उच्चारण की अवधि है तदनुसार दो एवं तीन अक्षरों के उच्चारण काल को वे क्रमशः गुरु एवं प्लुत कहते हैं। लघु का अर्द्धांश द्रुत एवं चतुर्थांश होता है। भारतीय ताल का साधारणतः द्विमात्रिक अथवा गुरु एवं त्रिमात्रिक अथवा प्लुत चर्तुमात्रिक अथवा द्विगुणित गुरु एवं क्वचित पंचमात्रिक होते हैं। मात्राओं के अनुसार कर्नाटकी पद्धति से यदि इनकी जाति निरुपित की जाये तो वर्गीकरण तिस्त्र, चतस्त्र एवं मिश्र जाति में किया जा सकता है। दादरा, एक ताल, चौताल आदि तिस्त्र जाति के, कहरवा, त्रिताल आदि चतस्त्र जाति के एवं धमार, तीव्रा, झपताल आदि मिश्र जाति के माने जायेंगे। इस मतानुसार द्विमात्रिक व मिश्र चतुर्मात्रिक तालों को भी चतस्त्र जाति का मानते हैं। जैसे आड़ा चौताल सूलताल आदि।[52]

प्रचलित शास्त्रीय तालों को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

1. ध्रुपद अंग के ताल जैसे– चौताल, आड़ाचार ताल, सूलताल, धमार, तीव्रा आदि।

---

51. रामशंकर दास (पागलदास) – **संगीत कला विहार (पत्रिका)** – फरवरी, 1966 पृ०सं० 61
52. डा० अरूण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** – 1973 पृ०सं० 193

2. ख्याल अंग के ताल जैसे— तिलवाड़ा, एकताल, झूमरा आदि।

3. टप्पा अंग के ताल जैसे— पंजाबी, मध्यमान (बंगला का) जतताल आदि।

4. ठुमरी अंग के ताल जैसे— दीपचंदी, अद्धात्रिताल, जतताल आदि।

5. सुगम संगीत के ताल जैसे— कहरवा, दादरा, धुमाली, पोस्त आदि।

भारतवर्ष में जितने तालों का प्रयोग होता है उसकी तुलना में अन्य देशीय संगीतों के लय स्वरूप अत्यल्प हैं। भारत की यह विशेषता है कि जिस प्रकार एक राग का व्यक्तिगत रूप से प्रदर्शन गायक या वादक द्वारा संभव होता है उसी प्रकार तालों का प्रदर्शन भी पृथक-पृथक लयात्मक सौष्ठव के साथ मृदंग वादक द्वारा संभव होता है। लयात्मक संगीत को प्रो० साम्बमूर्ति ने 'मानव' के समान ही प्राचीन है।[53]

प्रचार में कई ताल ऐसी हैं जिनका उपयोग विभिन्न गीत-शैलियों के लिये आज हो रहा है। झपताल, आड़ा चौताल सदृश तालों का ध्रुपद एवं ख्याल दोनों में प्रयोग होता है। दीपचंदी, अद्धात्रिताल एवं पंजाबी सदृश ताल ठुमरी एवं टप्पा दोनों में प्रयुक्त होते हैं उपरोक्त श्रेणियों का विभाजन एक साधारण नियम मात्र है। तालों की रचना किसी गीत या वाद्य शैली के लिये स्वतन्त्र रूप से नहीं हुई।

शास्त्रीय संगीत में तालों का प्रयोग विभिन्न लयों के आधार पर पृथक-पृथक होता है। झपताल, सूलताल, तीव्रा, दादरा, कहरवा आदि द्रुतगति में ही अच्छे लगते हैं एवं उनके प्रयोग तद्नुकूल संगीत शैली में योग्य प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार त्रिताल, चौताल, एकताल, धमार ताल जैसी ताल मध्य लय में एवं तिलवाड़ा झूमरा पंजाबी आदि विलंबित लय में उचित लगती हैं। त्रिताल, चौताल, झपताल सदृश तालों का प्रायः सभी संगीत शैलियों में बहुलता से प्रयोग हो रहा है।[54]

---

53. डा० अरूण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** – 1973 पृ०सं० 166
54. डा० अरूण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** – 1973 पृ०सं० 194

उत्तर भारतीय संगीत में तालों की पृथक-पृथक जातियों के आधार पर संख्या नहीं बढ़ सकतीं। यहाँ पर तालों में कायदों, टुकड़ों व परनों आदि पर जातियों का प्रभाव अवश्य दिखाई पड़ता है।

डॉ० रातांजनकर ने अपने 31 जनवरी 64 के व्यक्तिगत पत्र में उत्तर एवं दक्षिण भारतीय संगीत की लयात्मकता का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है—"दोनों अपनी-अपनी जगह पर रास्ते हैं। उत्तरीय संगीत की ख्याल गायकी में लय का संबंध केवल सम् देना भर है फिर वह विलम्बित भी हो तो भी उसका कोई महत्व नहीं है, हाँ गायन में स्वरों पर मुकाम एवं स्वर संचार विलम्बित गति से कम-से-कम आरंभ के आलापों में होता है। यह हिन्दुस्तानी संगीत की एक विशेषता है।[55]

हमारे तबला शास्त्र के अन्तर्गत दो पद्धतियाँ पायी जाती हैं—1. उत्तर हिन्दुस्तानी ताल पद्धति, 2. दक्षिण ताल पद्धति।

इन दोनों पद्धतियों के अंतर्गत भी विभाजन किया गया है। जैसे कि उत्तर ताल पद्धति को दो भागों में विभाजित किया गया है—

1. विष्णु दिगम्बर पद्धति

2. भातखंडे पद्धति

उत्तर हिन्दुस्तानी पद्धति के विषय में हम ये कह सकते हैं कि जिस प्रकार कर्नाटक ताल पद्धति एक नियमित और सुसंगठित पद्धति के रूप में मान्य है उसी प्रकार उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत में ताल की कोई निश्चित तथा व्यवस्थित पद्धति आज हमारे सम्मुख नहीं है।

"उत्तर हिन्दुस्तानी ताल पद्धति" का निर्माण निम्नलिखित चार तत्वों के आधार पर

---

55. डा० अरूण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** – 1973 पृ०सं० 194

किया गया है।

1. मात्रा

2. विभाग

3. ताली-खाली

4. जाति

जाति भेद व गति भेद के अनुसार गायक, वादक समयानुसार परिवर्तन कर लेता है। इस पद्धति के अन्तर्गत जिन दो पद्धतियों को निर्मित किया गया है उनका नाम क्रमशः विष्णु दिगम्बर ताल पद्धति तथा भातखंडे पद्धति है जो कि एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं।[56]

"भातखंडे पद्धति" की कार्य प्राणालीनुसार मात्राओं का विभाजन समान अर्द्धचद्राकार में होता है अर्थात प्रत्येक मात्राँश के लिये पृथक चिन्ह न होकर एक चंद्राकार होता है। जैसे—एक मात्रा के लिये एक चंद्राकार है तो दो मात्रा या दुगुन अथवा चौगुन के लिये भी चंद्राकार में ही बोल बँधेगा जैसे धा, धाधा, तिरकिट आदि। इन बोलों के भी दो बोल व चार बोल भी है जबकि तिरकिट में चार बोल होने पर 1/4 को दर्शाता है व धाधा में 1/2 को दर्शाता है किन्तु इस पद्धति के अनुसार दुगुन अथवा चौगुन सभी लय बोल एक ही कोष्ठक में रखे जाते हैं।

"विष्णु दिगम्बर पद्धति" के अन्तर्गत प्रत्येक मात्रा हेतु पृथक चिन्ह रखा जाता है। यदि तिरकिट का बोल है तो उसको ति र कि ट करके ही दिखाया जाता है। इसको शुद्ध रूप में इस प्रकार दिखाया जाता है—अर्थात यह इन चिन्हों द्वारा पहचानी जाती है—[57]

4 मात्रा का चिन्ह × चतस्त्र

---

56. मधुकर गणेश गोडबोले – **तबला शास्त्र** – 1991 पृ०सं० 34

57. वही – **तबला शास्त्र** – 1991 पृ०सं० 35

2 मात्रा का चिन्ह ~ गुरु

1 मात्रा का चिन्ह – लघु

1/2 मात्रा का चिन्ह 0 द्रुत

1/4 मात्रा का चिन्ह ‿ अणुद्रुत आदि

आवर्तन की पूर्ति प्रत्येक आवर्तन के अंत में एक खड़ी (।) पंक्ति के रूप में दर्शायी जाती है। साथ ही 1/4 चिन्हों का प्रयोग छोटा चंद्राकार (‿) न दिखाकर शब्द के नीचे 1/4 व 1/2 लिखा जाता है।

इस पद्धति का प्रचार अब बहुत अधिक नहीं है क्योंकि शिक्षा के क्षेत्र में यह कठिन पड़ती है इसीलिये इसका प्रचार शिक्षा क्षेत्र में कम है।[58]

भारतीय संगीत शास्त्र में ताल का प्रारम्भ कब से हुआ इस पर सप्रमाण कहना कुछ संभव नहीं। नाट्यशास्त्र में तत्कालीन तालों का इतना विस्तृत विवेचन हुआ है कि नाट्यशास्त्र के पूर्व भी ताल-शास्त्र पर्याप्त विकसित था; यह निःसंदेह कहा जा सकता है। नंदिकेश्वर कृत भरतार्णव एवं अन्यान्य प्राचीन ग्रंथों से प्रमाण दिये जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के पूर्व भी कई अमूल्य ग्रंथ थे जो संभवतः देश में कहीं विद्यमान हों या कालगति में नष्ट हो गये हों।[59]

शास्त्रीय संगीत में ताल को संगीत की आत्मा माना गया है इस विषय में यह कहावत निश्चित रूप से स्वीकार की जा सकती है—

ताल राग का मूल है, वाद्य ताल का अंग।
दोनों संयोग जब होत है, उठत अनेक तरंग ॥[60]

ताल शास्त्रीय संगीत की आत्मा है। यह संगीत को नियंत्रित करती है तथा नियंत्रित

---

58. मधुकर गणेश गोडबोले – **तबला शास्त्र** – 1991 पृ०सं० 35
59. डा० अरूण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** – 1973 पृ०सं० 2
60. चित्रा गुप्ता– **संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता**– 1992 पृ०सं० 36

सांगीतिक व्यवस्था में ही आकर्षण है; बिखराव में नहीं। अनिबद्ध संगीत के श्रवण से हृदय में उदासीनता छा जाती है। निःसंदेह ताल के अभाव में संगीत का अस्तित्व ही असंभव है। अनेक प्रकार के वाद्यों द्वारा संगीत में सौंदर्य उत्पन्न किया जाता है, चाहे वह संगीत का कोई भी रूप क्यों न हो, अर्थात शास्त्रीय संगीत, लोक संगीत, नृत्य इन सभी में ताल का अपना महत्व है। ताल को वाद्य का आश्रय प्राप्त हो जाने पर मन को आह्लादित करने वाली जो तरंगे उठती हैं वह संगीत के सौंदर्य को द्विगुणित कर उसको जीवंतता प्रदान करती हैं।[61] गायन, वादन, नृत्य के साथ संगति केवल ताल द्वारा ही की जा सकती है। शास्त्रीय संगीत में केवल गायन में ही ताल का प्रयोग नहीं किया जाता अपितु वादन के साथ भी ताल की आवश्यकता है अर्थात वादन में जैसे कि सितार, सरोद, वीणा, सारंगी आदि वाद्य जो कि तत वाद्य कहलाते हैं इनका मधुर वादन ताल के अभाव में अधूरा है। इसी प्रकार सुषिर वाद्यों अर्थात शहनाई, हारमोनियम, वंशी आदि वाद्यों का वादन भी ताल की मांग रखता है। इनके अतिरिक्त घन वाद्य-मंजीरा, करताल आदि का वादन भी ताल के बिना अधूरा है। कहने का तात्पर्य यही है कि ताल संगीत रूपी वृक्ष का मूल तत्व है। ताल तथा लय के माध्यम से बिना किसी अन्य कला की सहायता लिये श्रोताओं को चिरकाल तक आनंदानुभूति में समाये रखने की अद्भुत शक्ति है।

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में तालों का प्रयोग गायन के अनेक रूपों में किया जाता है। उदाहरण के लिये जैसे—प्रबंध-गायन, जाति-गायन, ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, दादरा, टप्पा, कजरी, गीत, गजल, भजन इत्यादि अनेकों प्रकार के गायन ताल से सीधा संपर्क रखते हैं। ये सभी प्रकार के गायन ताल द्वारा ही सौंदर्य पाते हैं व आकर्षण उत्पन्न करने में भी ताल का अपना महत्व है।

''प्रबन्ध गायन''—प्रबन्ध शब्द अत्यंत प्राचीन है जिस प्रकार अनेक राग, ताल, वाद्य

---

61. डा० चित्रा गुप्ता— **संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता**— 1992 पृ०सं० 36

और संगीत की परिभाषायें अति प्राचीन होने के कारण अप्रचलित हो गयी हैं, ठीक उसी प्रकार गायन का यह भेद भी अप्रचलित हो गया। भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में नृत्य संबंधी ध्रुव और गीत, दो प्रकार के प्रबन्धों का वर्णन किया है।[62] सर्वप्रथम प्रबन्धों के स्वरूप का उल्लेख मतंग की ''बृहद्देशी'' में 49 देशी प्रबंधों का व शारंगदेव की 'संगीत रत्नाकर' में 75 प्रबन्धों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 13वीं शताब्दी तक प्रबन्ध व्यापक रूप से लोकप्रिय थे। प्रबन्ध शब्द देशी गीतों के लिये पर्याय रूप में प्रयुक्त होने वाला शब्द है अतः इसके भेद असंख्य हो सकते हैं।

शास्त्रों में गायन के 'अनिबद्ध' और 'निबद्ध' दो भेद दिये गये हैं। 'अनिबद्ध' का अर्थ ताल से मुक्त अर्थात आलाप जैसा गायन है तथा ताल से बँधा हुआ निबद्ध कहा जाता है। स्वर, ताल और पद, ये ऐसे तीन तत्व हैं जिनका 'बन्ध' निबद्ध गायन में आवश्यक है। शास्त्रों में निबद्ध गान के तीन नाम मिलते हैं—प्रबन्ध, वस्तु और रुपक। इनमें प्रबन्ध सर्वाधिक प्रचलित नाम है। प्रबन्ध का शाब्दिक अर्थ भी प्र + बन्ध या 'प्रकृष्ट रूपण बन्ध' है। अर्थात वह गेय रचना जिसमें अंगों को भली-भाँति, सुंदर रूप में बाँधा गया हो। इस प्रकार प्रबन्ध में अंगों का एक अंग में बँधा होना ही मुख्य अर्थ है। इस प्रकार 'ताल' 'स्वर' एवं शब्द से युक्त रचना को प्रबन्ध कहते है।[63]

''जाति'', राग के आरोह, अवरोह में लगने वाली स्वर-संख्या के अनुसार राग के वर्गीकरण को राग की 'जाति' कहते हैं। अर्थात किसी ठाठ के स्वरों में से पाँच, छः या सात स्वरों को लेकर जब कोई राग तैयार किया जाता है तो जितने स्वर उस ठाठ में से लिये जाते हैं उन्हीं के आधार पर उसकी जाति-निश्चित की जाती है। राग के नियमानुसार कम-से-कम पाँच स्वर तथा अधिक-से-अधिक सात स्वर लगाये जा सकते हैं। विभिन्न रागों में लगने वाले स्वरों की संख्या का बोध इन जातियों के द्वारा होता है। स्वरों की संख्यानुसार

---

62. वसन्त– **संगीत विशारद** – (23वाँ संस्करण) 1999, पृ०सं० 227
63. वसन्त– **संगीत विशारद** – (23वाँ संस्करण) 1999, पृ०सं० 227

रागों की मुख्य रूप से तीन जातियाँ मानी गयी हैं।

1. औडव

2. षाडव

3. संपूर्ण

संगीत दर्पण में इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया गया है–

"औडुव पंचभिः प्रोक्तः स्वरै षड्भिश्च षाडव।
संपूर्ण सप्तभिर्ज्ञेय एवं रागास्त्रिधा मतः ॥"[64]

अर्थात पाँच स्वर वाले औडव, छः स्वर वाले षाडव तथा सात स्वर वाले संपूर्ण राग कहलाते हैं।

"औडव" जिन रागों में पाँच स्वर लगते हैं वे औडव राग कहलाते हैं। इन रागों में 'सा' के अतिरिक्त कोई भी दो स्वर छोड़ दिये जाते हैं। उदाहरण के लिये जैसे भूपाली राग के अन्तर्गत 'म' व 'नि' स्वर वर्जित हैं। इसी प्रकार सारंग, मालकोष तथा दुर्गा रागों में भी 5-5 स्वरों का ही प्रयोग किया जाता है। एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि जब किसी राग में से कोई दो स्वर घटाकर (वर्जित करके) कोई राग तैयार किया जाये तो वह औडव जाति का राग कहलायेगा।

"षाडव" किसी ठाठ में से केवल एक स्वर वर्जित करके जब कोई राग उत्पन्न होता है अर्थात जब किसी राग में छः स्वर प्रयुक्त किये जाते हैं तो उसे 'षाडव' जाति का राग कहते हैं[65] उदाहरण के लिये जैसे–मारवा राग में 'प' स्वर वर्जित है। इसी प्रकार पूरिया राग भी 'षाडव जाति' का ही राग कहलाता है।

"संपूर्ण" जिन रागों में सातों स्वरों का प्रयोग किया जाये अथवा आरोह तथा अवरोह दोनों में ही सात स्वरों का प्रयोग किया जाये वे संपूर्ण जाति के राग कहलाते हैं

---

64. सौ० सुमन पाटणकर – **हमारा संगीत** (भाग 4) – पृ०सं० 35
65. वसन्त– **संगीत विशारद** – (22वाँ संस्करण) 1998, पृ०सं० 179

जैसे–राग काफी, यमन, भैरवी, बिलावल, भैरव, आदि संपूर्ण जाति के राग कहलाते हैं।[66]

इसके अतिरिक्त कुछ राग इस प्रकार के भी हैं जिनके आरोह में छः तथा अवरोह में पाँच स्वर लगते हैं– ऐसे रागों को पहचानने के लिये ग्रंथकारों ने उपर्युक्त तीन जातियों में से हर जाति की तीन-तीन जातियाँ और बना दी। इस प्रकार नौ प्रकार की जातियाँ बनीं। औडव, षाडव व संपूर्ण। प्रत्येक जाति से तीन-तीन जातियों की उत्पत्ति की गयी। इस प्रकार नौ प्रकार की जातियाँ बनीं और इन्हीं नौ जातियों से नौ उपजातियाँ बनीं तथा एक ठाठ की नौ जातियों से चार सौ चौरासी रागों का निर्माण किया गया[67] तथा गायन संगीत में स्वरों के पृथक रूप दर्शाये गये।

"ध्रुपद" यह अत्यंत प्राचीन काल की रचना है जिसमें अधिकतर भक्ति रस की रचनायें मिलती हैं। इसकी भाषा प्रायः ब्रज ही पायी जाती है। कहा जाता है कि ध्रुवपद गायन का अविष्कार सबसे पहले पन्द्रहवीं शताब्दी में ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर द्वारा हुआ था। उन्होंने स्वयं भी कुछ ध्रुवपदों की रचना की थी।

वर्तमान समय में भी ध्रुवपद एक गंभीर और जोरदार गीत माना जाता है। इसमें वीर, शृंगार व शांत रस प्रधान हैं।

'अनूप संगीत रत्नाकर' में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है–

गीर्वाणमध्यदेशीय भाषा साहित्य राजितम्।
द्विचतुर्वाक्यसंपन्न नरनारी कथाश्रयम् ॥
शृंगाररस भा वाद्यं रागालापपदात्म कम्।
पादांतानुप्रासयुक्तं पादानयुगकं च वा ॥
प्रतिपादं यत्र वद्धमेव पादचतुष्टयम्।
उदग्राह ध्रुव का भोगांतरं ध्रुवपदं स्मृतम् ॥[68]

---

66. एल० जी० पाटणकर – **हमारा संगीत** (भाग 4) – पृ०सं० 35
67. वसन्त– **संगीत विशारद** – (22वाँ संस्करण) 1998, पृ०सं० 180
68. वसन्त– **संगीत विशारद** – (23वाँ संस्करण) 1999, पृ०सं० 227

"ध्रुपद" जैसा कि सर्वविदित ही है कि भारतीय संगीत शास्त्र एवं आचार्यों के मतानुसार, राग के दो प्रकार माने गये हैं—मार्गी तथा देशी। मार्गी की परंपरा अति प्राचीन होने के कारण उनकी भाषा संस्कृत थी, अतएव वह कम ही समझी जाती थी, किंतु स्थानीय भाषाओं में भी गीतों की रचना होती रहने से सामान्य जन भी संगीत-सुधा का आनंद ले सकते थे। उत्तर भारत में ब्रज भाषा (जिसका पुराना नाम 'मध्यदेशीय' अथवा 'ग्वालियरी' भाषा भी मिलता है।) और दक्षिण भारत में तेलगू को गीत व पद-रचना के लिये सर्वाधिक लोकप्रिय भाषा का दर्जा प्राप्त था। 'काव्यादर्श' के रचयिता 'दंडी' (सन् 1035 ई० के लगभग) के समय तक इस भाषा ने इतना विकास किया कि उनके समकालीन 'मतंग मुनि' ने इस (देशी) संगीत के विषय में लिखते हुये इसके गायकों के विषय में इन शब्दों में स्पष्ट कर दिया—

अबलाबाल गोपालैः क्षितिपालैर्सिजेच्छया।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते ॥[69]

उत्तर भारत में इसी देशी संगीत से ध्रुपद का जन्म हुआ जो शनैः-शनैः समूचे संगीत को अपने रंग में रंगता चला गया। प्रारम्भ में ध्रुपद रचना में संस्कृत के साथ-साथ स्थानीय भाषायें भी प्रयुक्त होती थीं तथा शाही महलों तथा दरबारों में यह संगीत अपनी छँटा बिखेरता था। हजरत अमीर खुसरो, स्वामी हरिदास जी तथा मियाँ तानसेन जैसे अमर संगीतज्ञ और 'नायक' की पदवी-प्राप्त अनेक संगीतकार बुनियादी रूप से 'ध्रुपद' के ही गायक थे।[70]

'ध्रुपद' उत्तर-भारत का मध्यकालीन गीत कहलाता है जिसमें गंभीरता तथा भाषा की प्रौढ़ता होती है। ध्रुपद को ध्रुवपद भी कहते हैं। यह भारत का उच्च स्तर का गीत माना जाता है। यह एक शब्द प्रधान गीत होता है तथा इसकी भाषा उच्च तथा भावयुक्त होती

---

69. डॉ० टी०आर० शुक्ल – **भारतीय संगीत की वास्तविक रूपरेखा** – 1994 पृ०सं० 37
70. स्वामी वाहिद काजमी – **संगीत (पत्रिका)** – जुलाई, 1986 पृ०सं० 4

है। ध्रुपद हिन्दी में विशेषकर ब्रजभाषा में अधिक प्राप्त होता है। वीररस, श्रृंगार रस तथा शांतरस में इसकी प्रधानता रहती है। अर्थपूर्ण कविता उच्च रस तथा शब्दों की प्रधानता के कारण इस गीत को भाव-प्रधान गीत कहा जा सकता है। इस गीत की गायन-शैली मधुर नहीं अपितु गंभीर होती है तथा गाने में पर्याप्त शक्ति की आवश्यकता होती है। इसीलिये इसे 'मर्दाना गायन' भी कहते हैं।[71] यही कारण है कि ध्रुपद गायकी का गायन पुरुष ही करते हैं। ध्रुपद को प्रत्येक राग में गाया जा सकता है, किन्तु प्रचार में गंभीर रागों में ही ध्रुपद अधिक मिलते हैं। राग काफी, झिंझोटी, पीलू आदि चंचल प्रकृति के रागों में ध्रुपद नहीं होते।

ध्रुपद चूँकि गंभीर प्रकृति की गायकी है इसी कारण यह पखावज या मृदंग के साथ गाया जाता है। इसके लिये चारताल, सूलताल, तीव्राताल आदि तालों का प्रयोग किया जाता है। ब्रह्मताल, मत्त, रुद्र आदि तालों में भी ध्रुपद मिलते हैं किन्तु इनका प्रचार कम है। ये ताल पखावज या मृदंग की ताल हैं, इसीलिये ध्रुपद के साथ मृदंग का प्रयोग वांछनीय है। वर्तमान समय में तबले पर भी खुले बोलों द्वारा ये तालें बजाकर ध्रुपद के साथ संगति की जाती हैं। इस गीत की लय काफी धीमी रहती है अर्थात यह विलम्बित लय में गाया गया है। इसको गाते समय गायक स्थाई तथा अन्तरे में दुगुन, चौगुन तथा अन्य विभिन्न प्रकार की लयकारियों का प्रदर्शन करता है। अनेक प्रकार की तिहाइयाँ भी इन्हीं लयकारियों में ली जाती हैं प्राचीन काल में ध्रुपद गायकों का गायन उच्च तथा सम्मानीय माना जाता था तथा उनका काफी आदर किया जाता था। उन्हें कलावंत कहा जाता था। रचनाकार एवं गायक का मूल व्यक्तित्व तथा मानसिकता भी उनकी रचनाओं में देखी जा सकती है। ''बैजू'' जी के पदों में एक पद इस प्रकार है–

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।

---

71. सौ० सुमन पाटणकर – **हमारा संगीत** (भाग 4) – पृ०सं० 63

गोपी रीझि रही रस-तानन सो

सुध-बुध सब निसराई।

धुनि सुनि मन मोहे,

मगन भईं देखत हरि आनन।

जीव-जंतु पसु-पंछी सुर-नर-मुनि मोहे

हरे सबके प्रानन।

'बैजू' बनवारी बंसी अधर धरि

वृंदावनचंद बस लिए सुनत ही कानन।[72]

ध्रुवपद में स्थायी, अंतरा, संचारी व आभोग चार भाग होते हैं। ध्रुवपद अधिकतर चौताल, सूलफाक ताल, तीव्रा, ब्रह्मताल, रुद्रताल इत्यादि तालों में गाये जाते हैं।

''धमार'' जब 'होरी' नामक गीत को धमार ताल में गाते हैं तो उसे 'धमार' कहा जाता है। धमार-गायन में प्रायः ब्रज की होली का वर्णन रहता है। धमार की रचनाओं में अधिकतर राधा-कृष्ण का शृंगारिक वर्णन किया जाता है। धमार में दुगुन, चौगुन, बोल, तान, गमक इत्यादि का प्रयोग होता है। कठिन गायकी होने के कारण इसमें गायक को स्वर, ताल और राग का अच्छा ज्ञान होना चाहिये। यह धमार ताल में ही मुख्य रूप से गाया जाता है। धमार के विषय में रामशंकर जी का कथन है—

कनक वरन शुचि शुभ्रतन, तिय संग खेलत फाग,
विहसि परस्पर अंकले दरसत मरि अनुराग।
दस श्रुति (चौदह) अनुचरि संग में त्रिपहर करत बिहार,
ब्रह्म रूप पद ब्रह्म सुख, सुखद सुसरस धमार।[73]

रामशंकर (पागलदास)

---

72. स्वामी वाहिद काजमी – **संगीत (पत्रिका)** – जुलाई, 1986 पृ०सं० 8

73. श्री भगवान दास मृदंगाचार्य – **मृदंग तबला प्रभाकर** प्रथम संस्करण पृ०सं० 33

ख्याल– फारसी भाषा में ख्याल का अर्थ है–विचार या कल्पना।

राग के नियमों का पालन करते हुए अपनी इच्छा या कल्पना से ख्याल विविध आलाप, तानों का विस्तार करते हुए एकताल, त्रिताल, झूमरा, आड़ाचार ताल इत्यादि तालों में गाये जाते हैं। ख्याल के गीतों में शृंगार रस का अधिक प्रयोग किया जाता है। ख्याल की गायकी में जलद तान, गिटकरी इत्यादि का प्रयोग शोभा देता है और स्वर-वैचित्र्य तथा चमत्कार पैदा करने के लिये ख्यालों में तरह-तरह की तानें ली जाती हैं। ख्याल गायन में ध्रुवपद जैसी गंभीरता और भक्ति-रस की शुद्धता नहीं पाई जाती।[74]

धीरे-धीरे समय के साथ ध्रुपद धमार-गायन में परिवर्तन होने लगा। बैजू बावरा ने ध्रुपदों की इस शैली का प्रवर्तन मानसिंह तोमर के दरबार में किया तथा एक नयी शैली 'ख्याल' का समादृत हुआ। मुगलकाल में ध्रुपद को ही ख्याल में परिवर्तित किया गया। ख्याल के विषय में विद्वान लेखक नलिन कुमार गंगोली लिखते हैं–

Classical song 'Dhrupad' was transformed into 'Khyal' on entrance into Mugal Court. As in Khyal, no change occurred of the 'sargam' of our classical song.[75]

ख्याल की उत्पत्ति के विषय में अनेको मत हैं इसका मुख्य कारण है कि प्राचीन एवं मध्यकालीन ग्रंथों में ख्याल-गायकी के विषय में कुछ उल्लेख नहीं है, जबकि मध्यकाल में ही ख्याल गायन-शैली का जन्म हुआ है। श्री ओ० गोस्वामी अपनी पुस्तक में लिखते हैं–"The Khyal emerged in all probability a reaction against Puritanical rigidity of Dhrupad."

कुछ लोगों के मतानुसार ख्याल की उत्पत्ति प्राचीन काल में प्रचलित गीतियों से ही हुई है। ठाकुर जयदेव सिंह ने अपने लेख 'ख्याल का विकास' में बताया है कि–"ख्याल

---

74. वसन्त– **संगीत विशारद** – (23वाँ संस्करण) 1999, पृ०सं० 235
75. उमेशी जोशी – **भारतीय संगीत का इतिहास** – पृ०सं० 241

गायन पूर्ण रूप से भारतीय है। हिन्दुस्तानी संगीत के कलाकारों को दृष्टि में रखते हुये इनकी बंदिशों को देखा जाय तो ज्ञात होगा कि इनका विकास भिन्न शैली पर विशेष जोर देते हुये साधारण शैली पर आधारित है इसके गायन में जैसा कि गायक लोग कहते है, रूपकालप्ति का अनुसरण किया जाता है।''[76]

कुछ विद्वानों द्वारा ख्याल की उत्पत्ति मुसलमानों द्वारा गाई जा रही कव्वाली-गायन द्वारा भी मानी गयी है। जिसके अंतर्गत सुल्तान हुसैन शर्की, अमीर खुसरो तो किसी ने मौहम्मद शाह रंगीले के समय के संगीतज्ञ सदारंग व अदारंग को ख्याल का अविष्कारक माना है। प्रो० बी० आर० देवधर ने भी 'सदारंग' को ख्याल निर्माता मानते हुये कहा है–''पहले-पहल ख्याल रचना अमीर खुसरो ने (ई० सं० 1251 से 1325) की, मगर उस वक्त वह लोकप्रिय न हो सकी। तत्पश्चात सु० हुसैन शर्की, बाजबहादुर, चंचल सेन, चाँद खाँ व सूरज खाँ ने इसको दिलचस्प बनाने की भरसक कोशिश की मगर वे भी असफल रहे। नियामत खाँ उन कोशिशों से अच्छा वाकिफ था और इसी तरह कोशिश करके नई शायरी उसने शुरू की।''[77] नियामत खाँ ने काव्य-रचना के लिये अपना उपनाम सदारंग रखा था।

''ख्याल'' दो प्रकार से गाये जाते हैं। जो ख्याल विलंबित लय में गाये जाते हैं उन्हें बहुधा 'बड़ा ख्याल' या 'विलंबित ख्याल' कहते हैं तथा जो ख्याल मध्य या द्रुतलय में गाये जाते हैं उन्हें 'छोटा ख्याल' या 'द्रुत ख्याल' कहते हैं।

'बड़ा या विलम्बित ख्याल'–बड़ा या विलम्बित ख्याल का एक नाम कलावन्ती ख्याल भी है।[78] इस ख्याल का अविष्कार 15वीं शताब्दी में जौनपुर (उत्तर प्रदेश) के 'सुल्तान हुसैन शाहशर्की' द्वारा हुआ, ऐसा माना जाता है। ख्याल का प्रचलन 18वीं शताब्दी के आसपास अंतिम मुगल बादशाह मु० शाह के दरबार में सदारंग व अदारंग नाम के दो भाई,

---

76. सत्यवती शर्मा – **ख्याल गायन शैलीः विकसित आयाम** (प्रथम संस्करण) – 1994 पृ०सं० 79
77. सत्यवती शर्मा – **ख्याल गायन शैलीः विकसित आयाम** (प्रथम संस्करण) – 1994 पृ०सं० 81
78. चंद्रकांत पाटणकर – **हमारा संगीत** (भाग 4) – पृ०सं० 64

जोकि उच्च कोटि के संगीतज्ञ थे उनके द्वारा हुआ। इस ख्याल का मुख्य श्रेय इन्हीं दो संगीतज्ञों को है। नाम 'बड़ा ख्याल' होने पर भी इसकी रचना संक्षिप्त व कम शब्दों की होती है। कभी-कभी स्थाई और अंतरा केवल एक ही पंक्ति का होता है। बड़े ख्याल में दो ही भाग होते हैं—स्थाई तथा अंतरा। इसका मुखड़ा बहुधा दो से पाँच मात्रा तक का ही होता है। संपूर्ण गायन की सुंदरता इसी मुखड़े पर केन्द्रित रहती है। इसकी काव्य-रचना भी साधारण ही रहती है। बड़े ख्याल, वैसे तो सभी रागों में हो सकते हैं, किन्तु हल्के रागों में जैसे काफी, पीलू, गारा आदि में ये नहीं दिखाई देते। खमाज, भैरवी, तिलक कामोद, कालिंगड़ा आदि रागों में भी बड़े ख्याल कम शोभा देते हैं। बड़ा ख्याल कुछ गंभीर रहता है। इसकी रचना किसी भी विषय पर आधारित हो सकती है। प्रचार में बड़े ख्याल में विरह-वर्णन, नायिका द्वारा उपालम्भ तथा इससे मिलते-जुलते विषय मिलते हैं। आधुनिक काल में कुछ ख्याल प्राकृतिक वर्णन व भक्ति रस पर भी रचे गये हैं। इसमें शृंगाररस, करूण रस अथवा शांत रस ही मुख्य रूप से विद्यमान होते हैं। विलंबित ख्याल एकताल, झूमरा, तिलवाड़ा आदि धीमी तालों में निबद्ध होते हैं। ये तालें तबले पर धीमी लय में बजाई जाती हैं। इन ख्यालों की लय विलंबित होने के कारण ही इनका नाम विलम्बित ख्याल पड़ा।

'छोटा अथवा द्रुत ख्याल'—मध्य अथवा द्रुत लय में गाये जाने वाले ख्याल 'द्रुत ख्याल' कहलाते हैं। इन्हें 'छोटा ख्याल' के नाम से भी जाना जाता है। बड़े ख्याल व छोटे ख्याल में मुख्य अंतर लय की गति का है। प्रायः सभी विद्वानों का मत है कि छोटे ख्याल का अविष्कार 13वीं शताब्दी में अमीर खुसरो द्वारा किया गया था। इसके विकास में अदारंग व सदारंग संगीतज्ञों का भी बड़ा योगदान माना जाता है। इस ख्याल का प्रचार और प्रसार मुख्य रूप से मनरंग, हररंग, दिलरंग, दरसपिया, गदरपिया आदि ने किया। डा० लालमणि मिश्र ने ख्याल शैली के जन्मदाता अमीर खुसरो को मानने का सख्त विरोध किया है इनके अनुसार—"अमीर खुसरो के युग में सारे देश में प्रबन्ध तथा ध्रुपद का प्रचार था।

बाद में प्रबन्ध लोप हो गया और शास्त्रीय संगीत में केवल ध्रुपद-धमार का गायन होने लगा। तानसेन जो अमीर खुसरो से लगभग 200 वर्ष पश्चात हुआ, ध्रुपद गान करता था उस समय ध्रुपद की वाणियाँ भी प्रचलित थीं। तानसेन के पश्चात भी नियामत खाँ, जो मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार का सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ था, के समय तक कहीं ख्याल-गायन का नाम प्राप्त नहीं हुआ। अतः जिस शैली का प्रचार 17वीं शताब्दी के बाद हुआ हो, उसका जन्मदाता 14वीं शताब्दी का कोई व्यक्ति हो, यह समझ में नहीं आता। इसके अतिरिक्त सदारंग से पूर्व कोई ख्याल-रचना प्राप्त नहीं होती।''[79]

छोटे ख्याल की शब्द रचना व कविता संक्षिप्त होते हुय भी बड़े ख्याल से बड़ी होती है। इसमें स्थाई अंतरा मिलाकर प्रायः चार से छः सात तक पंक्तियाँ होती हैं। इसका मुखड़ा 4 से 12 मात्रा तक होता है। अधिकाँश मुखड़े आठ मात्रा के होते हैं। इसकी भाषा, रचना साहित्य सभी कुछ बड़े ख्याल के समान होती है। छोटे ख्याल प्रायः सभी रागों में होते हैं। ये त्रिताल, द्रुत-एकताल, रुपक आदि तालों में निबद्ध होते हैं। कुछ मध्यकाल के ख्याल झपताल, आड़ाचौताल में भी होते हैं। ये सभी तालें तबले की हैं तथा मध्य व द्रुतलय में बजाई जाती हैं। वर्तमान समय में भी सर्वाधिक लोकप्रिय गीत-शैली केवल ''छोटा ख्याल'' ही है।

छोटा ख्याल बड़े ख्याल के समान गंभीर न होकर इसमें चपलता व चंचलता होती है। छोटा ख्याल चमत्कारपूर्ण रहता है। वर्णित विषय प्रायः बड़े ख्याल के समान ही होते हैं, केवल शांत रस नहीं बन पाता। छोटा ख्याल गाने के लिये गला मधुर सुरीला लोचदार तथा मुलायम होना चाहिये। उपरोक्त ख्याल के गायक छोटा ख्याल भी गाते हैं। छोटा व बड़ा ख्याल गायक एक स्थान पर एक समय में गाता है, तो ये दोनों ही प्रायः एक ही राग में होते हैं, किन्तु बोल या कविता, दोनों ख्यालों की अलग-अलग होती हैं।

---

79. सत्यवती शर्मा—ख्याल गायन शैली : विकसित आयाम – प्रथम संस्करण – 1994 पृ०सं० 81

छोटे ख्याल के गायन का ढंग लगभग बड़े ख्याल के समान ही रहता है। इसमें धीमा आलाप नहीं होता। इसमें तानें अधिक व दुगुन में ही ली जाती हैं। गमक, तान का प्रयोग शोभा नहीं देता। छोटे ख्याल के अंतर्गत बोल, अलाप, बोल–बनाव तथा बोल तानों का प्रयोग सौंदर्य बढ़ाने के कारण अधिक होता है।

ठुमरी–ठुमरी गायन विधा की गणना अर्धशास्त्रीय गायन के वर्ग में की जाती है क्योंकि इसमें रागों का ठोस बंधन न रहकर केवल राग विशेष का आधार रहता है और राग विशेष के साथ-2 अनेक रागों का मिश्रण या छाया भी उस एक राग में लाई जा सकती है। क्योंकि ठुमरी एक भाव प्रधान गायन विधा है जिसमें किसी भी राग के किन्हीं स्वरों को लगाने से यदि सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव भी उभरकर श्रोताओं के मन को छूते हैं तो गायक को उन स्वरों को लगाने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है रागों का विशेष बंधन न होकर रागों पर आधारित रहने से ही ठुमरी को अर्धशास्त्रीय वर्ग में रखा गया है।[80]

यह भावपूर्ण शृंगारिक रचना है तथा इसमें स्वरों की शुद्धता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है, किन्तु स्वरों के रूप की ओर नहीं, अर्थात भाव की सृष्टि के लिये स्वरों के शुद्ध एवं कोमल कोई भी रूप लगाने की स्वतंत्रता होती है। शृंगार रस का भाव-प्रधान गीत होने के साथ इसमें राग की शुद्धता से रस तथा भाव की अभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया जाता है। ठुमरी को कुछ लोग 'ठुँबरी' कहकर भी पुकारते हैं। इसमें शब्दों का कम प्रयोग किया जाता है। विद्वानों के अनुसार इसका प्रचलन लगभग 100 वर्ष से है। इसका प्रारंभ या प्रचार लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह के समय में हुआ था, ऐसा माना जाता है।

ठुमरी में गीत के प्रत्येक शब्द को इस प्रकार गाया जाता है कि उस शब्द में अन्तर्निहित भावों को अनेक प्रकार के स्वर-समुदायों से व्यक्त किया जा सके। इसके लिये गायक का स्वयं भावुक होना व उसमें भावों को प्रदर्शित करने की क्षमता होना,

---

80. डा० मधुबाला सक्सैना – ख्याल शैली का विकास – 1985 पृ० सं० 136

कल्पनाशील मस्तिष्क, सहानुभूति रखने वाला हृदय तथा कोमल व सुरीली आवाज का होना नितांत आवश्यक है।[81] यही कारण है कि ठुमरी में रागों की इतनी छूट होने पर तथा किसी भी प्रकार के खटके, मुर्की व अन्य गले की हरकत पर बंधन न होने पर भी बहुत कम सफल ठुमरी गायक हो पाते हैं। निम्नलिखित विशेषताओं के साथ-साथ ठुमरी गायक के गले का कोमल होना, उसमें स्वैराचार की क्षमता होना, आर्विभाव-तिरोभाव करने की क्षमता होना, गायन में कुशलता व सूक्ष्म भावों का प्रदर्शन करना तथा भावों को हृदयग्राही रूप में प्रदर्शित करना आदि ठुमरी गायन की अत्यन्तावश्यक विशेषतायें हैं।[82]

ठुमरी सभी रागों में न होकर केवल चंचल तथा क्षुद्र प्रकृति के रागों में ही होती है। भैरवी, खमाज, काफी आदि रागों में ठुमरियाँ अधिक होती है, अर्थात जिन रागों में ध्रुपद तथा बड़े ख्याल नहीं होते उनमें ही ठुमरियाँ होती हैं। ठुमरी गायन की अनेक शैलियाँ हैं जिनकी अपनी-अपनी विशेषता होती है। इसके चार प्रकार प्रसिद्ध है—1. लखनऊ की ठुमरी, 2. बनारस की ठुमरी, 3. महाराष्ट्र की ठुमरी तथा 4. पंजाबी ठुमरी।

ठुमरी अधिकतर दीपचंदी (चाचर), पंजाबी, अद्धा त्रिताला, दादरा कहरवा व तीन-ताल आदि तालों में गाई जाती है। वैसे दादरा और कहरवा नामक गायन विधायें भी हैं जो इसी श्रेणी के अंतर्गत आती हैं परंतु दादरा व कहरवा गायन विधाएं केवल दादरा और कहरवा तालों में ही क्रमशः गाई जा सकती हैं। इसके साथ ही एक अंतर यह भी है कि दादरा व कहरवा, ठुमरी की तुलना में द्रुत लय में गाये जाते हैं जबकि ठुमरी कुछ ठहरी हुई लय में गाई जाती है और पूर्ण विस्तार करने के पश्चात केवल थोड़ी देर के लिये ही द्रुत लय में गाई जाती है। इस लय में स्वर-समुदाय, शब्द-समुदाय तथा ताल की लय में पर्याप्त सामंजस्यता होती है।[83] लय परिवर्तन से वातावरण भी बदल जाता है और गायक इसमें तेज लय की बोलतानें व गले की कुछ विशेष तेज लय में की जाने वाली कलाओं को भी

---

81. O. Goswami – The Story of Indian Music p. 134
82. डा० मधु बाला सक्सेना – **ख्याल शैली का विकास** – पृ०सं० 136
83. O. Goswami – The Story of Indian Music p. 135

प्रदर्शित कर पाता है। तेज लय या दुगुन की लय होने पर सदा कहरवा ताल का ही प्रयोग होता है चाहे वह ठुमरी दीपचंदी, चाचर या किसी भी ताल में गाई गई हो। यह ठुमरी की विशेषता है। 'ठुमरी' व 'दादरा' की भाषा, भाव तथा विषयवस्तु आदि एक समान होती हैं। ठुमरी के लिये कुछ हल्के-फुल्के व चंचल प्रकृति के राग ही उपयुक्त माने गये हैं जैसे–खमाज, पीलू, मांड काफी, पहाड़ी, भैरवी, तिलंग आदि। आज भी कुछ ऐसे पद ठुमरियों के रूप में संगीतज्ञ समाज में प्रचलित हैं, उदाहरण के लिये पीलू की प्रसिद्ध ठुमरी–"सोच, समझ-नादान, आंशिक होना फिर जीना क्या रे" मूलतः संत कबीर का पद है। इसी प्रकार पीलू की एक अन्य प्रसिद्ध ठुमरी "पपीहा पी की बोली न बोल" तथा तिलक कामोद की ठुमरी "नैना मोरे निपट विकट छवि अटके" मूलतः भक्त-गायिका मीराबाई के पद हैं।[84] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि शृंगार-रस प्रधान गायन शैली ठुमरी में भी ऐसी रचनायें प्राप्त होती हैं।

'दादरा'–ठुमरी के अतिरिक्त शास्त्रीय संगीत का एक अंग 'दादरा' भी है जो ठुमरी की ही विशेषताओं से युक्त अधिक हल्का गीत है। इसका राग व गायन का तरीका लगभग ठुमरी के समान ही होता है, बल्कि यह अधिक सरल व चंचल होता है। इसमें बहुधा दादरा ताल का ही प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त दादरा गीत कहरवे में भी गाया जाता है। दादरा मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है। कुछ दादरों में 'शेर' तथा 'दोहे' भी गाये जाते हैं।[85]

'टप्पा'–क्षुद्र तथा चंचल प्रकृति का शृंगार रस-प्रधान गीत जो छोटी-छोटी तानों के साथ गाया जाता है, 'टप्पा' कहलाता है।

प्रायः सभी विद्वानों का यह मत है कि टप्पे का अविष्कार मुहम्मद शाह के समय में गुलाम नबी शौरी के द्वारा हुआ तथा इसका प्रचार भी शौरी मियाँ के द्वारा ही हुआ।

---

84. पं० भातखंडे – क्र. पु. मा. भाग-3, 1957 पृ०सं० 314 - 640

85. डा० टी०आर० शुक्ल – **भारतीय संगीत की वास्तविक रुपरेखा 1994** – पृ०सं० 37

टप्पा की रचनाओं में पंजाबी भाषा की प्रधानता से सिद्ध होता है कि सर्वप्रथम इसका प्रचलन पंजाब से ही हुआ। बंगला तथा हिन्दी भाषा में भी कतिपय टप्पे देखने में आते हैं किन्तु इनका प्रचार कम ही है। भाषा, साहित्य अथवा काव्य का इसमें स्थान नहीं है अधिकतर पंजाब में स्त्रियाँ प्रायः टप्पा लोकगीत के अंतर्गत गाती हैं किंतु यही तात्पर्य उस टप्पा गायन-शैली से है जो विशेष लोकप्रिय हो चुकी है। टप्पा की गायकी क्लिष्ट है। टप्पा भी प्रायः उन्हीं रागों में गाये जाते हैं जिनमें ठुमरी गायी जाती है। टप्पा प्रायः राग–काफी, भैरवी, पीलू आदि में गाया जाता है तथा छोटे ख्याल वाली तालों में गाया जाता है। अद्धा ताल, पंजाबी ताल तथा इकवाही ताल आदि तालों का प्रयोग टप्पे के लिये किया जाता है जिसे 'टप्पा ताल' ही कहते हैं।[86] इस ताल की मात्रा-विभाग आदि सभी त्रिताल के समान होती हैं, केवल ठेका ही भिन्न प्रकार का है।

'टप्पा' अर्द्धशास्त्रीय संगीत का ही एक प्रकार है। इसमें रागालाप को स्थान नहीं, बड़ी व लंबी तानें भी नहीं होतीं। छोटी-छोटी तानों के साथ कुछ शब्दों के साथ इसे गाया जाता है तथा कुछ बोलों के बगैर तान के रूप में भी गाये जाते हैं। इसमें आलाप नहीं होता अपितु टप्पा के बोलों को ही लेकर अनेक प्रकार से तान की तरह दोहराते हैं तथा मुखड़ा बनाकर फिर सम पर मिल जाते हैं। इसकी गायकी ध्रुपद तथा ख्याल से बिल्कुल भिन्न है। यह ठुमरी तथा दादरा से अधिक चपल व चंचल होती है। इसको गाने के लिये कंठ को मधुर, लोचदार व काफी तैयारी की आवश्यकता होती है। बनारस की 'गिरिजा देवी' जो भारत की प्रसिद्ध गायिका हैं उनके साथ विचार-विमर्श करने पर टप्पा शैली के अंतर्गत एक नई चीज ज्ञात हुई कि टप्पा के दो प्रकार हैं– 1. टप्पा 2. टप ख्याल।[87]

'कजली (कजरी)–'कजली' गीतों में वर्षा ऋतु का वर्णन, विरह-वर्णन तथा राधा कृष्ण की लीलाओं का वर्णन अधिक मिलता है। कजली की प्रकृति क्षुद्र है इसमें शृंगार रस प्रधान है मिर्जापुर और बनारस में कजली गाने का प्रचार अधिक पाया जाता है।[88]

---

86. डा० टी०आर० शुक्ल – **भारतीय संगीत का वास्तविक रुपरेखा 1994** – पृ०सं० 37
87. स्वामी वाहिद काजमी – **संगीत (पत्रिका) जुलाई 1986** – पृ०सं० 3
88. बसन्त – **संगीत विशारद** (23वां संस्करण) 1999 – पृ०सं० 239

'चैती'—होली के बाद जब चैत का महीना आरंभ होता है तब 'चैती' गाई जाती है। इसके गीतों में भगवान राम की लीलाओं का वर्णन रहता है। पूर्व बिहार की ओर इसका प्रचार अधिक है। इसमें अधिकतर पूर्वी भाषा का प्रयोग होता है। ठुमरी-गायक चैती को अच्छे तरीके से गा सकते हैं।

'गीत'—ईश्वर प्रार्थना या भगवान की लीला संबंधी पदों को छोड़कर जो साहित्यिक रचनायें ऐसी होती हैं, जोकि किसी ताल में बाँधकर गाई जा सकें, उन्हें 'गीत' कहते हैं। इन गीतों में भाव की प्रधानता रहती है। गीतों में शृंगार और करुण-रस अधिक पाया जाता है। गीतों में किसी प्रकार का स्वर—विस्तार या तानों का प्रयोग नहीं होता। फिल्मी गीत अथवा भजन व प्रार्थनायें गीत की श्रेणी में ही आते हैं। व्यापक अर्थ में किसी कविता को जब स्वरों के वर्णों और ताल की सहायता से, किसी धुन में बाँधकर गाते हैं, तो उसे गीत कहते हैं। संकुचित अर्थ में गीत एक प्रकार के आधुनिक गीत को कहते हैं। गीतों को संगीतज्ञ 'चीज' अथवा बन्दिश भी कहते हैं। केवल स्वरों की गाई जाने वाली रचना को 'सरगम' तथा बजाई जाने वाली रचना को 'गत' कहते हैं।[89] गीत में कहरवा, दादरा, रुपक ताल आदि अधिक प्रयोग में आती है।

'गजल'—गजल अधिकतर उर्दू या फारसी भाषा में होती हैं इसके अधिकांश गीतों में प्रेम-विरह आदि का वर्णन पाया जाता है, शेरो-शायरी भी इसमें अधिक प्रयोग की जाती है। इसीलिये यह शृंगार-रस-प्रधान गायकी है। गजल-रूपक, पश्तो, दीपचन्दी, दादरा, कहरवा, आदि तालों में गाई जाती है। वे ही गायक गजल गाने में सफल होते हैं, जिन्हें उर्दू-हिन्दी का अच्छा ज्ञान हो तथा जिनका शब्दोच्चारण भी शुद्ध होता है।[90] गजल की अनेक तर्जे हैं। वर्तमान समय में फिल्मों के द्वारा गजल व गीत का प्रचार अधिक हुआ है।

'भजन'—जिस प्रकार उर्दू भाषा के शब्दों से गजलें तैयार की जाती हैं उसी प्रकार हिन्दी शब्दावली से पद, भजन या धार्मिक गीतों की रचना होती है। ईश्वर की भक्ति या

---

89. सौ सुमन पाटणकर — **हमारा संगीत** (भाग चार) — पृ०सं० 61

90. बसन्त — **संगीत विशारद** (23वाँ संस्करण) 1999 — पृ०सं० 237

गुणगान करने वाले गीत 'भजन' अथवा पद कहलाते हैं। पद अथवा भजन मुख्य रूप से भक्ति-काल की देन हैं।[91] सूरदास, मीराबाई, कबीरदास, तुलसीदास आदि भक्त कवियों ने सहस्त्र पदों की रचना की। यह सभी भाषाओं में मिलते हैं। हिन्दी व ब्रजभाषा के पद बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त बंगला, मराठी, पंजाबी आदि भाषा में भी सुंदर पद मिलते हैं। यह गीत प्रकार भी शब्द-प्रधान तथा अर्थ-प्रधान होता है। इसके अंतरे के कई चरण होते हैं। पदों में ईश्वर लीलाओं का वर्णन ही अधिक मिलता है। ईश्वर वंदना तथा भगवत-भक्ति के गीतों का मुख्य उद्देश्य ईश्वर के गुणों का गान तथा तथा भगवान की स्तुति करना ही होता है।

भजन या पद में रागों का विशेष महत्व नहीं होता एवं किसी भी राग के मिलते-जुलते स्वरों में इन्हें बाँध लेते हैं। मूलराग प्रायः काफी, भैरवी, पीलू आदि होते हैं। आधुनिक संगीतकार इन्हें बड़े सुंदर तथा मनोहर स्वर-रचना में प्रस्तुत करते हैं। इनकी तालें भी चंचल होती हैं। भजन प्रायः धुमाली, कहरवा, रूपक आदि तालों में निबद्ध होते हैं।

आजकल भजन व पदों का अधिक प्रचार है। कुछ पद शुद्ध राग तथा त्रिताल आदि तालों में भी गाये जाते हैं। इनमें शास्त्रीय संगीतज्ञों को भी आनंद प्राप्त होता है उदाहरण के लिये स्व० डी०बी० पलुस्कर, शुभ-लक्ष्मी आदि द्वारा गाये गये पद तथा भजन सभी को भाव-विभोर कर देते हैं।

'तराना'—इन नामों के गीत हिन्दुस्तानी गायक अधिकतर गाते हैं जो गायक ख्याल गाते हैं वे ही प्रायः ये गीत गाते हैं। तराने भिन्न-भिन्न तालों में होते हैं। तराने में शब्दों का विशेष महत्व नहीं होता, उनके शब्द—ताना, देरे, दानि ओ दानि तानोम् यलली, यलूम, तदरेदानि आदि प्रकार के होते हैं। तराने में राग व लयकारी का आनंद रहता है। कोई उद्योगी पंडित ऊपर बताये हुये शब्दों में से भिन्न-भिन्न अर्थ ढूँढने का प्रयत्न करते हैं परन्तु गाते समय ये शब्द जिव्ह्या को सुलभ हो इस दृष्टि से स्वीकार किये गये होंगे ऐसा बहुतों का मत है। कभी-कभी तरानों में मृदंग के शब्द अथवा फारसी भाषा के एक-दो शेरों (एक

---

91. एल०जी० पाटणकर — **हमारा संगीत** (भाग चार) — पृ०सं० 70

कविता प्रकार) का संयोग दिखाई देता है। तरानों का गायन देश भर में मनोरंजक माना जाता है। बहादुर हुसैन खाँ, तानरस खाँ व नत्थू खाँ के अनेक तराने प्रसिद्ध हैं।[92]

त्रिताल तथा द्रुत-एकताल में तराने अधिक होते हैं। कुछ तराने विलम्बित लय की तालों में भी मिलते हैं किंतु इनका प्रचार नहीं के बराबर है। तराना द्रुत-लय में ही सुंदर लगता है। इसकी संगति भी प्रायः द्रुत-ख्याल की भाँति ही की जाती है। परंतु अति द्रुत लय में तराना गान के साथ तबला-वादक छंद प्रकार, ठेके की तैयारी तथा रेला आदि का समुचित प्रयोग करते हैं। वर्तमान काल में निसार हुसैन खाँ, पं० विनायक राव पटवर्धन व पं० कृष्ण राव इत्यादि के तराने विशेष प्रसिद्ध हुये हैं।[93]

अंत में शोधकर्त्री के अनुसार यही निष्कर्ष निकलता है कि उत्तर भारतीय संगीत की अति विस्तृत सीमा है। शास्त्रीय संगीत के राग व ताल समान होते थे किन्तु प्रान्तीयता व भाषा का गहरा प्रभाव हमारे शास्त्रीय संगीत पर पड़ता रहा है। इसलिये एकताल के अनेक रूप या अनेक तालों का एकरूप भी अब उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में उपलब्ध है। शास्त्रीय संगीत की विस्तृत सीमा के अन्तर्गत एक ही ताल को तरह-तरह के संगीत में अनेक रूपों में वितरित किया जाता है।

उत्तर भारतीय संगीत पद्धति का प्रचलन 13वीं शताब्दी के लगभग माना जाता है वर्तमान समय में इतना समय निकल जाने के पश्चात भी संगीत एक ऐसी कला है जो अपना अस्तित्व आश्चर्यजनक रूप से बनाये हुये हैं अथवा कहना चाहिये कि संगीत ने शास्त्रीय संगीत के साथ-साथ अन्य क्षेत्र में भी अपना पूर्णरूप से विकास किया है। ताल को शास्त्रीय संगीत की आत्मा से विभूषित किया गया है। संगीत का प्रत्येक अंग चाहे वह गायन हो वादन हो अथवा नृत्य, ताल इन सभी में आत्मा की तरह समायी हुई है अर्थात ताल द्वारा ही नियंत्रित होकर शास्त्रीय संगीत का रूप आकर्षक बनाया जाता है।

-x-x-x-x-x-x-x-x-x-x-

---

92. विष्णु नारायण भातखंडे — **हिंदुस्तानी संगीत पद्धति** (क्रमिक पुस्तक मालिका) चौथी पुस्तक — पृ०सं० 51-52

93. योगमाया शुक्ल, — **तबले का उद्गम विकास और वादन शैलियां** 1987 — पृ०सं० 190

पंचम अध्याय

दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत और ताल

पंचम अध्याय

दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत और ताल

भारतीय संगीत की मूलधार एक है जो कालान्तर में उत्तर दक्षिण की दो भिन्न धाराओं में प्रवाहित हुई। एतिहासिक व सांस्कृतिक पतनों के बीच दक्षिण भारतीय संगीत की जिस निष्ठा से रक्षा हुई उत्तर भारतीय संगीत में हम उसका अभाव पाते हैं। दक्षिण के संगीतज्ञ प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील रहे हैं कि उनकी कला में प्रयुक्त परंपरागत तत्त्व नष्ट न हों जबकि उत्तर भारतीय संगीत धारा विभिन्न संगीत शैलियों से मिल कर नित्य नूतन रूप धारण करती रही। प्राच्य एवं पाश्चात्य नृतत्व की भाषातत्त्वविदों के मतानुसार भारतवर्ष की सबसे पुरातन आदिम जाति ''नैगिटा'' है। आस्ट्रिक जाति ने दक्षिण पूर्व एशिया से भारत में प्रवेश किया। तदुपरान्त काकेशीय जाति विभिन्न दलों में भारत आयी व उत्तर पश्चिम भाग में स्थायी रूप से बस गयी। इनकी प्रथम शाखा का नाम द्राविड़ है—। अधिकाँश भाषाविदों का मत है कि द्राविड़ आर्य जाति की ही एक शाखा है जिसके लोग द्रवदिड़ सामगान करते थे; इसी कारण उन्हें द्राविड़ या द्रविड़ कहा गया। वे दक्षिण के स्थायी निवासी बन गये।[1] अति प्राचीन संगीत या नृत्य को वर्तमान कला की तुला पर तोल कर भले ही वह स्थान न दिया जा सके जो वर्तमान कलात्मक अभिव्यक्तियों को दिया जाता है, किंतु कला के विकास की प्रारंभिक कड़ियों के रूप में उनका महत्व कैसे अस्वीकृत किया जा सकता है।

उत्तर एवं दक्षिण भारतीय संगीत के अलग-2 रूप होते हुये भी ये एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। समस्त भारत की कला और संस्कृति भौगोलिक तथा सामाजिक पर्यावरण के अनुकूल ही अलग-2 प्रान्तों में अपने रूप को निखार सकी है। दक्षिण भारत में भी ताल का विधान विकसित हुआ है वह हमारी प्राचीन परंपराओं से जुड़ा हुआ है। डा० परांजपे ने भारतीय संगीत के जगत में एक सम्मानित स्थान प्राप्त किया है तथा कहा है

1. डा० अरुण कुमार सेन — **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** — 1973 पृ०सं० 163

कि—"कर्नाटक ताल पद्धति से तात्पर्य विगत 2-3 शताब्दियों से दक्षिण भारत में प्रचलित ताल प्रणालियों से है।"[2] इसके अन्तर्गत ताल कला तथा ताल शास्त्र दोनों का समन्व्य है। दक्षिण में तालांकन की प्रणाली प्रायः प्राचीन तथा मध्यकालीन परंपरा के अनुकूल है।

गणित के सिद्धांतों का जिस सूक्ष्मता से दक्षिण भारतीय ताल पद्धति में प्रयोग हुआ है उतने सूक्ष्म प्रयोग उत्तर भारतीय ताल पद्धति में उपलब्ध नहीं हैं। दक्षिण संगीत पद्धति में तीन प्रमुख ताल पद्धतियों का प्रचार रहा।

1. प्राचीन अष्टोत्तरशत् तालम्

2. अपूर्व तालम्

3. सप्त तालम्

आज सप्त तालम् के आधार पर कर्नाटक संगीत की रचना हुई, जो विभिन्न जाति व गति भेदों के साथ प्रचलित हैं।[3]

दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत के संपूर्ण रूप का अवलोकन करने के लिये उसके इतिहास के पन्नों को सरसरी दृष्टि से देखना होगा। दशम् शती ईसवी के अंतिम समय में ही महमूद गजनवी के आक्रमणों का आरंभ हो गया था। मंदिरों का विध्वंश तथा बलात् धर्म परिवर्तन उसकी योजना के अनिवार्य अंग थे। परिणाम स्वरूप जहाँ-2 उसके चरण पड़े विद्वानों का अभाव होता चला गया।[4]

सन् 1013 ई० में काश्मीर की ओर भी महमूद का ध्यान गया। 1015 ई० तक उसने संपूर्ण काश्मीर का विनाश कर डाला। उस समय में पंडित हो या मूर्ख, गुणी हो या गँवार सभी को इस्लाम धर्म या मृत्यु दोनों में से एक को चुनना था। 1018 ई० में महमूद ने कन्नौज एवं मथुरा को नष्ट कर दिया। 1024 ई० में सोमनाथ का मंदिर लूटा, इसी के परिणाम-स्वरूप विद्वानों को दक्षिण में आश्रय लेना पड़ा।

---

2. सौ० सुमन पाटणेकर – **हमारा संगीत** (भाग चार) – पृ०सं० 59
3. स्वतंत्र शर्मा– **भारतीय संगीत एक वैज्ञानिक विश्लेषण** प्र०संस्करण 1986 पृ०सं० 114
4. सौ० सुमन पाटणेकर – **हमारा संगीत** – पृ०सं० 59

महमूद गजनवी के पश्चात मुहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज को पराजित किया। तत्पश्चात यह स्थिति एक के बाद एक करके बिगड़ती ही चली गयी। 1200 व 1300 ई० का काल एक ऐसा संधिकाल है जो संगीत के क्षेत्र से पुरानी भारी भरकम परंपराओं को एक ढेर के समान समेटर कर एक और रख देता है, तथा संगीत के गहन और आध्यात्मिक रूप को सामान्य जन-जीवन के सहज तथा चपल धरातल पर ले आता है। इससे पूर्व संपूर्ण भारत की ताल पद्धति एक ही थी, 1230 ई० जो कि "संगीत रत्नाकर ग्रंथ" का रचनाकाल माना जाता है—उस काल तक आते-आते युद्धों की हलचल कुछ स्थाई रूप ले सकी थी। इसी समय कश्मीरी परंपरा के एक विद्वान शारंगदेव ने अपने अनुवांशिक ज्ञान के आधार पर इस अमर ग्रंथ की रचना की। "संगीत रत्नाकर" के टीकाकार महाराज सिंह भोपाल ने लिखा है कि "शारंगदेव के उदय से पूर्व संपूर्ण भारतीय संगीत पद्धति बिखर चुकी थी। उसे ग्रंथ के रूप में संजोकर शारंगदेव जी ने ही अमर कर दिया अन्यथा जो आज दक्षिण ताल पद्धति व्यवस्थित रूप में हमें देखने को मिलती है जो कि 1500 ई० के लगभग की है वही हमारे लिये दृष्टव्य होती। घोरतम विनाश के बाद भी ताल की जिस पद्धति ने अपने विकसित रूप को बार-बार सँवारा है वही "दक्षिणी शास्त्रीय संगीत" है।

संगीत एक कला है जो मानव हृदय को आनंद विभोर करने वाली सभी कलाओं में अपना सर्वोपरि स्थान रखती है। संगीत कला मानव मन को ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों पर भी अपना प्रभाव छोड़ती है। साधारण रूप में 'कला' शब्द का ताल-विधान की दृष्टि से "ताल के दस प्राणों" में पारिभाषिक अर्थ "मात्रा" लिया जाता है। दो मात्राओं के बीच आठ कलाओं का अवकाश बताया गया हैं व पाँच की एक कला बताई गई है। इस संबंध में परिमाण यह है—

100 कमल-पत्तों में सुई डालने में लगने वाला समय	—	1 क्षण
आठ क्षण	—	1 काष्टा

आठ काष्टा	— 1 निमिष
पाँच निमिष	— 1 कला

उपर्युक्त परिमाण में कला एवं मात्रा के बीच के समयावकाश की साधारण कल्पना की जाती है। मृदंग व तबला वादन में कला का विशिष्ट अर्थ भी लगाया जाता है। वादन करते समय हाथ विविध क्रियायें करता रहता है। इन दोनों हाथों की विविध प्रकार की क्रियायें कला के अंतर्गत मानी जाती हैं। वस्तुतः मृदंग व तबला-वादन में कला का अर्थ मात्रा-संकेत ही समझना उचित होगा।[5]

पृथ्वी का प्रत्येक अंग अपने में एक नवीनता तथा मौलिकता को ग्रहण किये हुए है। यह नूतनता भौगोलिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि है। भाषा का अंतर आने से साहित्य तथा रीति-रिवाज में भेद आ जाता है। इस परिवर्तन से ज्ञात होता है कि पृथ्वी पर होने वाले छोटे-छोटे परिवर्तन समय पाकर एक विशाल रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस परिवर्तन का प्रभाव कला पर भी पड़ता है। कला-परिवर्तन निम्नलिखित बातों से ही–भौगोलिक वातावरण के ऊपर शब्द निर्भर हो जायेंगे। पहाड़ी स्थान का संगीत प्राकृतिक वातावरण को लेकर बनेगा। ऐतिहासिक-युद्ध स्थल का वर्णन रहता है। जिस देश का जैसा इतिहास, वैसा ही वहाँ के व्यक्तियों का स्वभाव होगा।

यह सभी वातावरण गायन व वादन शैलियों को जन्म देते हैं तथा इन्हीं शैलियों से घरानों की उत्पत्ति होती है।

प्राचीन भारत में गायन शैलियों की केवल एक ही पद्धति प्रचलित थी। इसके पश्चात परिवर्तन ने धीरे-धीरे गायन शैलियों को भी परिवर्तित करना प्रारंभ किया। इसका कारण ही केवल यही था कि उत्तरी भारत पर विदेशियों के आक्रमण होने आरंभ हो गये। जहाँ आक्रमण हो वहाँ संगीतज्ञ को रियाज की चिंता न होकर अपने जीवन की फिक्र

5. गोविंद राव राजुरकर – **"संगीत शास्त्र पराग"** 1982 पृ०सं० 70-72

अधिक रहती है। अतः या तो वह उस स्थान को ही छोड़ देता है या कोई अन्य कार्य आरंभ करता है। दक्षिणी भारत पर आक्रमण न होने के कारण वहाँ की कला इन प्रभावों से अछूती रही। आरंभ में यह परिवर्तन बहुत कम रहा परंतु बाद में यह एक विशाल रूप धारण कर गया। वर्तमान समय में भी वहाँ की गायन-शैलियाँ 100 वर्ष पूर्व की है। उनसे हमारे स्वर, नाम, राग इत्यादि भिन्न हो गये हैं उनके गायन को यदि हम "विशुद्ध भारतीय गायन" कहें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। इसीलिये उनकी शैलियाँ Fixed कहलाती है।

उत्तर एवं दक्षिण भारतीय संगीत में अनेक बाते समान भी हैं। ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में ही बाईस श्रुतियों का जन्म उत्तर एवं दक्षिण दोनो संगीत पद्धतियों में हुआ। "कर्नाटक संगीत" का कर्नाटक शब्द तमिल से संबंध रखता है जिसका अर्थ उस भूमि से है जो तीनों ओर से समुद्र से घिरी हो। आर्यों के संगीत से यह संगीत क्रमशः पृथक हो गया। द्रविड़ संस्कृति का अस्तित्व आर्यों के भारत आगमन से भी पूर्व विद्यमान था ऐसा भी कई विद्वानों का मत है। "ईसा से चार हजार वर्ष पूर्व तमिलनाडु के संगीत की एक व्यवस्थित परंपरा थी, ऐसा डा० हैरस प्रसिद्ध शोधकर्ता का कहना है।"[6] दक्षिण के महान ग्रंथ "सिलाप्पादिकारम्" (ईसवी द्वितीय शताब्दी) में अनेकों प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि द्रविड़ संगीत पद्धति पर्याप्त विकसित थी। इसी से आधुनिक कर्नाटक संगीत पद्धति के विकास एवं निर्माण की प्रचुर सामग्री मिली जिसके फलस्वरूप भारत की दो महान संस्कृतियों–आर्य एवं द्रविड़ संस्कृति का स्वस्थ समन्व्य संभव हुआ। इस ग्रंथ में विभिन्न ग्राम एवं ग्रहों के प्रयोग से अपरिचित रागों के निर्माण की पद्धतियाँ दर्शायी गयी हैं, जिन्हें 'पान' कहते थे। यद्यपि प्रचार में केवल सौ राग ही थे परंतु कल्पना शक्ति द्वारा बारह हजार रागों के निर्माण की व्यवस्था उस ग्रंथ में है।[7] शंकराभरण, खरहरप्रिय, तोड़ी, कल्याणी आदि दक्षिण के प्रचलित रागों का स्वरूप तमिल सभ्यता के स्वर्णकाल में ही निर्धारित हो गया था।

---

6. डा० अरुण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** – 1973 – पृ०सं० 164
7. वही – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** – 1973 पृ०सं० 164

दक्षिण की परंपरा में आन्ध्र, तमिल, कन्नड़ तथा केरल इन चारों की संगीतधारा का समन्व्य हुआ है। विभिन्न भाषाओं में होते हुए भी त्यागराज, श्यामशास्त्री, मुट्टूस्वामी, स्वामी तिरुमल, पुरन्दर दास आदि के संगीत में हम दक्षिण की एक ही संगीत धारा का स्वरूप पाते हैं। दक्षिण भारत में संगीत की मूलतः चार धारायें थीं।

1. भक्ति संगीत–

जिसमें नागस्वर और भजन दलों का संगीत था जो मंदिरों में अपना गायन, वादन एवं नृत्य करते थे। यह संगीत कर्नाटक संगीत के कार्यक्रमों का प्रधान संगीत है। यह संगीत राग ताल के नियमों में बद्ध अत्यंत भाव से गाई जाने वाली कृति है। इसमें भावगान का गुणगान तथा पौराणिक कथाओं का उल्लेख होता है।

2. लोक संगीत–

जो विभिन्न स्थानों में अपनी-अपनी रुचि से उत्पन्न एवं विकसित हुआ था।

3. तीसरा वह संगीत था जिसका उपयोग वीर काव्य अथवा गीत काव्य को मंचस्थ करने के लिये किया जाता था।

4. चौथा शास्त्रीय संगीत था जिसमें शास्त्रीयता के आधार पर गायन वादन और नृत्य की शिक्षा दी जाती है।[8]

दक्षिण भारतीय संगीत का प्राचीन काल से ही अत्यंत लयात्मक स्वरुप रहा है। गणित के सिद्धान्तों का जिस सूक्ष्मता से दक्षिण भारतीय तालों में प्रयोग हुआ है उतने सूक्ष्म प्रयोग उत्तर भारतीय संगीत या तालों में उपलब्ध नहीं है। वैसे षट् कलाओं में स्वरों के काल का मूल्यांकन गणित के आधार पर दोनों ही पद्धतियों में होता हैं जैसे–$\frac{1}{2}, \frac{1}{4}, \frac{1}{8}, \frac{1}{10}$ तथा $\frac{1}{32}$ ।

दक्षिण के मूल सप्त तालों के पैंतीस पकार लघु के पंच जाति भेदों के आधार पर

8. डा० अरुण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** – 1973 पृ०सं० 164

गणित द्वारा संभव होते हैं। लघु के पाँच भेद और माने गये हैं—जिनके नाम—दिव्यलघु, सिंहलघु, वर्णलघु, वाघलघु एवं कर्नाटक लघु हैं। जिनका कालमाप क्रमशः 6, 8, 10, 12 तथा 16 मात्राओं का है। इनके आधार पर पैंतीस तालें और संभव है। इन 70 तालों के गति भेदों के अनुसार पाँच-पाँच प्रकारों की प्रत्येक ताल में और मान्यता है। इस प्रकार 70×5=350 ताल संभव हैं।[9]

"संगीत रत्नाकर" में 108 तालों की व्यवस्था है। संगीत रत्नाकर में आदि भारत तथा उस काल में प्रचलित ग्रंथों के आधार पर विशेष ताल अध्याय हैं। इन तालों में अंगों, षटांगों का प्रयोग होता था। प्रथम 5 मार्गीय, 103 ताल देसी नाम से जानी जाती थीं। दक्षिण भारत के पुनरूप जीवित संप्रदाय को सालंग सूट कहते हैं। इस नाम के प्रबन्ध में प्रयुक्त किये हुये 7 ताल प्रयोग में आने लगे उनके नाम निम्न हैं—

1. ध्रुव ताल
2. मठ ताल
3. रुपक ताल
4. झम्प ताल
5. त्रिपुट ताल
6. अठ ताल
7. एक ताल[10]

अतः इन्हीं 7 तालों के प्रत्येक अंग को तिगुना, चौगुना, पंचगुना, छः गुना, नौगुना करके 7 तालों के 35 प्रकार बना दिये गये है। इस व्यवस्था में भी एक संकट आया। वह यह कि 3, 5, 7, 9 से गुणा करने पर ताल के विस्तार में अर्द्धमात्रा के छन्द भी बनने लगे।

9. डा० अरुण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** 1973 पृ०सं० 166

10. ले० वसंत जी – **संगीत विशारद (22वाँ संस्करण)** – अप्रैल 1998 पृ०सं० 64

इसलिये इस व्यवस्था में भी परिवर्तन किया तथा, केवल लघु की मात्रायें जाति के अनुसार अपना रूप ले लेंगी, यही व्यवस्था संपूर्ण दक्षिण भारत के ताल जगत में सर्वमान्य है। आज दक्षिण भारत में जो ताल पद्धति प्रचलित है उसके भी कुछ मूल तत्व हैं जिनके ऊपर वह आधारित है तथा ताल के प्रस्तार क्रम में वे ही क्रियाशील रहते हैं।

दक्षिण भारतीय संगीत में प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में जैसा कि बताया जा चुका है 108 षडंग ताल उपरोक्त 350 त्र्यंग (अणुद्रुत, द्रुतम व लघु अंग वाले) ताल शरभनंदन सदृश षोडशांग वाले ताल, देशादि, मध्यादि, ध्रुव, रुपक एवं चापु ताल एवं असंख्य लोक धुनों के लयात्मक स्वरूप उपलब्ध हैं।[11]

चापु ताल के 4 प्रकारों में भी गणित के निम्न सैद्धांतिक प्रयोग उल्लेखनीय हैं–

$1+2=3$ त्रिस्त्र चापु (जाति)

$2+3=5$ खण्ड चापु (जाति)

$3+4=7$ मिश्र चापु (जाति)

$4+5=9$ संकीर्ण चापु (जाति)

दक्षिण के सप्त ताल गीत में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि यदि सात संगीतज्ञ पृथक रूप से प्रत्येक ताल की मात्राओं को गिनते रहें तो पूर्ण आवर्तनों में ही समाप्ति होती है। प्रो० साम्बमूर्ति ने नाटराग के ''गान-विद्या धुरंधर'' गीत का इस संदर्भ में उल्लेख किया है जिसकी दीर्घता 420 अक्षर कालों की है। इस गीत में ध्रुवताल चतुस्त्र जाति, मठताल चतुस्त्र जाति, रूपक ताल चतुरस्त्र जाति, त्रिपुट ताल त्रिस्त्र जाति, अठताल खण्ड जाति व एकताल चतुरस्त्र जाति में क्रमशः 30, 42, 72, 42, 60, 30 व 105 आवर्त होती है।[12] पल्लवियों के अनुमोल एवं प्रतिलोम रूपों के अनुमोल एवं प्रतिलोम रूप में अक्षर कालों की

---

11. डा० अरुण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** 1973 पृ०सं० 166
12. वही – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** 1973 पृ०सं० 166

विषम संख्या रहती है एवं 13 मात्राओं के आवर्त को 6½ व 3½ अक्षर कालों में अनुलोम की स्थिति में गाना या ताल वाद्यों पर उसकी संगति करना कठिन होता है। इन प्रयोगों में भी सूक्ष्म आंकिक काल विभाजन दक्षिण भारतीय लय स्वरूपों में विद्यमान है।[13]

संगीत रत्नाकर में आदि भरत तथा उस काल में प्रचलित और ग्रंथों के आधार पर विशद तालाध्याय हैं जिसमें 108 तालों का संप्रदाय भी नष्ट हो गया। इन 108 तालों की पद्धति में सभी अंगों का प्रयोग होता था इनमें से प्रथम पाँच ताल मार्गीय तालों के नाम से जानी जाती हैं। 103 तालें देशी तालों के नाम से। संगीत की दो विधायें थीं एक मार्गीय तथा दूसरी देशीय।

मार्गीय ताल :

ये ताल निम्न प्रकार से जानी जाती हैं—

1.	चच्चतपुट	–	S I I S' (2 2 1 3)	= 8
2.	चाचपुट	–	S I I S (2 1 1 2)	= 6
3.	षट्पितापुत्रक	–	S' I S S I S' (3 1 2 2 1 3)	= 12
4.	सम्पकवेष्टा	–	S' S S S S' (3 2 2 2 3)	= 12
5.	उद्धवट्टम्	–	S S S (2 2 2)	= 6

---

13. डा० अरुण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** 1973 पृ०सं० 166

ये तालें अपने में छंद जनन की असीम शक्ति को समाहित किये हैं। संभवतः इसीलिये इन तालों को मार्गीय तालों के नाम से पुकारा जाता था। द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक छंद ही संपूर्ण छंदों को निर्मित करने की क्षमता से संपन्न हैं। इन पाँचो तालों का प्रस्तार 3,3 तरह से करने का विधान था। द्विकल, त्रयष्कल, चतुष्कल करने का विधान था। इन पाँचों तालों के अतिरिक्त 103 ताले शेष हैं। जिनके नाम प्रायः सभी पुस्तकों में जिनमें दक्षिणी ताल पद्धति के बारे में दिये गये हैं।

वर्तमान समय में दक्षिण भारत की जो ताल पद्धति आज प्रचलित है उसके कुछ मूल तत्व हैं जो सदा क्रियाशील रहते हैं—उनको निम्न नामों से प्रकारा जाता है—[14]

1. काल प्रमाण
2. अंग
3. जाति
4. विसर्जितम

"काल प्रमाण" पद्धति के अन्तर्गत संगीत में लगने वाले समय को नापने के लिये दो इकाइयाँ प्रयोग में लाई जाती हैं जो क्रमशः अक्षरकाल तथा मात्राकाल के नाम से जानी जाती हैं। आधुनिक ताल पद्धति की 35 तालों में काल का प्रयोग प्राचीन ढंग से न मानकर केवल मात्रा को ही माना है। इस प्रकार अणुद्रुत एक मात्रा, द्रुत दो मात्रा, लघु चार मात्रा, गुरु आठ, प्लुत बारह तथा काकपद 16 मात्रा हैं।

प्रथम तीन अंगों का प्रयोग दक्षिण तालों में जाति भेद के अनुसार 35 तालें बनाने में होता है। दक्षिणी पद्धति में विशेषकर छह प्रकार के चिन्हों का प्रयोग करके ताल के विभिन्न भागों की मात्राओं को दर्शाते हैं इन छः चिन्हों को षडांग कहते हैं।[15]

---

14. मधुकर गणेश गोडबोले – **तबला शास्त्र** – 1991 पृ०सं० 105
15. स्वतंत्र शर्मा – **संगीत (पत्रिका)** – जन० फरवरी 1993 पृ०सं० 185

अंग–

दक्षिण में ताल की रचना को शास्त्रीय रूप में लिखने के लिये अंगों (चिन्ह) को ही आधार माना गया है। प्रत्येक अंग का एक विभाग माना जाता है। अतः एक ताल में जितने भी अंग होते हैं उतने ही विभाग माने जाते हैं। जिस प्रकार इन अंगों को अणुद्रुत, द्रुत, विराम लघु, लघुविराम तथा अंतिम तीन अंगों को गुरु, प्लुत, तथा काकपद नाम दिया गया है इनमें से विराम का प्रयोग दो अंगों के साथ किया गया है। लघु व द्रुत, काल के प्रयोग के बाद सुखभाव के लिये विश्रांति के साथ समाप्ति के लिये आता है। यह नियम 'तालसमुद्र' नामक तमिल ग्रंथ में दिया गया है। ''संगीतदर्पण'' में भी इसका विवरण है। वर्तमान समय में छः 'अंग प्रचार में पाये जाते हैं–जिनको 'षडांग' के नाम से जाना जाता है। उन अंगों में प्रचलित ताल पद्धति के अनुसार लघु का विशेष महत्व है। लघु अंग का मात्राकाल जाति के अनुसार बदल जाने से एक ताल अनेकों रूप ले लेती है।

जाति–

लघु को छोड़कर अन्य पाँच अंगों की मात्रा की संख्या सदैव क्रमशः 1, 2, 8, 12 और 16 रहती है–इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। दक्षिण ताल पद्धति के इस तत्वानुसार ताल के विभागों का वजन बदल जाता है जिसके कारण ताल का छंद भी परिवर्तित हो जाता है।[16] ये जातियाँ पाँच हैं तथा इन्हीं को चतस्त्र, त्रिस्त्र, मिश्र, खंड, सकीर्ण नाम दिया गया है–तथा उन्हें क्रमशः 4, 3, 7, 5 तथा 9 मात्रा की माना गया है। इस पद्धति में लघु अंग के साथ जाति का विशेष महत्व है। ताल में जाति परिवर्तित होने पर ताल के केवल लघु अंग पर ही प्रभाव पड़ता है। लघु जाति के अनुसार चतस्त्र में 4, तिस्त्र में 3 मिश्र में 7 खंड में 5 तथा संकीर्ण में 9 मात्रा होती हैं। इस क्रिया को ही जाति भेद कहते हैं। जैसा कि पूर्व विदित है जाति की संख्या 5 हैं। अतः लघु की मात्रायें पाँचों जाति के अनुरुप जब परिवर्तित होती हैं तो इस परिवर्तन के कारण एक ताल 5 प्रकार की हो जाती है इसे जाति

---

16. मधुकर गणेश गोडबोले – **तबला शास्त्र** 1991 पृ०सं० 108

कहा जाता है। इसी जाति भेद के अनुसार सप्तसूल तालादि से 35 तालों की रचना की जाती है। लघु सभी तालों में प्रयुक्त होता है। अणुद्रुत का प्रयोग केवल झपताल में हुआ है तथा द्रुत केवल एकताल में नहीं है।[17]

विसर्जितम :

दक्षिण में 'सशब्द' व 'निःशब्द' के लिये क्रमशः 'घातम्' व 'विसर्जितम्' संज्ञायें दी गयी हैं अर्थात ताल में हाथ से ताली देने को 'घातम्' व ताल में जिस स्थान पर ताली न देकर हाथ द्वारा एक ओर करके संकेत दिया जाता है अथवा ताल में 'खाली' को दर्शाया जाता है उसे दक्षिण ताल पद्धति में विसर्जितम कहा जाता है।[18] उत्तर भारतीय संगीत में जो स्थान 'खाली' को प्राप्त है वही स्थान दक्षिणी ताल पद्धति में 'विसर्जितम' का माना गया है, अंतर केवल इतना है कि विसर्जितम विभाग के बीच की मात्राओं को स्पष्ट करने के लिये किसी विशेष स्थान पर प्रयोग किया जाता है। उसका कोई अलग विभाग नहीं होता है। विसर्जितम को भी इस पद्धति में तीन प्रकार से दर्शाया जाता है।

1. कृषटा
2. सर्पिणी
3. पतांग

1. कृषटा :

जब हाथ को बाँयी ओर झटके के द्वारा झुकाकर मात्रा स्पष्ट की जाये वह कृषटा कहलाती है।

2. सर्पिणी :

जब हाथ को दाहिनी ओर ले जाकर ताल का दुर्बल पक्ष अर्थात् खाली स्पष्ट करते हैं तो उसे सर्पिणी कहते हैं।

---

17. मधुकर गणेश गोडबोले – **तबला शास्त्र** 1991 पृ०सं० 109
18. स्वतंत्र शर्मा – **संगीत (पत्रिका)** जन० फरवरी 1993 पृ०सं० 187

3. पतांग :

जब हाथ को ऊपर की ओर ले जाकर खाली का प्रदर्शन किया जाये तो उसे 'पतांग' कहा जाता है।

इस प्रकार दक्षिणी ताल पद्धति में प्रत्येक ताल के अन्तर्गत लघु का प्रयोग आवश्यक है। ध्रुव, मठ तथा अठ तालों में लघु एक से अधिक पाये जाते हैं।

दक्षिण अथवा कर्नाटक-ताल पद्धति की जिन सात तालों के नाम पहले भी बताये गये हैं उनमें केवल अणुद्रुत और लघु इन्हीं तीन चिन्हों का प्रयोग किया जाता है शेष तीन चिन्हों (गुरु, प्लुत तथा काकपद) का प्रयोग इनमें नहीं किया जाता। इन तीन चिन्हों का प्रयोग दक्षिण की उन 108 तालों में होता है जो कि उनके नृत्य में प्रयुक्त होती हैं।[19]

'पंचजाति भेद' के अनुसार इन सात तालों से पैंतीस तालों को बनाया अथवा निर्माण किया जाता है–उनका निम्नांकित तालिका द्वारा रूप अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। ध्यान देने योग्य बात यह आवश्यक है कि इस जाति भेद के अनुसार, नई तालों के बनने में केवल लघु की मात्रायें ही बदलती हैं। शेष अंगों का काल ज्यों का त्यों रहता है।[20]

कनार्टक-तालों के पंच जाति भेदानुसार 35 प्रकार

ताल	जाति भेद	ताल चिन्ह	जाति भेद से मात्रा विभाग	कुल मात्रायें
ध्रुवताल	चतुरश्र	I4 0 I4 I4	4 + 2 + 4 + 4	14
	त्र्यश्र	I3 0 I3 I3	3 + 2 + 3 + 3	11
	मिश्र	I7 0 I7 I7	7 + 2 + 7 + 7	23
	खंड	I5 0 I5 I5	5 + 2 + 5 + 5	17
	संकीर्ण	I9 0 I9 I9	9 + 2 + 9 + 9	29

19. बसंत – **संगीत विशारद** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 65
20. बसंत – **संगीत विशारद** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 65

ताल	जाति भेद	ताल चिन्ह	जाति भेद से मात्रा विभाग	कुल मात्रायें
मठताल	चतुरश्र	I4 0 I4	4 + 2 + 4	10
	त्र्यश्र	I3 0 I3	3 + 2 + 3	08
	मिश्र	I7 0 I7	7 + 2 + 7	16
	खंड	I5 0 I5	5 + 2 + 5	12
	संकीर्ण	I9 0 I9	9 + 2 + 9	20
रुपक ताल	चतुरश्र	I4 0	4 + 2	06
	त्र्यश्र	I3 0	3 + 2	05
	मिश्र	I7 0	7 + 2	09
	खंड	I5 0	5 + 2	07
	संकीर्ण	I9 0	9 + 2	11
झंपताल	चतुरश्र	I4 ‿ 0	4 + 1 + 2	07
	त्र्यश्र	I3 ‿ 0	3 + 1 + 2	06
	मिश्र	I7 ‿ 0	7 + 1 + 2	10
	खंड	I5 ‿ 0	5 + 1 + 2	08
	संकीर्ण	I9 ‿ 0	9 + 1 + 2	12
त्रिपुट ताल	चतुरश्र	I4 0 0	4 + 2 + 2	08
	त्र्यश्र	I3 0 0	3 + 2 + 2	07
	मिश्र	I7 0 0	7 + 2 + 2	11
	खंड	I5 0 0	5 + 2 + 2	09
	संकीर्ण	I9 0 0	9 + 2 + 2	13[21]
अठ ताल	चतुरश्र	I4 I4 0 0	4 + 4 + 2 + 2	12
	त्र्यश्र	I3 I3 0 0	3 + 3 + 2 + 2	10
	मिश्र	I7 I7 0 0	7 + 7 + 2 + 2	18
	खंड	I5 I5 0 0	5 + 5 + 2 + 2	14
	संकीर्ण	I9 I9 0 0	9 + 9 + 2 + 2	22
एक ताल	चतुरश्र	I4	4	04
	त्र्यश्र	I3	3	03
	मिश्र	I7	7	07
	खंड	I5	5	05
	संकीर्ण	I9	9	09[22]

21. बसंत – **संगीत विशारद** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 66

22. वही – **संगीत विशारद** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 66

इस प्रकार पंच जाति भेद के अनुसार सात तालों को पैंतीस तालों में परिवर्तित किया जाता है। इसी प्रकार कनार्टक ताल पद्धति में 'पंच गति' भेद के अनुसार इन सभी तालों के पाँच-2 भेद और भी होते हैं अर्थात प्रत्येक ताल को पाँच-2 रूप देकर 35 तालों से 35x5=175 तालों का रूप दिया जाता है। पंचगति भेदानुसार एक ताल के पच्चीस प्रकार कैसे तैयार किये जाते हैं इसके लिये केवल 'अठ ताल' के पच्चीस प्रकार निम्नलिखित हैं—

पंचगति भेदानुसार अठ ताल के पच्चीस प्रकार

जाति	चिन्ह	मात्रायें	गति-भेद	गति-भेद के प्रकार से कुद मात्रायें
			चतुरश्र	12 x 4 = 48
			त्र्यश्र	12 x 3 = 36
चतुरश्र	I4 I 400	12	मिश्र	12 x 7 = 84
			खंड	12 x 5 = 60
			संकीर्ण	12 x 9 = 108[23]
			चतुरश्र	10 x 4 = 40
			त्र्यश्र	10 x 3 = 30
त्र्यश्र	I3 I 300	12	मिश्र	10 x 7 = 70
			खंड	10 x 5 = 50
			संकीर्ण	10 x 9 = 90
			चतुरश्र	18 x 4 = 72
			त्र्यश्र	18 x 3 = 54
मिश्र	I7 I 700	18	मिश्र	18 x 7 = 126
			खंड	18 x 5 = 90
			संकीर्ण	18 x 9 = 162
			चतुरश्र	14 x 4 = 56
			त्र्यश्र	14 x 3 = 42
खंड	I5 I 500	14	मिश्र	14 x 7 = 98
			खंड	14 x 5 = 70
			संकीर्ण	14 x 9 = 126

23. बसंत जी – **संगीत विशारद** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 66-67

	चतुरश्र	22 x 4 = 88
	त्र्यश्र	22 x 3 = 66
संकीर्ण । 9 । 900 22	मिश्र	22 x 7 = 154
	खंड	22 x 5 = 110
	संकीर्ण	22 x 9 = 198 [24]

ज्ञातव्य–इसी प्रकार शेष छह तालों से भी पच्चीस-पच्चीस प्रकार उत्पन्न करके तालों के कुल रूप 175 तैयार किये जाते हैं।[25]

ऊपर के नक्शे में चिन्ह वाले विभाग में ताल-चिन्ह लघु के आगे जो अंक दर्शाये गये हैं उनका अर्थ यह है कि लघु यहाँ पर इतनी ही मात्रा का माना गया है। उदाहरण के लिये–लघु का चिन्ह यदि '।' है तो जहाँ पर चतस्त्र जाति में लघु दर्शाया जायेगा, वहाँ '। 4' इस प्रकार लिखेंगे। त्र्यश्र जाति में '। 6' इस प्रकार लिखेंगे। मिश्र जाति में लघु को '। 7' इस प्रकार लिखेंगे तथा खंड जाति में लघु को '5' इस प्रकार दिखाया जायेगा एवं संकीर्ण जाति में लघु को '। 9' इस प्रकार लिखेंगे। लघु के चिन्ह के आगे दिये गये विभिन्न अंकों द्वारा सरलता से यह मालूम हो जाता है कि यहाँ पर लघु की कितनी मात्रायें मानी गयी हैं; क्योंकि लघु का मात्रा काल बदलने से ही पाँच जाति-भेदों से ये तालें परिवर्तित होती हैं। यहाँ इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि ''पंच जाति-भेद'' में केवल 'लघु' की मात्रायें बदलती हैं, जबकि 'पंचजाति गति-भेद' में सारे अंगों की मात्रायें बदल जाती हैं।[26]

कर्नाटक ताल पद्धति में जिस ताल में जितने चिन्ह होंगे, उसमें उतनी ही ताली (थाप) या भरी तालें होंगी, अर्थात एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि इस पद्धति में 'खाली' का कोई स्थान नहीं होता तथा इसमें सात तालें ही प्रमुख रुप से होती हैं जिनको 'जाति भेद' तथा 'गति भेद' द्वारा परिवर्तित करके उन्हें अनेक रुप दिये जाते हैं।

---

24. बसंत – **संगीत विशारद** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 68
25. वही – **संगीत विशारद** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 68
26. वही – **संगीत विशारद** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 68

उत्तर-भारत व दक्षिण भारत के संगीत की तुलना–

यह सर्वविदित है कि दक्षिण के संगीत का अभी वही रुप चला आ रहा है जो आदि काल में था। चाहे वह रुप शास्त्रीय गायन का हो अथवा वादन का। गायन क्षेत्र में वहाँ वर्तमान समय में भी अंतिम श्रुति पर ही स्वर मानते हैं, जबकि उत्तर-भारत में भातखंडे जी के बाद पहली श्रुति पर स्वर माना जाने लगा।[27] दक्षिण में पंचम को "चल स्वर" मानते हैं। मध्यम-ग्राम में पंचम एक श्रुति उतरा हुआ रहता है, जबकि उत्तर-भारत में पंचम स्वर को "अचल स्वर" माना है। दक्षिण में विवादी स्वर का प्रयोग नहीं होता तथा वादी स्वर के दूसरे ही रुप को विवादी मानते हैं; जैसे-यदि किसी राग में 'ग' स्वर वादी है तो कोमल 'ग' विवादी होगा। उत्तर-भारत में जिस स्वर को चाहा, विवादी मान लिया; उदाहरण के लिये जैसे–केदार राग में मध्यम स्वर वादी है तो कोमल 'नि' को विवादी मान लिया। इध ार तर्क यह प्रस्तुत करते हैं कि विवादी स्वर का कुशलता-पूर्वक प्रयोग करने से राग की सुंदरता बढ़ती है। उत्तर भारत में वर्तमान समय में प्रथम श्रुति पर स्वर मानते हैं, जबकि आदि-काल से अंतिम श्रुति पर स्वर माना गया है। दक्षिण में जाति के दस लक्षणों में से विशेष रूप से अंश स्वर के नियमों का कठोरता से पालन होता है तथा शेष नौ लक्षणों के पालन करने का भी प्रयास करते हैं, जबकि उत्तर भारत में उपर्युक्त नियमों का कोई पालन नहीं किया जाता। दक्षिण भारत में आज भी बहत्तर ठाठों का प्रचलन है। उत्तर-भारत में भातखंडे जी ने दक्षिण के बहत्तर ठाठों में से दस ठाठों के नाम तो चुने किंतु उनके वो स्वर नहीं है। इस प्रकार यदि यह भी कहा जाये कि उत्तर-भारत में प्रचलित दस ठाठ (भैरव, भैरवी, बिलावल, तोड़ी, आसावरी, काफी, मारवा, पूर्वी, कल्याण तथा खमाज) भातखंडे जी द्वारा प्रचलित हैं तो अतिश्योक्ति नहीं होगी।[28] संपूर्ण, औडव तथा षाडव के सम्मिश्रण से ही आज नौ जातियाँ बनायी गयी है तथा इन नौ जातियों के आधार पर ही एक ठाठ से 484 राग उत्पन्न होते हैं। इसीलिये जाति को 'राग-माता' की संज्ञा दी गयी है। यह नियम

---

27. स्वामी राम – **संगीत (पत्रिका)** मार्च 1988 पृ०सं० 16

28. वही – **संगीत (पत्रिका)** मार्च 1988 पृ०सं० 16

उत्तर तथा दक्षिण-भारत दोनों ही स्थानों पर लागू होते हैं। दक्षिण भारत में नई पुस्तकें लिखने का प्रचलन नहीं है जबकि उत्तर भारत में 'संगीत-प्रभाकर' अथवा संगीत-विशारद' करने के बाद ही व्यक्ति पुस्तक लिखने का प्रयास करता है। दक्षिण में अधिकाँश लोग गुरु-शिष्य-परंपरा के अंतर्गत ही गायन-वादन एवं नृत्य की शिक्षा ग्रहण करते हैं।[29] जबकि उत्तर-भारत में गुरु-शिष्य प्रचलन बहुत कम हैं।

इसी प्रकार नृत्य के क्षेत्र में भी उत्तर-भारत व दक्षिण-भारत में काफी अंतर पाया जाता है। दक्षिण का नृत्य 'भरत नाट्यम' भगवान की भक्ति से ओत-प्रोत है। महर्षि भरत ने शंकर से नृत्य सीखकर बाद में उस नृत्य का प्रचार किया, इस कारण यह नृत्य भरत की ही देन है और उन्हीं के नाम पर इसे 'भरतनाट्यम्' की उपाधि मिली।[30] इसमें शिव-ताण्डव का विशेष अंग है। इस नृत्य में नृत्य के साथ-2 अभिनय की प्रधानता रहती है। दक्षिण भारतीय मंदिरों में देवाराधना के लिये प्रस्तुत किये जाने वाले इस नृत्य को शास्त्रीय क्रम के अनुसार प्रयोग में लाया जाता है, जिसमें उसकी गति के अनुसार जातिस्वरम्, शब्दम्, वर्णम तथा तिल्लाना इत्यादि का प्रयोग होता है। संगीत के समस्त अंगों और उपांगों का प्रयोग इसमें विधिवत् किया जाता है। प्रारंभ में 'भरतनाट्यम' तमिलनाडु प्रान्त में केवल देवदासियों द्वारा मंदिर की चार दीवारी के अंदर तक सीमित था तथा उसे 'देव दासी अट्टम्' कहा जाता था।[31] अब वह पुरुष तथा स्त्रियों द्वारा सर्वत्र प्रचार में है, जिसमें 'नाट्य-शास्त्र' के आधार पर करण, चारी, अंगहार तथा मंडलों का उत्कृष्ट प्रयोग देखने को मिलता है। इसी प्रकार दक्षिण भारत के केरल प्रदेश का एक मुख्य नृत्य 'कथाकलि'' है। 'कथा' का अर्थ है—कहानी, और कली का अर्थ है खेल। किसी कथा को, पात्रों के बड़े-2 मुखोटे लगाकर, संगीतमय अभिव्यक्ति के साथ प्रस्तुत करने को 'कथाकलि' नाम से पुकारा जाता है। सत्रहवीं शताब्दी में दक्षिण के नर्तक ''केरल वर्मा'' ने कथाकलि के वर्तमान स्वरूप को जन्म दिया। इसमें प्राचीन कथाओं की प्रधानता होती है। ''कुचिपुड़ी नृत्य'' आंध्रप्रदेश के

---

29. स्वामी राम – **संगीत (पत्रिका)** मार्च 1988 पृ०सं० 18
30. स्वामी राम – **संगीत (पत्रिका)** मार्च 1988 पृ०सं० 18
31. बसंत – **''संगीत विशारद''** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 672

कुचिपुड़ी नामक गाँव में भागवतार ब्राह्मणों द्वारा इस नृत्य का पोषण हुआ। यह नृत्य वैष्णव भक्ति भावना से ओत-प्रोत होता है। हिन्दू कथाओं और धर्म को जीवित रखने की दृष्टिसे इस शैली को भागवतारों ने ही जीवित रखा। मंदिर व दरबार दोनों में समान रूप से प्रचलित रहकर इस नृत्य ने लोक-जीवन के मांगलिक उत्सवों में भी अपना लोकप्रिय स्थान बना लिया है। ''ओड़िसी'' या उड़ीसी नृत्य भी दक्षिण-पूर्व का एक प्रसिद्ध नृत्य है। इसकी परंपरा भी ''भारत-नाट्यम्'' नृत्य की तरह ही प्राचीन है। बुद्धकालीन सहजयान और वज्रयान शाखाओं की सौंदर्य-प्रधान साधना से 'उड़ीसी' नृत्य का जन्म हुआ। यह नृत्य भी सातवीं शताब्दी में भगवान को समर्पित महरी परंपरा ने ईश्वर-आराधना के लिये योग-तन्त्र से संबंधित अंग-मुद्राओं का समावेश करके लास्य-प्रधान नृत्य-शैली का सूत्रपात किया, जो सन् 1950 से विशेष प्रकाश में आई। इस नृत्य में भरत-नाट्यम व कत्थक का मिला-जुला स्वरूप दिखाई देता है। बौद्ध, शैव, वैष्णव, ब्राह्मण तथा शाक्त संस्कारों से मंडित होकर यह नृत्य अत्यंत मनोहारी एवं श्रृंगार-रस प्रधान नृत्य-शैलियों में अपना प्रमुख स्थान रखता है। इसमें कवि जयदेव की अष्टपदी का गायन प्रमुखता से किया जाता है।[32] 'ओड़िसी' नृत्य में ताण्डव-प्रधान तत्वों का मिश्रण होने से यह लास्य-ताण्डव के रूप में काफी आकर्षक बन गया है।

''मोहिनी अट्टम्'' उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ट्रावनकोर के महाराजा स्वाति तिरुनाल के द्वारा मोहिनी अट्टम नृत्य-विधा विशेष प्रकाश में आई। केरल प्रदेश के इस नृत्य में दरबारी गीत-संगीत की प्रधानता रहती है, जिसमें भरतनाट्यम् और कथकलि नृत्य-शैलियों का सम्मिश्रण है। यदि भरतनाट्यम तथा उड़ीसी नृत्य शैलियाँ भक्ति-प्रधान हैं तो मोहिनी अट्टम श्रृंगार-प्रधान। भगवान विष्णु के मोहिनी रूप के प्रतीक स्वरुप मोहिनी-अट्टम् मलयाली कला को जीवित रखने वाली नृत्य-शैली है।[33]

निष्कर्ष यही निकलता है कि दक्षिण के सभी नृत्य भक्ति-भाव से परिपूर्ण अथवा

---

32. बसंत – **''संगीत विशारद''** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 675-676

33. वही – पृ०सं० 676

राज-दरबारों में किये जाने वाले एवं कथाओं व धर्म को जीवित रखने में सक्षम हैं। मंदिर तथा दरबार दोनों में समान रूप से प्रचलित होकर ये नृत्य काफी लोकप्रिय रहे।

उत्तर भारत का प्रमुख नृत्य कत्थक है। विदेशी आक्रमणों के कारण यहाँ की संस्कृति में अनेक मिश्रण हुये। इसीलिये अनेक प्रकार की वेशभूषा, विविध प्रकार के व्यंजन तथा विविध प्रकार की कलाओं ने यहाँ जन्म लिया। कथा का गायन करने वाले कथक कहलाये जिन्होंने 'नटवरी नृत्य' नाम से एक ऐसी शैली को जन्म दिया, जिसमें भावप्रधान और चमत्कार-प्रधान तत्वों का समावेश था। शास्त्रीय आधार पर कत्थक में गत, तोड़े, नायक-नायिका-भेद ओर ततकार इत्यादि तथा लोकरंजन की दृष्टि से एक या अनेक घुँघरुओं की आवाज, ताल-वादक के साथ प्रतिस्पर्धा और ब्रज की रासलीला के कुछ तत्वों का समावेश मिलता है।

इसी प्रकार पंजाब के प्रसिद्ध नृत्य भांगड़ा व गिद्धा हैं, जो कि पंजाबी लोग बैसाखी त्यौहार पर व अन्य उत्सवों पर लुंगी कुर्ता व जैकेट पहनकर बड़े ही जोर शोर से करते हैं। इसी प्रकार इनका ''झूमर नृत्य'' भी एक काफी प्रसिद्ध नृत्य है। पंजाब के ही अन्य नृत्य झूमर, लूढ़ी, कुल्लूघाटी-नारी, पदरागी-फेटीनारी, दोहरी, बुरौहरी ठाकुरी तिणकी, चाइल, उजगजमा, गढ़गढ़कर आदि अनेक नृत्य हैं।[34]

कश्मीर भी उत्तर भारत का एक मुख्य नगर हैं यहाँ पर भी सुंदर वेशभूषा में नृत्य किये जाते हैं। यहाँ के मुख्य नृत्य रोफ तथा बचनगमा हैं जो यहाँ पर विशेष रूप से उत्सवों पर किये जाते हैं।

गुजरात का 'गरबा-नृत्य' अपना विशेष स्थान रखता है। आज का सुप्रचलित गुजराती गरबा नृत्य अनेक संस्कृत ग्रंथों के प्रमाणिक नृत्य-शैलियों में से एक मुख्य है। यह नृत्य भी धार्मिक देवी ''दुर्गा जी'' की पूजा करते हुये एक मिट्टी के पात्र में दीपक जलाकर

---

34. बसंत – **''संगीत विशारद''** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 563

किया जाता है।[35] इन नृत्यों के और भी रूप हैं जो मंजीरा, मटकी, कापणी, गरबी स्वास्तिकरास, हलेसा, तथा रास के नाम से जाने जाते हैं।

"बिहार" के अनेक प्रकार के नृत्य हैं जो तरह-2 की गीत शैली में किये जाते हैं। "रामलीला" वहाँ का मुख्य आकर्षण है। इसके अतिरिक्त कीर्तनियाँ, कुंजवासी भगत, पूजा, आरती, वंशीलीला, कदमलीला, नागलीला, करमा, नटवा आदि अनेक नृत्य किये जाते हैं।

उत्तर-प्रदेश के और भी अनेक प्रसिद्ध नृत्य हैं जो कि पांडव, घड़ियाला, नागरजा, रासलीला, तालरासक, दंडरासक, कजरी, मंडलरासक, होली, डण्डा (चट्टा) दीवाली, जद्धा इत्यादि हैं। ये सभी नृत्य या तो धार्मिक पर्वों पर किये जाने वाले हैं अन्यथा प्राचीन कथाओं को उजागर करने हेतु प्रचलित हैं।

"राजस्थान" भी तरह-2 नृत्यों के लिये काफी प्रसिद्ध है। तरह-2 की वेश-भूषायें धारण करके यहाँ पर अनेकों प्रकार के नृत्य किये जाते हैं। इन नृत्यों को अलग-2 नामों से जाना जाता है जैसे झूमर नृत्य, डांडिया, रसिया, तेरा-ताली कच्छी-घोड़ी, घूमर, वालर, ढोल, गौरी मटका, कालबेलिया इत्यादि। ये नृत्य भी धार्मिक उत्सवों पर किये जाने वाले नृत्य हैं।[36]

कहने का अर्थ है कि दक्षिण हो या उत्तर भारत, नृत्यों के जितने रूप यहाँ देखने को मिलते है शायद ही अन्य किसी स्थान पर मिलें। दक्षिण भारत में भी अनेकों नृत्य हैं जो कि लोकनृत्यों के नाम से जाने जाते हैं तथा तरह-2 के परिधानों को ग्रहण करके उनका प्रदर्शन किया जाता है। इसी प्रकार उत्तर-भारत भी लोकनृत्यों में दक्षिण से पीछे नहीं हैं। किंतु ध्यान देने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि दक्षिण-भारत के नृत्य अधिकतर शास्त्रीय संगीत में परिलक्षित हैं। मुख्य नृत्य जैसे-भरतनाट्यम, कुचिपड़ी, उड़ीसी, मोहिनीअट्टम आदि। ये सभी शास्त्रीय संगीत पर आधारित हैं तथा ताल के अनेक रूप इनमें समावेशित

---

35. श्री सत्य – **संगीत (पत्रिका)** जून 1959 पृ०सं० 27-28
36. बसंत जी – **"संगीत विशारद"** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 565

हैं। अतः हम कह सकते हैं कि दक्षिण-भारत शास्त्रीय नृत्यों से परिपूर्ण है। इसके विपरीत उत्तर भारत में कत्थक नृत्य ही शास्त्रीय संगीत पर आधारित है तथा अन्य सभी नृत्य लोक-नृत्यों की श्रेणी में आते हैं तथा ये नृत्य करने में भी उतने कठिन नहीं पड़ते जितने कि शास्त्रीय नृत्य। इसके अतिरिक्त ये नृत्य अधिकतर सामूहिक रूप से किये जाने वाले नृत्य हैं तथा देखने में व समझने में सरल पड़ते हैं जबकि शास्त्रीय नृत्यों को शास्त्रीय संगीत का ज्ञानी अधिक अच्छी तरह से समझ सकता है।

कत्थक नृत्य के क्षेत्र में जयपुर, लखनऊ और बनारस के घराने प्रसिद्ध हैं।[37] कलाकारों की भी इस क्षेत्र में कोई कमी नहीं है। इस नृत्य के कलाकारों में अच्छन महाराज, लच्छू महाराज, शंभू महाराज, दुर्गा प्रसाद, सुंदर प्रसाद, गौरी शंकर, बिरजू महाराज, सितारा, रोशनकुमारी, गोपीकृष्ण, हजारी प्रसाद, प्रेरणा श्रीमाली, वेरोनिक अजान, मालविका मित्रां, नलिनी व कमलिनी, सास्वती सेन, उर्मिलानागर, भास्वती मिश्रा, रानीकर्णा, रोहिनी भाटे दमयन्ती जोशी, कुमुदिनी लखिया, राममोहन तथा दुर्गालाल जी के नाम उल्लेखनीय हैं।[38]

इसी प्रकार दक्षिण-भारत तथा उत्तर-भारतीय संगीत में लय-ताल का क्षेत्र भी एक दूसरे से विपरीत दिखाई देता है। भारत में वैदिक काल के पूर्व से ही संगीत की परंपरा चली आ रही है। संगीत एक क्रियात्मक ज्ञान है। वह परंपरा से प्राप्त होता हैं यही कारण है कि उसका मौखिक साहित्य अत्यंत विशाल होते हुये भी लिखित साहित्य अत्यंत विरल है। भारतीय संगीत पाश्चात्य संगीत की तरह लय-प्रधान नहीं, बल्कि ताल प्रधान है। इसके बावजूद भारतीय तालों का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला कारण यह कि भारत में इस्लाम के आक्रमण से यहाँ की कला-संस्कृति अक्षुण्ण नहीं रह सकी। दूसरे, मध्य-युग का संगीत अधिकांशतया अशिक्षित कलाकारों के पास रक्षित रहा। इसी कारण संगीत के इतिहास-लेखक को कपोल कल्पित बातों और किवंदतियों पर आश्रित रहना पड़ता है। आज भी ओर विशेषकर तालांग के प्रमाणिक इतिहास-ग्रंथों की कमी है।[39]

---

37. बसंत – **''संगीत विशारद''** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 674
38. बसंत – **''संगीत विशारद''** (22वाँ संस्करण) अप्रैल 1998 पृ०सं० 674
39. डा० बलदेव – **संगीत (पत्रिका)** जुलाई 1986 पृ०सं० 49

दक्षिण-भारत का संगीत आज भी अपने उसी रूप में कायम है जैसा कि प्राचीन काल में था किंतु उत्तर भारतीय संगीत अपने प्राचीन रूप में कायम न रह सका।

दक्षिण की 7 मुख्य तालें ध्रुव, मठ, रुपक, झंप, त्रिपुट, अठ, एक हैं, जबकि उत्तर-भारत में इस प्रकार की कोई मुख्य तालें नहीं हैं। दक्षिण की ये तालें पाँच जातियों के आधार पर पैंतीस तालें हो जाती हैं जबकि उत्तर-भारत में तालों की पृथक् जातियों के आधार पर संख्या नहीं बढ़ सकती। दक्षिण में ''एकताल'' ऐसी है, जिसमें सभी जातियों में एक ही ताली रहती हैं। संभवतः इसी दक्षिण की एकताल में तीन मात्रायें बढ़ाकर एक ताल बनाई और ''एकताल'' ही नाम रहने दिया।[40]

इसका कारण शायद यह है कि ख्याल-गायक जब आलाप अथवा बोलालाप का क्रम जारी रखता है, तो उसे तबले का आधार लेना पड़ता है। इस कारण इसमें 'ताली' व 'खाली' दिखाकर 'सम' की पहचान सरल कर दी। उत्तर भारत में कायदों, टुकड़ों व परनों आदि पर जातियों का प्रभाव अवश्य दिखाई पड़ता है।[41] कर्नाटकी तालों का संयोग पाँच तालियों से सदैव बना रहने के कारण व सात से पैंतीस या पैंतीस से बढ़कर एक सौ आठ अथवा उनके आगे भी बढ़ जाये तो भी उनमें सप्तांगों का व्यवहार सदा दृष्टिगोचर होता रहता है। इस पद्धति में तालों का स्वरूप एक दूसरे से संबंधित रहने के कारण उत्तर कहरवा ताल की तरह ही सुनाई देता है। जिसका मुख्य कारण तालों के पृथक-2 रुप का स्पष्ट न होना ही समझा जा सकता है। क्योंकि ''कर्नाटक ताल पद्धति'' में ताल के अंगो का ध्यान रखते हुये लयान्तर्गत वादन किया जाता है, साथ ही साथ गायन एवं नृत्य के अतिरिक्त तालों का स्वतंत्र अस्तित्व न के बराकर ही रहता है,[42] फिर भी संगतकाल में थोड़ा पृथक समय देकर ताल-वाद्यों का महत्व प्रतिष्ठित करने हेतु, उपक्रम किया है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का मत है कि उत्तर-ताल-पद्धति सुनियोजित नहीं है, किंतु परंपरागत जो सैंकड़ों वर्षो से चली आ रही है उसे इस प्रकार कह देने मात्र से काम न चलेगा, क्योंकि इन दोनों पद्धतियों का

40. स्वामीराम – **संगीत (पत्रिका)** – मार्च 1988 पृ०सं० 18
41. वही – **संगीत (पत्रिका)** – मार्च 1988 पृ०सं० 18
42. रामशंकर दास (पागलदास) – **संगीत कला विहार (पत्रिका)** – 1966 पृ०सं० 60

अलगाव कब और कैसे तथा किसके द्वारा हुआ यह तथ्य अभी तक इतिहास में गर्भस्थ है। स्वामी हरिदास जी आदि का काल हम मान लें तो भी इस प्रचलित ताल शैली का होना सिद्ध हो जाता है क्योंकि उन्हीं के शिष्यों तथा प्रशिष्यों ने आज के संगीत को विकसित किया है ऐसा माना जाता है।[43] ऐसा अवश्य है कि मुसलमानों ने अपने नाम तथा अपने साहित्य की छाप लगाने के लिये कुछ शास्त्रीय व्यवख्याओं को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया है, जिसका प्रमाण गायन, वादन एवं नृत्य तीनों के पारिभाषिक शब्दों से प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसे गायन में-मियाँ की तोड़ी, जमजमा आदि। वादन में आड़, कुआड़, फरोदस्त आदि का तथा नृत्य में आमद सलामी आदि का। संगीत के क्षेत्र में उर्दू शब्दों का अधिकाधिक प्रचार है। आज वर्तमान लेखकों ने इस प्रसंग पर साहित्यिक पग उठायें हैं। साथ-2 लोगों को यह भी अहसास होने लगा कि वह ताल-पद्धति अत्यंत ठीक तथा पूर्ण रूपेण आकर्षक है और इसमें वादन कला का एक विशेष चमत्कार लक्षित होता है।

इन दोनों ताल पद्धतियों में व्यवहारिक दृष्टिकोण अपनाने से यह स्पष्ट आभास होता है कि इनके रूप में समानता नहीं आ सकती। क्योंकि निकास वादन-क्रिया, ताल प्रकार, बनावट, रचनायें आदि में समन्व्यता का अभाव है इसके अतिरिक्त तालों की विभागीयता पर दृष्टिपात करने से यह साफ ज्ञात हो जाता है कि उत्तर पद्धति में तालों में खाली का विभाग भी सम्मिलित रहता है। किंतु दक्षिण-पद्धति में निःशब्द खाली की क्रिया को विसर्जितम् द्वारा प्रदर्शित करते हुये भी खाली का विभाग नहीं माना जाता है। यह बात स्मरणीय है कि दक्षिण पद्धति की तालों को हम जातीयता के आधार पर और भी रुपांतर कर सकते हैं, किंतु उत्तर-पद्धति के तालों का स्वतंत्र अस्तित्व होने के कारण यह व्यवहार उनके साथ लागू नहीं हो सकता। वैसे दोनों पद्धतियाँ अपने आप में परिपूर्ण होने के कारण माननीय एवं पठनीय तथा ग्राह्य हैं।[44]

प्राचीन 108 ताल वर्तमान दक्षिण भारत में प्रचलित 35 शूलादि तालों से अधिक

43. रामशंकर दास (पागलदास) – **संगीत कला विहार (पत्रिका)** – 1966 पृ०सं० 60
44. रामशंकर दास (पागलदास) – **संगीत कला विहार (पत्रिका)** – 1966 पृ०सं० 61

प्राचीन हैं। छहों अंगों या मात्राओं की गणना का क्रम केवल 108 तालों में विद्यमान रहा। तत्कालीन लघु चतुरस्त्र जाति की ही मान्यता थी। 108 तालों के प्रारम्भिक 5 ताल ''मार्ग-ताल'' थे जिनमें केवल लघु, गुरु एवं प्लुत के प्रयोग उल्लिखित हैं। प्राचीन ग्रंथों में विस्तार से प्रत्येक ताल में प्रयुक्त अंगों का स्पष्ट या संकेतात्मक विवेचन किया गया है। छन्दों में प्रयुक्त 8 गणों का भारतीय तालों में भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है।[45] प्राचीन तालों में प्रयुक्त गणों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जैसे—

वलगा गलपाश्चैव षट् पिता पुत्र के तथा

मगणश्च प्लुवाद्यन्तः संपक्वेष्टाक निर्णया।

गः पदौ ग लपाश्चैव राजतालः प्रकीर्तितः

सिंहविक्रीडिते लौ पो रमण पलपास्तथा।

वेदद्रुता लदोगश्च वनमालि तथा भवेतु

तगणो दौ गुरुश्चैव चतुस्त्रेतिवर्णकः।।[46]

कर्नाटक संगीत पद्धति में तीन प्रमुख ताल पद्धतियों का प्रचार रहा—

1. प्राचीन अष्ठोत्तरशत तालम्

2. अपूर्व तालम्

3. सप्त तालम्

''अष्ठोत्तरशत ताल'' को संपूर्ण भारतवर्ष में मान्यता दी गयी थी एवं उन्हीं 108 तालों में से जिन 56 विशेष तालों को चुनकर मध्यकालीन कर्नाटकीय संगीत की रचना हुई, उन्हें ''अपूर्व तालम्'' कहा गया। 56 तालों के बाद सप्त तालों के आधार पर कर्नाटक संगीत की रचना हुई जो आज भी विभिन्न जाति व गति भेदों के साथ प्रचलित हैं।[47]

45. डा० अरुण कुमार सेन – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** – 1973 पृ०सं० 167

46. वही – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** – 1973 पृ०सं० 167

47. वही – **भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन** – 1973 पृ०सं० 168

अंत में शोधकर्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि प्राचीन काल में भारत में एक प्रकार की संगीत पद्धति थी, यह हमें इतिहास का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि 11वीं सदी से भारतवर्ष में मुस्लिमों तथा बाद में मुगल तथा अंग्रेज विदेशियों का प्रवेश, आक्रमण, आधिपत्य 20वीं सदी (पूर्वाद्ध) तक कायम रहा। मुस्लिम तथा मुगल लोग उत्तर पश्चिम दिशा से भारत में आये इस कारण उनकी संस्कृति का अधिक प्रभाव उत्तर भारत पर पड़ा। भारतीय संगीत पर एवं वाद्यों पर भी मुस्लिम एवं मुगल संगीत का प्रभाव पड़ा। मुस्लिमों के आक्रमण तथा विध्वंसात्मक प्रवृति के कारण शास्त्रीय संगीत पर काफी बुरा असर पड़ा एवं संगीत लोगों के घरों में ही पनपने लगा तथा शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा लोक संगीत का प्रचलन अधिक रहा। साथ ही शास्त्रीय संगीत का भी रुप परिवर्तित होता गया। इसी प्रकार प्राचीन भारत में गायन की केवल एक ही पद्धति प्रचलित थी, परिवर्तन ने इस गायन शैली को भी न छोड़ा ओर यह धीरे-2 अलग होनी प्रारंभ हो गयी।

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में संगीत-पद्धति के अतिरिक्त पृथक-पृथक वाद्यों का भी प्रचलन है। उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में मुख्यतः तबला, पखावज, नक्कारा आदि तथा लोक-संगीत में ढोलक, चंग ढोल, डफ, खंजरी, मादल, डमरु ताशा, सम्बल, तुनतुना आदि अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग किया जाता है, इसके विपरीत दक्षिण भारत में शास्त्रीय संगीत में मुख्यतः मृदंगम, घटम् आदि अवनद्ध वाद्यों का तथा लोक संगीत में डमरू व ढोलक, करताल, डफ, दमण आदि वाद्यों का प्रयोग होता है।

निष्कर्षतः यह मानना उचित है कि उत्तर भारतीय संगीत की अपेक्षा दक्षिण-भारतीय संगीत, संगीत के प्राचीन सिद्धांतों को आज भी काफी अंशों में सुरक्षित रखे हुये हैं।

-x-x-x-x-x-x-x-x-x-x-

षष्ट्म अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

प्राचीन काल से आधुनिक काल तक यदि किसी भी समय पर गौर किया जाये तो ज्ञात होता है कि मानव जीवन कभी भी संगीत विहीन नहीं रहा, अर्थात संगीत की उत्पत्ति मानव जीवन के साथ ही हुई। संगीत का आधार ध्वनि अथवा नाद है। क्योंकि इसके अभाव में संगीत का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। संगीत से केवल आनंदानुभूति ही नहीं होती अपितु ध्वनियाँ मानसिक स्थितियों की भी सूचक होती हैं। साथ ही ये हमारे मनोभावों को भी प्रभावित करती हैं। संगीत हमारी आत्मा में भक्तिमय अनुभूतियाँ भर देता है। संगीत में एक गति है और हमारी क्रियाएं भी गत्यात्मक होती हैं। दोनों में सादृश्य होने के कारण ही मात्र ध्वनिमय राग-रागनियाँ हमारी आत्मा को प्रभावित कर लेती हैं।

सृष्टि के स्वर्णिम विद्यान से लेकर प्रलय की काली संध्या तक संगीत का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ता है। भावुकता से हीन कोई कैसा भी पाषाण-हृदय क्यों न हो, संगीत से विमुख होने का दावा उसका भी नहीं माना जा सकता। पावस की लाजवंती संध्याओं को श्वेत-श्याम मेघ-मालाओं से प्रस्फुटित नन्हीं-नन्हीं बूंदों का रिमझिम-रिमझिम राग सुनते ही कोयल कूक उठती है, पपीहे गा उठते हैं, मोर नाचने लगते हैं तथा मंजीरे बोल उठते हैं। लहलहाते हरे-भरे खेतों को देखकर कृषक आनंद-विभोर हो जाता है और वह अनायास ही अलाप उठता है किसी परिचित मल्हार के बोल। जीवन-पथ के किसी भी मोड़ पर निहारें वहीं संगीत नजर आता है।

"ताल" संगीतरूपी तन का एक मुख्य अंग है जिसको संगीत का प्राण कहें तो कुछ गलत न होगा। भरत मुनि ने संगीत में काल (समय) नापने के साधन को 'ताल' कहा है। जिस प्रकार भाषा में व्याकरण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार संगीत में ताल की आवश्यकता होती है। गायन, वादन तथा नृत्य का सौंदर्य ताल ही है। यह सर्वविदित ही है कि योगीराज शंकर के ताण्डव नृत्य में जब उनके वाद्य डमरू का वादन हुआ तो उसमें से गंगा की धाराओं के समान अनेकों तालें निकल पड़ीं। यही समय ताल की उत्पत्ति का

समय माना जाता है। उसी कारण ताल को शिव की शक्ति भी माना गया है। ग्रन्थों के आधार पर शोधकर्त्री का ऐसा मानना है।

ताल की उत्पत्ति काफी समय से ताल के अंग-लघु, गुरु, प्लुत आदि के आधार पर भी मानी गयी है। ये तीनों शब्द अक्षरों के मात्रा काल हैं अतः यह भी प्रतीत होता है कि तालों का उद्गम वृतों के गुरु, लघु, प्लुत आदि के अक्षर नियम अर्थात छंद से ही हुआ है।

ताल को काल का मापक माना जाता है तथा साथ ही सांगीतिक क्रियाओं का आधार भी माना जाता है इसी कारण सांगीतिक सृष्टि को तालाधारित कहा गया है। ताल को संगीत का प्राण भी माना जाता है।

ताल संगीत में लय को भी नियंत्रित तथा व्यवस्थित कर अनुशासित करती है। कहने का अभिप्राय यही है कि सांगीतिक क्रियाओं को कालबद्ध करने हेतु ताल की आवश्यकता होती है। ताल संगीत की तीनों क्रियाओं गायन, वादन तथा नृत्य को एक सुनियमित गति प्रदान कर एक निश्चित नियम या समय के बंधन में बाँधती है। ताल-विहीन संगीत के निरंतर श्रवण से श्रोताओं के हृदय में उदासी छा जाती है, परंतु ताल प्रमाण में बद्ध होकर संगीत श्रवण प्रिय हो जाता है। गायन वादन तथा नृत्य को मिलाकर ही संगीत का रूप दिया गया है अतः संपूर्ण संगीत ताल पर ही टिका है। इसके अतिरिक्त किसी भी संगीत के ज्ञानी एवं नर्तक या नर्तकी की सत्यता को परखने हेतु ताल एक अच्छा साधन है। ताल के द्वारा एक ही संगीत में अनेकों परिवर्तन किये जा सकते हैं।

अतः निःसंदेहात्मक रूप से कहा जा सकता है कि संगीत के सौंदर्य को और अधिक प्रभावशाली बनाने हेतु ताल-लय का विशेष महत्व है। ताल के अभाव में संगीत अधूरा व निष्प्राण प्रतीत होगा। ताल के द्वारा ही प्राचीन एवं वर्तमान संगीत को स्वर एवं बोललिपि द्वारा भविष्य के लिये सुरक्षित रखना संभव हो सका है।

'नृत्य' संगीत का एक विशेष अंग है तथा रुचिकर होने के साथ-साथ विभिन्न रूप लिये हुये है। कहने का अभिप्राय है कि नृत्य के अनेकों रूप हैं जैसे 'शास्त्रीय नृत्य'—इस प्रकार के नृत्य में अनेकों नृत्य जैसे—कत्थक, भरतनाट्यम, कथकलि तथा मणिपुरी। इनके

अतिरिक्त अनेकों प्रदेशों के नृत्य उड़ीसी कुचिपुड़ी, मोहिनी अट्टम तथा छाऊ आदि नृत्य भी शास्त्रीय नृत्य में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरा नृत्य 'लोक-नृत्य' भी संगीत का एक विशेष अंग है। लोक नृत्यों के अनगिनत रूप हैं जिनका वर्णन करना सरल नहीं है। नृत्य कला संगीत का एक अभिन्न अंग है तथा बाल्यावस्था से इसमें रुचि उत्पन्न हो जाती है जो विद्यार्थी-जीवन में विद्यार्थियों में अधिक नजर आती है। जबकि यह कला इतनी सरल नहीं होती। नृत्य शैली के अनुसार विद्यार्थियों को ग्रहण करने में काफी समय लगता है। यह कला प्राचीन समय से ही चली आ रही है।

आदिकाल से संगीत हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग रहा है। ऐसा माना जाता है कि वेदों में भी ऐसा उल्लेख है कि प्राचीन समय में युवतियाँ विभिन्न समारोहों में गीत गाती थीं, साथ ही वरूण देवता को संतुष्ट करने के लिये यज्ञ के चारों ओर नृत्य करती थीं तथा इस बात का भी विवरण मिलता है कि स्वयं भगवान ने भी कहा है कि उन्हें भक्तों की टोली अर्थात 'नाम संकीर्तने' करने वाले भक्तों के समूह में देखा जा सकता है। नृत्य अपने आप में एक ऐसी रुचिपूर्ण कला है जिसके अभाव में संगीत भी फीका दिखाई पड़ता है।

नृत्य कला का जन्म कैसे व किसके द्वारा हुआ, इसके विषय में भी 'ताल' ही की तरह भगवान 'शिव' का ही नाम दिया जाता है। भगवान शंकर के विषय में ही कहा जाता है कि वे संध्या काल में नृत्य करते हैं तथा उनके साथ ही और भी देवी-देवता वाद्यों का वादन करते हैं, जैसे कि ब्रह्माजी द्वारा ताल देना, विष्णु जी का मृदंग-वादन, देवी सरस्वती जी की वीणा की झंकार, सूर्य व चन्द्र का बाँसुरी-वादन, नन्दी व भृंगी द्वारा डमरू-वादन व नारद जी के स्वर आलाप अप्सराओं द्वारा श्रुतियों का ध्यान रखना। एक नृत्य के साथ इतने वाद्यों की संगत? सुनकर ही हृदय झंकृत हो उठता है।

भगवान शिव द्वारा उनका नृत्य 'ताण्डव' के नाम से पुकारा जाता है। उनके पदाघातों से पृथ्वी तथा हस्त मुद्राओं से कहते हैं संपूर्ण नक्षत्र मंडल गतिमान होता है।

इसीलिये कहा गया है कि 'नृत्यमयं जगत' अर्थात यह समस्त संसार ही नृत्यमय है। शिवजी की नृत्य-मुद्राओं को नंदीश्वर जी ने संकलन किया व लय-ताल में बैठाकर अभ्यास किया तथा समस्त संसार में इसका प्रचार किया। इसी प्रकार भगवती पार्वती ने भी भगवान शिव को नृत्य करते देखकर अपने सुकोमल अंगहारों से युक्त एक 'लास्य-नृत्य' की रचना की। तथा यह नृत्य-कला बाणासुर की पुत्री ऊषा को दी, जो कि भगवान कृष्ण के प्रपोत्र अनिरूद्ध की पत्नी बनी तथा द्वारिका में विवाह होने पर ऊषा ने वहाँ की स्त्रियों को यह नृत्य सिखाया। इस प्रकार पार्वती जी द्वारा निर्मित लास्य-नृत्य पृथ्वी पर अवतरित हुआ। विभिन्न रसों अर्थात वीर, वीभत्स, रौद्र व अद्भुत आदि से युक्त उद्धृत नृत्य 'ताण्डव' तथा शृंगार प्रधान वृत्तियों से आवेष्टित 'लास्य नृत्य' समस्त सृष्टि में प्रचलित हुये। इन दोनों विधाओं से नृत्त व नृत्य के अनेक भेद व उपभेद लोक में प्रचलित हुये।

इस प्रकार देखा जाये तो एक नृत्य (शिव नृत्य) के साथ इतने वाद्यों की संगत नृत्य का रूप निखार देती है या कहिये वाद्यों के अभाव में नृत्य का काई मोल नहीं। वाद्यों की संगत ही नृत्य को एक अनमोल रूप प्रदान करती है। वाद्यों के द्वारा ही नृत्य को तरह-तरह की लयकारियों में ढालकर उसको तेज लय में तो कभी मध्य लय में व विलम्बित लय में परिवर्तित करके उसमें नवीनता व आकर्षण उत्पन्न किया जाता है।

वाद्यों के साथ संगत भी ताल द्वारा ही की जाती है। यद्यपि नृत्य की वाद्य-संगत गायन की संगत से अलग है फिर भी यह संगत ताल से अछूती नहीं है। प्रायः गायक तथा नर्तक के साथ ताल वाद्य एवं तत् या सुषिर वाद्य से उनके स्वर, गीत प्रकार, नृत्य प्रकार, गति प्रकृति, नृत्य प्रकृति ताल एवं लय के अनुसार संगत की जाती है। नृत्य के साथ अवनद्ध तथा घन दोनों प्रकार के वाद्यों से संगत की जाती है, अर्थात शायद ही कोई ऐसा वाद्य हो जिस पर नृत्य के साथ संगत न की जाये।

नृत्य में ताल का एक विशेष स्थान है, यानि ताल के अभाव में नृत्य रसहीन प्रतीत होता है। जिस प्रकार नर्तक के घुँघरू की आवाज नृत्य के बोलों के मुताबिक ही होनी आवश्यक है उसी प्रकार नृत्यकार की तरह ही एक वादक भी ताल में तन्मय होकर झूम उठता है तथा 'सम' आते ही उसके शरीर के समस्त अंग जैसे सम को प्रदर्शित करने हेतु

आतुर होकर एक ओर झुक जाते हैं तथा नर्तक के नृत्य में भी एक लोच उत्पन्न होकर व उसका मुख भी मुस्कुराहट से झूम जाता है। अर्थात कहना चाहिये कि ताल का समय नर्तक तथा वादक के लिये मस्ती का एक संगम है जिसमें दोनों तन्मय होकर एक अनोखा आनंद प्राप्त करते हैं।

नर्तक तथा ताल-वादक केवल संगीत द्वारा सवाल-जवाब अर्थात बातचीत भी कर सकते हैं, उदाहरण के लिये—पहले नर्तक अपने पैरों द्वारा कुछ बोल निकालते हैं तत्पश्चात वादक उन्हें सुनकर अपनी सूझ से उसी वजन का बोल उतनी ही मात्रा में बजाते हैं। इसी क्रम में कत्थक नृत्य पूर्ण संगति में किया जाता है। ताल के बोलों द्वारा नर्तक अपने भावों को भी प्रकट कर सकता है। नृत्य के आधार पर संपूर्ण कथायें प्रदर्शित की जाती हैं जिनमें ताल अपना एक विशेष स्थान रखती है। यही कथायें 'नृत्य-नाटिका' तथा 'रासलीला' आदि के नाम से जानी जाती हैं। इस प्रकार के नृत्य संगीत व ताल की संगत के साथ काफी समय तक (लगभग दो या ढाई घंटे या अधिक समय तक) किये जाते हैं। इस प्रकार के नृत्य की दो शैलियाँ पायी जाती हैं—मूक अभिनयात्मक, संवादात्मक। प्रथम शैली में वाद्य यंत्रों की सहायता से भावपूर्ण एवं संवादात्मक गीत गाते हैं तथा नर्तक उन गीतों के अनुरूप भूमिका में गीत के भावानुसार नृत्य करते हैं। दूसरी शैली के 'गीत नाट्य' वे हैं जिनमें केवल पद्य-संवाद मात्र रहते हैं। संवाद के अतिरिक्त कथा भाग को गीत द्वारा या नृत्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। कुछ नृत्य वाद्यों के साथ ताल पर केवल हाव-भाव प्रदर्शित करके भी किये जाते हैं।

निष्कर्ष यही निकलता है कि संगीत तथा नृत्य से ताल का संबंध शरीर के साथ प्राण जैसा है, विशेष तौर पर नृत्य के साथ। ताल के अभाव में नृत्य में न तो रस ही उत्पन्न किया जा सकेगा और न ही मधुरता। गायन ताल के अभाव में कुछ समय के लिये किया जा सकता है किंतु नृत्य का आरंभ भी ताल साथ ही होगा व अंत भी ताल के साथ ही किया जाता है। अर्थात् नृत्य ताल के अभाव में एक पल भी चल नहीं सकेगा।

''सामाजिकता के विकास में ताल की भूमिका'' से तात्पर्य यही निकलता है कि हमारा सामाजिक जीवन संगीत से इतना अधिक जुड़ा है कि शायद ही कोई ऐसा प्राणी हो

चाहे वह बालक हो अथवा बालिका, स्त्री हो या पुरुष। वृद्धावस्था का प्राणी भी किसी-न-किसी रूप में संगीत से जुड़ा रहता है। संगीत में आनंदानुभूति ही नहीं होती अपितु ध्वनियाँ मानसिक स्थितियों की भी सूचक होती हैं, साथ ही ये हमारे मनोभावों को भी प्रभावित करती हैं। संगीत हमारी आत्मा में भक्तिमय अनुभूतियाँ भर देता है। भक्ति भी एक प्रकार का आवेग है, जो हमारी आत्मा को प्रभावित करता है।

संगीत में एक गति है और हमारी क्रियायें भी गत्यात्मक होती हैं। दोनों में सादृश्य होने के कारण ही मात्र ध्वनिमय राग-रागनियाँ हमारी आत्मा को प्रभावित कर लेती हैं। प्राकृतिक गति हमें आनंद देती हैं। बच्चे जन्म से ही इससे प्रभावित हो जाते हैं। राग और लय में प्रभावित करने की शक्ति उनकी नियमितता के कारण ही आती है, क्योंकि असंतुलन में संतुलन, अव्यवस्था में व्यवस्था तथा असामंजस्य में सामंजस्य लाने की अपेक्षा नियमितता या संयम से हम अधिक प्रभावित होते हैं। स्वर और लय का संयम तथा सामंजस्य ही हमें प्रभावित करता है।

वैज्ञानिकों ने इस बात के प्रमाण दिये हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड लय से बँधा हुआ है। दैनिक जीवन में मानव, पशु-पक्षी, चर-अचर सभी निश्चित समय पर अपना कार्य करते हैं। आदिकाल से ही मानव ने अपने हृदय के सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के साधन खोजकर विभिन्न कलाओं का विकास किया है। इस प्रक्रिया में संगीत की गायन, नृत्य-कला के साथ-साथ वादन कला का भी अविष्कार किया। जिसमें लय का एक अपना विशेष महत्व है। प्रकृति का प्रत्येक कार्य एक लय में बँधा है, चाहे वह द्रुत लय हो, मध्य हो अथवा विलम्बित। लय का अपना एक निश्चित समय है जिसका उतार-चढ़ाव समान रूप से होता है। यही लय प्रकृति के प्रत्येक कार्य को एक निश्चित समय में नियंत्रित करती है। उदाहरण के लिये पृथ्वी सूर्य की एक प्रदक्षिणा चौबीस घंटों में करती है। समुद्र का ज्वार-भाटा भी एक निश्चित क्रम में ही आता है। इस प्रकार विश्व-विधाता द्वारा रचित संपूर्ण प्रकृति में समय क्रम की जो एक निश्चित गति है यही गति अथवा लय संगीत में ताल बनकर उसे उपयोगी, रसपूर्ण तथा स्थायी रूप देती है।

प्रकृति ने ध्वनि को भी अनेकों रूप दिये हैं, जिनके अनेकों प्रकार हैं तथा जिनमें कुछ ध्वनि श्रवण प्रिय हैं एवं कुछ कानों को अच्छी नहीं लगतीं। भारतीय संगीत के संदर्भ में यही कहा गया है कि 'श्रुति' इसकी जननी तथा लय जनक है। यह कहावत बहुत कुछ सत्यता लिये हुये है। कुदऊ सिंह का यह कहना कि—"पखावज बजाकर पागल हाथी को अपने वश में कर लिया।" संतुलन विहीन मस्तिष्क पर लय ध्वनियों के प्रभाव की यह एक विशेष महत्व लिये हुये ऐतिहासिक घटना है। इससे सिद्ध होता है कि संगीत की संतुलित व चित्ताकर्षक लय ध्वनियों द्वारा संतुलन-विहीन मस्तिष्क-रोगियों का रोग दूर किया जा सकता है। समस्त प्राकृतिक क्रियाओं का मूल आधार गति ही है। नक्षत्र गति से घास स्पंदन तक की समस्त प्राकृतिक क्रियायें कतिपय मूलभूत नियमों पर आधारित हैं।

सामाजिक जीवन में संगीत कला का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। संगीत के अनेकों रूप हैं, किन्तु ताल को एक ऐसा माध्यम माना गया है जो संगीत का वास्तविक रूप दर्शाता है अर्थात ताल के विभिन्न रूपों से मानव हृदय भावों को प्रकट किया जा सकता है। उदाहरण हेतु—कहरवा ताल का द्रुत लय वादन चंचल प्रकृति का संगीत माना जायेगा तथा यह सुख अथवा खुशी के भावों को प्रकट करेगा। यदि यही ताल मध्य लय में बजायी जाये तो वह गजल अथवा राग का रूप दर्शायेगी। इसके विपरीत इसी ताल का विलंबित रूप दुख अथवा शोक प्रगट करेगा।

संगीत द्वारा उत्कृष्ट अभिव्यंजना का जितना विस्तृत विस्तार वाद्य संगीत में संभव है उतना गायन अथवा नृत्य में संभव नहीं। गायन व नृत्य कला के अतिरिक्त नाट्य कला भी सामाजिक जीवन में अपना एक विशेष स्थान लिये हुये है। अतः नाट्य कला भी वाद्य संगीत के अभाव में रसहीन प्रतीत होगी। यदि वाद्य संगीत का सहयोग नाटक को न मिले तो वह निर्जीव प्रतीत होगा। रामायण काल, महाभारत काल में अनेकों वाद्यों का विवरण मिलता है। यह युग संगीत सभाओं का युग था जिसमें नाटक व संस्कारों के साथ-साथ गीत वाद्यों के साथ ही प्रदर्शित किये जाते थे, जिससे हृदय में उत्साह पैदा करके एक विशिष्ट स्फूर्ति का संचार होता था, अर्थात प्राचीन काल भी वाद्यों से भरपूर था व वाद्यों का स्वरूप

भी काफी हद तक निखर चुका था। संगीत का अपूर्व आकर्षण केवल प्राचीन मानव व पशु तक ही सीमित नहीं था अपितु भगवान कृष्ण जो अनंत हैं वे भी ध्वनि के वशीभूत हैं। ब्रह्मा जी साम-गीत रत हैं, सरस्वती देवी वीणा पर आसक्त है, तो इतर यक्ष, गंधर्व, देव-दानव तथा मनुष्यों की तो बात ही क्या है। भारतीय वाद्यों को भी अनेकों रूप दिये गये हैं। पं० लालमणि मिश्र के अनुसार वाद्यों के छह प्रकार निर्धारित किये गये जिन्हें तत, वितत, अवनद्ध, घन, सुषिर तथा तरंग के नाम से जाना गया। तत, वितत वाद्यों में तार छेड़कर बजाये जाने वाले वाद्य जैसे कि सारंगी, सितार वायलिन इत्यादि। सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत वायु अथवा फूँक से बजाये जाने वाले वाद्य–बाँसुरी, नफीरी, शंख, शहनाई, तुरही, सिंगी आदि वाद्य आते हैं। इसके अतिरिक्त घनवाद्य तथा तरंग वाद्यों को–"जल तरंग, करताल, घण्टा, मंजीरा, पियानों, संतूर, झाँझ इत्यादि वाद्यों में विभाजित किया गया है।

भारतीय वाद्यों की यह परंपरा तथा विभाजन का यही क्रम भारतीय संगीत में रहा है। नये वाद्यों का निर्माण, परिवर्तन व संशोधन तथा नई-नई वादन शैलियों के प्रचलन के साथ यह वाद्यों का वर्गीकरण व परंपरा क्रम इसी प्रकार चलता रहेगा। विद्वानों ने ताल को अनेकों सुंदर नाम दिये हैं। किसी ने ताल को संगीत का 'आसन' नाम दिया है जिस पर गीत, वाद्य तथा नृत्य टिके हुये हैं तो किसी ने स्वर को 'रस का सागर' बताया तो लय को उसकी 'मथानी' माना है। इसी प्रकार स्वर तथा लय को संगीत विद्या के दो पैर कहा है। एक के अभाव में वह विकलाँग है। ताल विहीन संगीत को नासिका विहीन मुख की तरह माना गया है। ताल से अनुशासित होकर संगीत विभिन्न भाव रसों को उत्पन्न कर पाता है।

अंत में यही मानना आवश्यक होगा कि ताल का घर वाद्य है व ताल अथवा लय से समस्त ब्रह्माण्ड बँधा हुआ है। प्राचीन काल से आधुनिक काल तक संगीत सौंदर्यपूर्ण आकर्षण ही है जिसके फलस्वरूप साधारण मानव, पशु-पक्षी तो क्या देवी-देवताओं के साथ कोई-न-कोई वाद्य अवलोकित होता है।

"ताल संबंधी भारतीय अवधारणायें" पर अवलोकन किया जाये तो ज्ञात होता है कि संगीत में ताल व लय के सामंजस्य द्वारा विभिन्न रसों की सृष्टि की जाती है। मनुष्य रस

अभिलाषी है। भारतीय मनीषा में ब्रह्म और रस को एक माना गया है—रसा वै सः। इस रस की निष्पत्ति जिससे होती है वह मोक्ष का मार्ग है—इसमें दो मत नहीं। ''संगीत नाद'' का विभिन्न विशेष रूपों में समायोजन है। भारतीय शास्त्रों के अनुसार नाद ब्रह्म है। 'पाणिनी' जी के अनुसार शंकर जी के डमरू से पहली बार वर्णों का समायोजन उत्पन्न हुआ जिसे 'माहेश्वर सूत्र' के रूप में उल्लिखित किया गया। यह देखना प्रासंगिक है कि डमरु एक वाद्य यंत्र है व इससे सर्वप्रथम सूत्रों का आविर्भाव हुआ जिस पर संपूर्ण संस्कृत वांग्मय आधृत है।

साहित्य में नौ रसों का उल्लेख किया गया है। जिनके नाम क्रमशः शृंगार, करुण, वीर, भयानक, अद्‌भुत, हास्य, रौद्र, वीभत्स तथा शांत रस। संगीत में शृंगार, करुण, वीर व शांत इन चारों रसों में अन्य सभी रसों का समावेश माना गया है। ये सभी रस ताल के द्वारा दर्शाये जा सकते हैं। किसी भी कला के लिये यह आवश्यक है कि उससे मानव हृदय में स्थित स्थायी भाव जगें और उन भावों से तत्संबंधी रस की उत्पत्ति हो तभी मनुष्य आनंदानुभूति कर सकता है इसी को सौंदर्य-बोध कहते हैं। ध्वनि की मधुरता, कर्णप्रियता व काल की नियमित गति को स्वर तथा लय को ओंकार नाथ ठाकुर जी ने संगीत की विशेषता मानी हैं। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार ध्वनि सुनने में मधुर न हो तो वह संगीत के उपयुक्त नहीं है। विश्व के सभी देशों में संगीत में नाद एवं लय ये दो आधारभूत तत्व माने गये हैं तथा भारतीय संगीत में इन दोनों तत्वों को संगीत रूपी तराजू के दो पलड़े भी कहा गया है, अर्थात दोनों का महत्व समान दिया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ संगीत ग्रंथों में स्वर को लय अथवा ताल से अधिक महत्व दिया गया है जो कि संगीत से जुड़े कुछ संगीतज्ञ उचित नहीं मानते उनके अनुसार समस्त जड़-चेतन, प्रकृति, समस्त ब्रह्माण्ड ही लय से संचालित है व लय से नियंत्रित होकर एक नियमित गति में बँधा हुआ है। उदाहरण हेतु जिस प्रकार हृदय गति की नियमित गति की समाप्ति एक प्राणी के जीवन को समाप्त कर देती है उसी प्रकार पृथ्वी व उसकी निकटतम नियमित गति से निरंतर घूमने वाले ग्रहों की गति समाप्त होने पर निश्चित ही प्रलय संभव होगी। यह मात्र अनुमान नहीं अपितु ठोस प्रमाणिक सत्यता है। कहने का अर्थ है कि जिस लय में संपूर्ण जगत नियंत्रित है उसका मूल्य हमें सही रूप से आँकना होगा।

विश्व का प्रत्येक प्राणी दीर्घायु, सुख तथा यश को प्राप्त करना चाहता है। इन अभिलाषाओं की पूर्ति ललित-कलाओं द्वारा किसी हद तक हो जाती है। कला का विकास करना तथा उसका आनंद लेना, इनमें काफी अंतर पाया जाता है। इसीलिये ललित कलाओं का आनंद तो सब लेते हैं लेकिन प्रत्येक व्यक्ति कलाकार नहीं होता। ये संस्कार उसके पैतृक संस्कार, पूर्व जन्म के फलस्वरूप अथवा वातावरण से प्राप्त भी कहे जा सकते हैं। किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है कि मन तथा बुद्धि संस्कारगत होने के कारण किसी की रुचि गायन में, किसी की वादन में तथा कोई नृत्य की ओर अधिक आकर्षित होता है। जिस व्यक्ति की आत्मा का आकर्षण जिस कला में अधिक रहता है वह किसी-न-किसी प्रकार उस कला को प्राप्त करने के लिये सचेष्ट पाया जाता है। संगीत के 'ताल' अंग में हमारी आत्मा सुख का अनुभव करती है तथा उसमें रमने का प्रयास करती है। संगीत शास्त्रकारों ने ताल को एक नाम 'संगीत का व्याकरण' भी दिया है जो गायन, वादन तथा नृत्य की प्रतिष्ठा को बढ़ाकर अधिक आकर्षक बनाती है।

भारतीय संगीत की यह विशेषता है कि वह व्यक्ति प्रधान है तथा कलाकार अपनी कला से श्रोताओं को चमत्कृत व आनंदित कर लेता है, साथ ही यह कहना भी गलत न होगा कि ताल के विभिन्न रूपों में उसकी कला का संयमन नीहित है, चाहे वह गायक हो, वादक हो अथवा नर्तक ही क्यों न हो, ताल पर अधिकार होना उसका सर्वप्रथम गुण समझा जाता है। भारतीय संगीत में ताल को अधिक महत्व प्रदान करते हुये कहा गया है कि संगीत एक भवन की तरह है जो कि ताल रूपी आधार-स्तम्भ पर टिका हुआ है, जिसके थोड़ा-सा खिसक जाने पर सम्पूर्ण भवन के क्षत-विक्षत हो जाने की संभावना निश्चित है। ताल के महत्व को भारतीय संगीत ही नहीं अन्य देशों के संगीत में भी स्वीकार किया गया है। अंग्रेजी संगीत में ताल को Rhythm कहा जाता है।

जिस प्रकार केवल ईंट, रोड़ी, चूना, पत्थर इत्यादि को भवन नहीं कहा जा सकता ठीक उसी प्रकार केवल स्वरों को संगीत नहीं कहा जा सकता। संगीत रचना के लिये अनेक स्वरों को किसी क्रम व लय में रखना आवश्यक है। लय अथवा गति को प्रदर्शित करने के

लिये समय की आवश्यकता होती है। अतः स्वरों का किसी क्रम से लय में आते रहने की क्रिया को संगीत कहा जा सकता है, परन्तु जब तक इन स्वरों के क्रम में कोई नियम या बंधन न हो, उसे संगीत नहीं कहा जा सकता। संगीत-कला में 'समय' एक आवश्यक तत्व होने के कारण, संगीत-रचना को एक भवन निर्माण हेतु सामग्री अर्थात ईंट, रोड़ी, चूने के बने भवन, पत्थर की मूर्ति अथवा चित्र की भाँति एक बार में ही समग्र रूप में ही नहीं देखा जा सकता। इसमें एक ध्वनि के उपरांत अन्य ध्वनियाँ आती रहती हैं जो सुनाई देती हैं। श्रोता को उसके पूर्व की ध्वनि को याद रखना पड़ता है एवं आगे आने वाली ध्वनियों से उसके संबंध को ध्यान में रखना पड़ता है, तभी उसे संगीत का आनंद आता है।

भारतीय विद्वानों के अनुसार—संगीत का ताल अंग शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि में पूर्ण रूप से वैज्ञानिक नहीं है। इसका कारण यह माना जाता है कि मध्यकाल में अशिक्षित लोगों की संगीत में अधिक रुचि थी, जिन्होंने गुरु-शिष्य परंपरा द्वारा क्रियात्मक रूप में तो संगीत काफी सीखा किन्तु शास्त्र रचना नहीं कर पाये। कुछ लोगों के द्वारा कुछ पुस्तकें तबला मृदंग पर लिखी गयीं, किन्तु उनमें दी गई परिभाषायें अस्पष्ट हैं।

भारतीय संगीत विशेषताओं से भरपूर है। इन्हीं विशेषताओं का परिणाम है कि संगीत का रूप समयानुसार निखरता रहा है। भारतीय संगीत नियमों से संतुलित होकर भी एक पूर्ण स्वतंत्र कला है। अनुशासन व स्वतंत्रता के मध्य इस कला का रूप और अधिक निखर गया है। संगीत नियमों में एक विशिष्ट स्वतन्त्रता का आभास होता है जो रसास्वादन में पूर्णतः समर्थ है। गीत तथा वाद्य के साथ ताल रखने की परंपरा नयी नहीं प्राचीन काल से ही चली आ रही है। संगीत का रूप शास्त्रीय हो अथवा लोक संगीत, ताल का समावेश उसमें आवश्यक है। कुछ नृत्य केवल ताल पर ही आधारित हैं। आदिवासी क्षेत्रों के अनेक नृत्य केवल ताल पर ही किये जाते हैं। भारतीय संगीत की एक विशेषता यह भी है कि वह शब्दार्थ रहित होते हुये भी काम के समान रसानुभूति में समर्थ होता है।

पाश्चात्य अवधारणायें—भारतीय संगीत जिस प्रकार भारतीय अवधारणाओं से परिपूर्ण है उसी प्रकार हमारा संगीत पाश्चात्य देशों में भी अपना पूरा महत्व रखता है। अनेकों

विदेशी संगीतज्ञों ने भारतीय संगीत को तरह-तरह की उपाधि दी है। भारतीय संगीत व पाश्चात्य संगीत दोनों अलग-अलग प्रकार के संगीत हैं। दोनों संगीत में मुख्य भेद या सबसे बड़ा अंतर यही पाया जाता है कि भारतीय संगीत में स्वर को प्रधानता दी गई है जबकि पाश्चात्य संगीत में संध्वनि (हार्मनी) का महत्व विशेष रूप से समझा जाता है। भारतीय संगीत स्वर-प्रधान होते हुये भी कोई भी संगीतज्ञ संध्वनि प्रणाली से अपरिचित नहीं है। भारतीय संगीत में जिस प्रकार शास्त्रीय एवं लोक-संगीत के लिये पूर्णरूप से व्यवस्थित ताल-पद्धतियां हैं ठीक उसी प्रकार पाश्चात्य संगीत की लय प्रणालियों की वर्तमान स्थिति के विषय में ज्ञात करने पर ऐसा ज्ञात हुआ है कि संगीत की भित्ति 'ध्वनि' होने के कारण इसका अन्तर्राष्ट्रीय रसास्वादन संभव है। भारतीय संगीत में जिस प्रकार वादन-पद्धति का स्वरूप है वह बाहर के संगीत अर्थात पाश्चात्य-संगीत में नजर नहीं आता। एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय संगीत के साथ अन्य देशों के संगीत का तुलनात्मक अध्ययन करने से अनेकों जानकारी मिलती हैं, जिसके अनुसार पाश्चात्य देश के संगीतज्ञ भी भारतीय संगीत को ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनके अनुसार पाश्चात्य देशों में लयात्मक स्वरों अथवा बोलों की वह पद्धति नहीं है जैसी कि भारतीय संगीत में है तथा आज संगीत में प्राचीन लयों के बंधन टूट चुके हैं और किसी भी मात्रिक समूह के प्रयोग की स्वच्छन्दता है। भारत के समान ताल वाद्यों का व्यक्तिगत वादन हमारे संगीत में नहीं है। 'जाज' के वादक कुछ समय के चर्म वाद्य को व्यक्तिगत रूप से अवश्य बजाते हैं किंतु भारतीय लय-वाद्यों के स्वतंत्र-वादन से उसकी तुलना फिर भी नहीं की जा सकती।

भारतीय संगीत व पाश्चात्य संगीत के शास्त्र व स्वर सप्तक में भी पूर्णरूप से भिन्नता नजर आती है। कुछ समय पूर्व ग्रीक संगीत शास्त्र व भारतीय संगीत का संबंध अवश्य रहा है। प्राचीन आर्यों की भाषा व शब्द ग्रीक भाषा में पाये जाते हैं, किंतु यह संबंध काफी प्राचीन है। केनेडा के श्री हावर्ड ब्राउन इस बात को मानते हैं कि—''पाश्चात्य संगीत में तालों का रूप अर्थात तालें बहुत छोटी हैं केवल दो अथवा तीन मात्रा से अधिक बोल एक ताल में नहीं होते।'' उनके अनुसार—“भारतीय स्वरों की रचना अर्थवाही शब्दों पर आधारित होती है।'' इसी प्राकर टोरांटो विश्व विद्यालय, ओंटेरियो के श्री रिचार्ड जॉनस्टन

के अनुसार वहाँ की लयकारियाँ काफी सरल हैं तथा ज्यादा सूक्ष्मता से उनको संगीत में नहीं दर्शाया जाता। नृत्य-शैलियों में यद्यपि लय को कुछ स्थूल रूप से परिवर्तन करके दिखाया जाता है फिर भी उनको अधिक महत्व नहीं दिया जाता है। यह सत्य है कि एस्किमों की संगीत साधना में काफी समय अथवा शताब्दियों के पश्चात भी प्राचीन व मौलिक तत्वों का ह्रास नहीं हुआ हैं, जबकि भारतीय संगीत संस्कृति में पीढ़ी दर पीढ़ी परिवर्तन एवं प्राचीनता के प्रति अनास्था स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। उनके अनुसार भारतीय संगीत में लय प्रदर्शन हेतु शब्दों अथवा बोलों का भारी संग्रह है जिसका कि उनके पास अभाव है। यही संग्रह तरह-तरह के परिणाम दर्शाते हैं। यह सत्यता है कि भारतीय संगीत द्वारा एक प्रकार चमत्कारों का ही प्रदर्शन हुआ है जैसा कि मृदंग सम्राट कोदऊ सिंह द्वारा मस्त हाथी को मृदंग-वादन से शांत करना, तानसेन द्वारा गायन से दीपकों का जलना, बाबा राम कुमार दास द्वारा मृदंग-वादन पर मोहित होकर बादलों का जल बरसाना आदि इन चमत्कारों के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

भारतीय संगीतज्ञों द्वारा दिये कुछ कार्यक्रम जोकि पिछले कुछ दस-बारह वर्षों के हैं, उनको काफी महत्व दिया गया तथा उनकी प्रशंसा में पत्रकारों द्वारा जो कुछ लिखा गया है उसी से ज्ञात होता है कि विदेशी संगीतज्ञ भारतीय संगीत के मूल तत्वों से अब परिचित होने लगे है तथा उनको अपनाने की भी चेष्टा कर रहे हैं। विदेशी संगीतज्ञ भारतीय संगीतज्ञों की इस विशेषता पर अति मुग्ध हैं कि वह दो या तीन मिनट की संक्षिप्त बंदिश को छेड़कर उसको विस्तृत रूप से प्रदर्शित अपनी कल्पना के अनुसार ही करता है जबकि विदेशी संगीतज्ञ अपनी रचना को पूर्व नियोजित करके ही प्रस्तुत करता है। उसी को सही रूप में प्रस्तुत कर देना ही कलाकार का काम है।

पाश्चात्य कलाकारों ने भारतीय संगीत पद्धतियों का अनुकरण ही नहीं किया अपितु संगीत के हर क्षेत्र में साधना भी की है। विदेशी कलाकार भारतीय संगीत को अपना गुरु भी मानते हैं। भारत की शास्त्रीय कलाओं को ये लोग केवल शौकिया ही नहीं सीख रहे हैं अपितु काफी मेहनत से सीख रहे हैं जिसका प्रमाण ''साहित्य कला परिषद का दूसरा विदेशी कलाकार उत्सव'' में मिला। यह पाँच दिन का कार्यक्रम था। इस कार्यक्रम में नृत्य

के साथ-साथ संगीत का भी पूर्ण रूप से प्रदर्शन किया गया था। यह कार्यक्रम सभी विदेशी कलाकारों का कार्यक्रम था जिसे काफी संख्या में लोगों ने देखा तथा सराहना की। भारतीय संगीत की प्रशंसा विदेशी कला पारखी खुले दिल से करते हैं। यूरोप के वायलिन-वादक वर्तमान समय को अत्यंत कसौटी का युग मानते हैं। भारतीय संगीत से उन्होंने बहुत कुछ हासिल किया है तथा भारतीय धुनें सीखकर उन्होंने अमेरिका व ब्रिटेन के दर्शकों के सामने प्रस्तुत करके काफी ख्याति अर्जित की है। इस लोकप्रियता को पाने के लिये वे स्वयं को भारतीय संगीत का ऋणी मानते हैं। एम्स्टरडम से श्री अर्नेस्ट हेंस का कहना है कि—उनके लोक-संगीत में लय के उन स्वरूपों का अभाव है जिन्हें भारतीय संगीत में 'ताल' के नाम से पुकारा जाता है। वे केवल दो या तीन मात्रा खण्डों का उपयोग करते हैं और क्वचित ही दोनों स्वरात्मक माधुर्य का महत्व है, इसीलिये एकार्डियन गिटार, पियानो सदृश वाद्यों में पृथक अथवा सम्मिलित रूप से यदि मूल स्वर बजें तो बस यही पर्याप्त होगा। बोलो व ठेको का उनके लोक-संगीत में कोई प्रयोजन नहीं है।

ताल के क्षेत्र में जिस प्रकार भारतीय संगीत में अनेकों प्रभावपूर्ण कथायें प्रचलित हैं उसी प्रकार पाश्चात्य देश भी इससे अछूत नहीं रहे हैं। जापान के संगीत क्षेत्र में एक प्राचीन कथा सुनने को मिलती है जिसके अनुसार—''सूर्य पत्नी ''अमतारामू'' अन्य देवताओं के द्वारा अपमानित होकर एक पर्वत की गुफा में छिप गईं। काफी प्रयास के बाद भी जब वे बाहर न आयीं तो देवताओं ने लयात्मक संगीत द्वारा सम्मोहित करके उन्हें बाहर निकलने को विवश कर दिया।''

इस प्रकार इन सभी उद्धरणों से यही ज्ञात होता है कि पाश्चात्य लय-स्वरूप की तुलना भारतीय ताल शास्त्र से की जाये तो भारतीय ताल शास्त्र का पाश्चात्य की अपेक्षा गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास है तथा भारतीय संगीत से पाश्चात्य देश पूर्ण रूप से प्रभावित हैं एवं भारतीय संगीत की साधना कर उसे अपनाने की चेष्टा भी पूर्ण रूप से कर रहे हैं।

''विभिन्न प्रांतों के लोक संगीतों में ताल'' से तात्पर्य है–''भारत के विभिन्न प्रांतों के विभिन्न लोक संगीत में ताल का महत्व''। विभिन्न प्रांतों में प्रादेशिक संस्कृति की

आवश्यकता के अनुसार भिन्न-भिन्न अवसरों पर जो गीत गाये जाते हैं, उसे ही लोक-संगीत कहा गया है। लोक-संगीत के संस्कार युक्त संस्करण को शास्त्रीय संगीत की संज्ञा दी गयी है। मोटे तौर पर शास्त्रीय संगीत उसे कहते हैं जो शास्त्र के नियमानुसार प्रस्तुत किया जाये तथा लोक संगीत उसे कहा जा सकता है, जिसे कोई भी व्यक्ति उन्मुक्त रूप से गुनगुना उठे। दोनों में अंतर केवल इतना है कि शास्त्रीय संगीत ने विभिन्न राग-रागनियों से सुसज्जित पोशाक पहनी है और लोक-संगीत ध्वनि और लय के अचले बँधे हुये मस्ती भरे अंदाज में उन्मुक्त भ्रमण कर रहा है। किन्तु सत्यता यही है कि संगीत की इन दोनों विधाओं के महल ध्वनि और लय के आधार पर ही खड़े हुये हैं। शास्त्रीय संगीत में स्वर की प्रधानता है तो लोक संगीत में ताल व लय का प्राधान्य है।

भारत के विभिन्न प्रांतों के ग्रामीण अंचलों में फैला हुआ लोक-संगीत मानवीय उल्लास की चटक-चाँदनी है। लोक-संगीत आज सामूहिक रूप में अपने-अपने चौपालों, खेत-खलिहान और गली-गलियारों में विद्यमान है। लोक संगीत को 'देशी संगीत' के नाम से भी पुकारा जाता है। कलाओं का उद्देश्य भावनाओं के उत्कर्ष द्वारा रसानुभूति कराना है। स्वर, ताल एवं लय मन और मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं। इसीलिये संगीत को श्रेष्ठ कलाओं में गिना जाता है। शास्त्रीय संगीत में तकनीकी विशेषतायें अधिक आ जाने से वह लोक-संगीत के समान जन-मन को आकर्षित करने की क्षमता नहीं रखता। इसके विपरीत लोक-संगीत सहज ग्राह्य होने के कारण शीघ्रता से हर उम्र के इन्सान को आकर्षित करता है। जीवन से जुड़ी हुई स्थितियाँ जब लोक-गीतों के माध्यम से फूट पड़ती हैं, तो वे अनायास ही रस की वर्षा करने लगती हैं। सरल शब्दावली प्रत्येक की समझ में आ जाती है जो अपने अर्थ से श्रोताओं को तन्मय कर देती है। लोक संगीत में धुन छोटी होती है, किन्तु शब्दों का अर्थ विशाल होता है। शॉपेन हॉवर का कहना है–''केवल संगीत ही ऐसी कला है जो श्रोताओं से सीधा संबंध रखती है। इसे किसी भी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती'' विश्व का शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसे संगीत से प्रेम न हों, चाहे उसके रूप अलग हों। संगीत ने अपने छँटा हर जगह बिखेरी है। जीवन में जहाँ आनंद और उल्लास है वहाँ विरह और वेदना का भी समावेश है। लोक-संगीत द्वारा जीवन के इन क्षणों को बड़ी

खूबसूरती से याद किया जाता है। कोई भी पर्व हो, विवाह का समय हो, विदाई का समय हो, दोनों ही क्षण गीतों से दर्शाये जा सकते हैं। ईश्वर की भक्ति, देशभक्ति, प्रेमगीत, विरह गीत, रक्षा बंधन, सभी प्रकार के पर्व गीत अर्थात जीवन के सभी सुखद क्षणों के साथ-साथ दुखद क्षणों में भी लोक संगीत स्थायी रूप से जुड़ा हुआ है।

जीवन पथ के किसी भी मोड़ पर रुककर देखें वहीं हमें संगीत का आभास होगा। सुख से, दुःख से, हर्ष से, विषाद से, रूदन से, हास से, संयोग से, वियोग से, जन्म से, मृत्यु से, अर्थात जीवन की प्रत्येक अवस्था से येन केन प्रकारेण संगीत कड़ी अवश्य जुड़ी रहती है। मुण्डन, यज्ञोपवीत, अन्न-प्राशन, विवाह आदि कोई भी शुभ कार्य हो संगीत के बिना वह अपूर्ण है।

संगीत का कोई भी अंग चाहे वह शास्त्रीय संगीत हो, नृत्य हो अथवा लोक-संगीत। मानव का संपूर्ण संगीत लय पर ही आधारित है। आदिम जाति के मानव ने मधुर स्वर की रचना करने से पहले लय का ही विकास किया। संपूर्ण विश्व में संगीत के विकास का प्रथम चरण लय अथवा ताल है। संगीत को प्रामाणिक रूप देने में ताल का महत्वपूर्ण स्थान है। लोक संगीत में भी ताल ही सभी क्रिया-कलापों का वह सूत्रधार है जो समय-समय पर संगीत को गति प्रदान करता है, जिसे सुनकर मानव का मन रूपी मयूर स्वाभाविक रूप से प्रफुल्लित एवं आनंदित हो उठता है। ताल की महत्ता को स्पष्ट करने के लिये श्रीयुत चक्रवर्ती ने ताल को संगीत रूपी नाव का कर्णधार कहा है यथा–

''गीते ताल युक्त, ताल बिना शुद्धि नय,
जैसे कर्णधार बिना नौका तैछे हय।''

इस प्रकार संगीत के सभी अंग ताल पर ही आधारित हैं, केवल ताल के रूप ही लोक संगीत का पृथक रूप दर्शा देते हैं। शास्त्रीय संगीत में लगभग सभी प्रकार की तालें बजायी जाती हैं, अर्थात कहने का अभिप्राय है कि तालों का कठिन-से-कठिन रूप का शास्त्रीय संगीत में समावेश है। जबकि लोक-संगीत में कुछ ही तालें प्रयोग में आती हैं जैसे कहरवा, दादरा, दीपचंदी, खेमटा, हिच जैसे ठेकों का प्रयोग होता है। गुजराती, मराठी,

माँझी-गीत, गरबा आदि गीतों में खेमटा और हिच तालों का प्रयोग अधिक मात्रा में किया जाता है। पंजाबी गीत भी अधिकतर कहरवा ताल में बजाये जाते हैं, जबकि पहाड़ी प्रदेशों में ढोल, नगाड़े आदि वाद्यों पर एक विशेष प्रकार के ठेके बजाये जाते हैं। इसी प्राकर गोवा में 'घुमट' नामक मिट्टी के वाद्य पर 'हिचका' नामक ठेका लगाते हैं। लोक संगीत को तालबद्ध करना उसके स्वरों पर निर्भर करता है। लोक धुनें चूँकि अधिकतर मध्य व द्रुत लय में ही गायी जाती हैं इसीलिये साधारणतया लोक धुनें चार, पाँच स्वरों में सीमित होती हैं। एक ही धुन में अनेकों गीत गाये जाते हैं किंतु बोल भिन्न होने के कारण और विशेष तौर से लय परिवर्तन होने से वे एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हो जाते हैं। लोक-धुनें लोक भाषा में होने के कारण वे सरल तथा आडम्बरहीन होती हैं। इनमें क्लिष्ट शब्दों का अभाव होता है। इस संगीत में दो पंक्तियों को इतना अधिक विस्तृत किया जा सकता है कि एक कहानी का समावेश उसमें किया जा सकता है, जबकि लोक-भाषायें नादमयी होने के कारण इसमें जिनती भी बंदिशें गायी जाती हैं वे सब प्रायः राजस्थनी, पूरबी, पंजाबी, मालवी ब्रज आदि भाषा में मिलती हैं।

पृथक-पृथक भाषाओं के साथ ही भिन्न-भिन्न तालों का भी प्रयोग किया जाता है। जैसे चंचल गीतों अथवा धुनों की संगत अधिकतर कहरवा व दादरा तालों के साथ की जाती है। इसी प्रकार सात मात्रा को भी द्रुत व मध्य लय में बजाते हैं।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोकगीतों में भिन्न-भिन्न भाषाओं व पृथक-पृथक धुनों के होते हुये भी ताल का रूप एक ही होता है, केवल उनको बजाने का तरीका व वाद्य भिन्न प्रकार के होते हैं। तात्पर्य यही है कि तालों का उपयोग केवल शास्त्रीय संगीत में ही न होकर संपूर्ण विश्व में प्रचलित सभी लोकगीतों तथा नृत्य में अविराम गति से होता है। लोक संगीत चाहे किसी भी क्षेत्र का हो, किसी भी धुन में हो ताल वाद्यों के अभाव में रसहीन प्रतीत होगा।

विभिन्न प्रांतों के लोकनृत्यों में ताल–जिस प्रकार लोक संगीत अथवा लोक गीत ताल के अभाव में रसहीन प्रतीत होता है उसी प्रकार हिन्दुस्तानी संगीत में विभिन्न प्रांतों के लोक

नृत्य ताल से परिपूर्ण होकर ही संपूर्णता की ओर अग्रसर होते हैं। गायन संगीत ताल वाद्य के अभाव में कुछ समय के लिये चल सकता है किन्तु एक नर्तक अथवा नर्तिका का पैर बिना ताल वाद्य के उठना संभव नहीं है। मानव जीवन के किसी भी क्षेत्र पर ध्यान दिया जाये तो कोई भी जाति हो, प्रत्येक जाति में नृत्य-संगीत दिखाई देता है। नृत्य के रूप भी अनेक हैं। विवाह अथवा पर्व आदि में ही नहीं अपितु धार्मिक क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के नृत्यों के दर्शन होते हैं उदाहरणार्थ—रासलीला, पौराणिक कथाओं पर आधारित नृत्य जिनमें मानव देवी-देवताओं का रूप धारण करके कथायें प्रस्तुत करते हैं। इसके विपरीत दूसरा नर्तक नृत्य की पूर्ण संयोजना के अनुसार किसी राक्षस अथवा असुर का रूप धारण करता है। तत्पश्चात देवता द्वारा असुर दल की पराजय दिखाकर जन-मानस में देवी-देवताओं के लिये धार्मिक भावना का उदय करते हैं। विशिष्ट प्रदेशों के निवासियों के लोक नृत्यों में उन्हीं तत्वों की, जाने या अंजाने विशिष्ट अभिव्यक्ति हुई है जो उस क्षेत्र की प्रकृति का अपना सहज श्रृंगार है। मणिपुरी नृत्यों में अंगों का तीव्र संचालन करके वहाँ के भयंकर तूफानों और झंझावतों को प्रदर्शित करते हैं। कुछ लोक नृत्यों में अंधविश्वासों से पूर्ण जादू टोनों की रहस्यमय क्षेत्रों की विचित्र अनुभूतियाँ नजर आती हैं।

प्रत्येक प्रांत के लोक-नृत्यों को अलग-अलग रूप व अलग-2 नामों से पुकारा जाता है जैसे कि—असम या उड़ीसा के लोक नृत्यों में—रासलीला बिहू नृत्य, घुमूरा, करमा सावरा आदि आंध्र प्रदेश के—कुचिपुड़ी, माथुरी बथकम्मा, कोलाट्टम, पोरोजा, कौंढ आदि अण्डमान निकोबार, उत्तर प्रदेश की अनगिनत गीत शैली व अनेकों लोक नृत्य जिन्हें—पांडव, जैंता, जद्धा, घड़ियाला, नागरजा, आछरी, झुमैलो, छपेली चैतीपसारा, चांचरि (झौंड़ा), चौलिया, रासलीला, ताल रासक, होली, दीवाली आदि नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रकार पंजाब के—भांगड़ा, गिद्धा, झूमर, कीकी, बुशैहरी आदि गुजरात के गरबा, मंजीरा, मटकी, आदि। इनके अतिरिक्त केरल, जम्मू-कश्मीर, बंगाल बिहार आदि अनेकों प्रांतों के अनगिनत लोक नृत्य हैं जिनमें केवल मानव जाति ही नहीं पशु-पक्षी भी इस कला को अपनाते हैं। बटेर, हंस, मयूर, अश्व, हाथी, तीतर, मुर्गा, बंदर, मत्स्य आदि भी उनके पालक, सारथी (सईस) और महावत, मदारी आदि द्वारा नृत्य करते हैं जो प्रायः सरकस आदि में देखने को मिलता

है। पशु-पक्षी के नृत्य और भी मनोहारी होते हैं क्योंकि यह जाति भी वाद्य-संगीत को पहचानती है व उसी के अनुसार नृत्य करती है।

इस प्रकार भारत में अनेकों लोकनृत्य प्रचलित हैं। जाति, समाज, प्रदेश आदि उनकी अनेक निजी पहचाने हैं। इन सभी नृत्यों में लय व ताल को महत्व दिया जाता है इन नृत्यों के वाद्यों के भी विभिन्न रूप हैं। इन वाद्यों में सबसे अधिक ढोलक का प्रयोग किया जाता है। ढोलक लोकनृत्यों का एक प्रचलित रूप है। नृत्य के समय गीत तथा वाद्य-वादन पर अधिक ध्यान दिया जाता है किन्तु इस प्रक्रिया से नृत्य में स्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिये संगीत की दृष्टि से नृत्य एकांगी है अर्थात केवल गति अथवा लय पर आधारित है एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि नृत्य में संगीत का केवल लय तत्व ही मुख्य रूप से दिखाई देता है। नृत्य में ताल का प्रदर्शन केवल पद-संचालन द्वारा होता है इसीलिये आचार्य नंदिकेश्वर जी भी यही मानते हैं पद-संचालन तालानुसार ही होना चाहिये। पैरों की गतिनुसार ही हाथों को चलाना चाहिये। हाथों के अनुसार ही दृष्टि योजना व दृष्टिनुसार ही भावों का गमन होना चाहिये तथा भावों का अनुगमन ही मन द्वारा किया जाना चाहिये। इससे प्रतीत होता है कि नृत्य का कोई भी तत्व पृथक न होकर एक दूसरे से संबंधित होकर आपस में बँधे हुये हैं, जिसमें एक भी तत्व पृथक होगा तो नृत्य का सौंदर्य घट जायेगा। लोक-नृत्यों में वाद्यों का प्रयोग प्रायः हर्ष व उल्लास बढ़ाने के लिये ही किया जाता है।

लोक नृत्यों के साथ जिन ताल वाद्यों का प्रयोग किया जाता है उन्हें लोक-ताल-वाद्य के नाम से पुकारा जाता है किंतु इन वाद्यों की अनुपस्थिति में आधुनिक ताल-वाद्य 'तबला' अन्य सभी वाद्यों की कमी को पूर्ण कर देता है। इस वाद्य का उपयोग लोक-संगीत व नृत्यों का सौंदर्य और भी अधिक बढ़ा देता है। ताल, लय व स्वर को नियंत्रित करती है तथा संगीत को आकर्षक बनाने व नर्तकों की पदगति को भी नियंत्रित रखने का कार्य करती है। यही कारण है कि जिस प्रकार शास्त्रीय संगीत के लिये ताल को संगीत का प्राण समझा जाता है उसी प्रकार लोक-संगीत में भी ताल को उतना ही महत्व दिया गया है। ताल पद-गति को ही संचालित नहीं रखती अपितु ताल द्वारा भावों का प्रदर्शन, भी होता है। विभिन्न

लयकारियों द्वारा जहाँ एक ओर प्रदर्शन में चमत्कृति उत्पन्न होती है प्रदर्शनकर्ता अथवा नर्तक को भी किंचित विश्रांति का अवसर प्राप्त होता है। विलंबित लय द्वारा जहाँ कारुणिक भाव प्रकट किये जा सकते हैं वहीं द्रुत लय द्वारा उत्साह व उमंग के भाव प्रदर्शित किये जा सकते हैं। मध्य लय निर्वेद भावों की अभिव्यक्ति के लिये सर्वोत्तम मानी गयी है। विभिन्न लयकारियाँ ही नृत्य को एक आकर्षक रूप दे पाती हैं। अतः यह पूर्णरूपेण सत्य है कि भारतीय लोक-नृत्यों में ताल का बहुत महत्व है। यदि भाव को नृत्य का सुंदर शरीर माना गया है तो लय उसकी आत्मा जानी जाती है।

''उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत और ताल''—भारत में प्रायः समस्त विधाओं के लिये कोई-न-कोई देवी या देवता को प्रेरणा का स्रोत माना जाता है। इसी आधार पर सरस्वती देवी को विद्या व संगीत को देवी माना जाता है। माँ सरस्वती के कर कमलों में वीणा, भगवान शंकर के हाथों में डमरु तथा स्वर्ग में गंधर्व (गायन करने वाले), किन्नर (वादन करने वाले) तथा अप्सरा (नृत्य करने वाली स्त्रियाँ) आदि के उल्लेख से स्पष्ट है कि भारतीय संगीत अत्यंत प्राचीन है। एक पाश्चात्य विद्वान का अनुमान है कि—''मेरी राय में भारतीय संगीत का जन्म ईसा से लगभग पंद्रह-बीस सहस्र वर्ष पूर्व हुआ होगा।'' परन्तु आधुनिक विद्वानों के मतानुसार व भारतीय पुरातत्व विभाग की खुदाई के द्वारा प्राप्त मूर्तियों तथा शिलालेखों से यह निश्चित हो चुका है कि भारतीय संगीत का जन्म ईसा से आठ-नौ हजार वर्ष पूर्व हो चुका था। एक इतिहासकार ने लिखा है कि—''आज जब हम भारतीय संगीत की गहराई को देखते हैं तो उससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतीय संगीत का जन्म अवश्य ही ईसा से आठ नौ सहस्र वर्ष पूर्व हुआ होगा। संगीत में इतनी अधिक गहराई आने के लिये इतना ही समय चाहिये, इससे कम नहीं। इतिहास के विद्वानों का मत है कि भारतीय संगीत की नींव द्रविड़ों के संगीत पर आधारित है। द्रविड़ों को संगीत के वैज्ञानिक रूप का ज्ञान था और चिकित्सा के क्षेत्र में भी उन्होंने संगीत का प्रयोग किया था।

शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त संगीत के और भी अनेक रूप हैं किन्तु शास्त्रीय संगीत अन्य संगीतों से अलग तो दिखाई देता ही है, सामान्य दृष्टि से विचार किया जाये

तो शास्त्रीय संगीत से अभिप्राय संगीत का एक नियमित व नियंत्रित रूप है जिसको एक आम मानव के लिये समझना कठिन है। शास्त्रीय संगीत का मूल आधार नाद, लय, गति, ताल, पद आदि हैं, जिनके संयोजन व प्रबंध से शास्त्रीय संगीत का प्रदर्शन किया जाता है। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सैद्धांतिकता व वैज्ञानिकता के माध्यम से स्पष्टता तथा सरलता है। इस संगीत की दूसरी विशेषता उसमें भी प्रयुक्त की जाने वाली निश्चित पारिभाषिक शब्दावली है जिससे 'संगीत का केवल शास्त्रीय पक्ष ही नहीं क्रियात्मक पक्ष भी अत्यंत समृद्ध व स्पष्ट हुआ है।

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत नियमों से नियमित होते हुये भी अपने आप में एक पूर्णतः स्वतंत्र कला है। अनुशासन व स्वतंत्रता के बीच कला का रूप और अधिक सौंदर्य से परिपूर्ण हो जाता है। किसी भी राग के गायन व ताल के वादन में गायक-वादक उसे कुछ नियमों व एक निश्चित स्वरूप के अंतर्गत सीमित करके मनचाहा विस्तार प्रदान कर सकता है। स्वर, राग, ताल, थाट आदि का पूर्व रूप होते हुये भी स्वरों के विस्तार, आलाप, स्वरूप व अभिव्यक्ति की दृष्टि से कलाकार अपनी प्रस्तुति को हर बार नया रूप दे सकता है। शास्त्रीय संगीत के निबद्ध तथा अनिबद्ध, दोनों ही रूप मनोहारी होते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि दोनों रूपों में ताल प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहती है। संगीत का अनिबद्ध रूप तालहीन नहीं होता। इसमें लय का समावेश उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि अतुकांत कविता में प्रवाह होता है।

संगीत साहित्य 'अमरकोष' के अनुसार समय का माप ही 'ताल' है तथा उसका माप लघु, गुरु तथा प्लुत द्वारा किया जाता है। नियमानुसार लघु को एक मात्रा तथा दीर्घ को दो मात्रा का रूप दिया गया है। विभिन्न पक्षियों की बोलियों को भी भिन्न-भिन्न मात्राओं का आधार मानकर अनेक मात्राओं में विभाजित किया गया है जैसे—नीलकंठ की बोली को एक मात्रा, कौए की दो, मोर की बोली तीन मात्रा प्रकट करती है। ताल को भी चार प्रमुख भागों 1. सम 2. विषम 3. अतीत व 4. अनाघात में विभाजित किया गया है। उदाहरण के लिये जैसे तीन ताल के विभागों को चार भागों में विभाजित करके चार-चार मात्राओं से परिपूर्ण किया गया है। इन चारों विभागों में से तीन विभागों की प्रथम मात्रा

पर ताली तथा एक विभाग पर ताली न होकर खाली का रूप दिया गया है। दूसरी ताल पर सम है। 'सम' के कुछ ही समय पश्चात ताल देने को विषम तथा कुछ समय पहले ताल देने को अतीत एवं अतीत और सम अथवा सम या विषम के मध्य में ताल देने को 'अनाघात' कहा जाता है। ताल के साथ ही लय का मिलता जुलता रूप है इसको भी तीन भागों में विभाजित किया गया है। 1. विलंबित लय 2. मध्य लय तथा 3. द्रुत लय। राग का मूल आधार लय ही है तथा राग की कृति लय से घनिष्ठ संबंध रखती है। उदाहरण के लिये शांत रस के रागों का सौंदर्य विलंबित लय में ही दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार के राग द्रुतलय में गाने से उनका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। स्वरों का वास्तविक रूप दर्शाने के लिये लय का सबसे अधिक ध्यान रखना आवश्यक होता है। लय में परिवर्तन करके ही कुआड़ी, आड़ी तथा बिआड़ी आदि का रूप दिया गया है—इसी कारण इसमें सम, विषम, अतीत व अनाघात चारों गृहों का समावेश करके इनसे सम-स्थान में सौंदर्य उत्पन्न किया जाता है।

संगीत में लय अवाद्य रूप से गतिशील है उसे ताल के संयोग से सीमित करके विभिन्न रूपों में संगठित करके ताल की संज्ञा में सम्मिलित किया जाता है। ताल को भी नियमित व अनियमित दो रूपों में माना गया है। नियमित तालें नियमाबद्ध, (अर्थात जो नियमों से आबद्ध हों) कहलाती हैं तथा अनियमित तालें किसी विशेष नियम में बंधित नहीं होतीं। शास्त्रीय संगीत की तीनों ही विधायें गायन, वादन और नृत्य की संगति हेतु तालों का प्रयोग किया जाता है किन्तु सभी ताल वाद्य शास्त्रीय संगीत की संगत हेतु प्रयुक्त न होकर कुछ विशिष्ट ताल वाद्य ही शास्त्रीय संगीत में प्रयोग किये जाते हैं जैसे उत्तर भारत में तबला, पखावज व कर्नाटकीय संगीत में मृदंगम आदि।

इसी प्रकार शास्त्रीय संगीत में सभी तालें न बजाकर कुछ नियमित तालें ही बजायी जाती हैं। प्रचलित शास्त्रीय तालें पाँच श्रेणी में विभाजित करके तालें भी उन्हीं के अनुसार विभाजित की गयी हैं जैसे ध्रुपद के लिये खुले बोलों की तालें, छोटा ख्याल व बड़ा ख्याल गायन हेतु बंद बोलों की तालों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिये—ध्रुपद अंग की तालें—चारताल, सूलताल, धमार तथा तीव्रा आदि प्रयोग में लाई जाती हैं। इसी प्रकार

ख्याल अंग हेतु—तिलवाड़ा, एकताल, झूमरा आदि तालें हैं। टप्पा अंग में पंजाबी, ताल मध्यमान (बंगला का) जतताल आदि तालें बजाकर प्रयोग में लाई जाती हैं। ठुमरी गायन-दीपचंदी, अद्धात्रिताल, जतताल पर निर्भर है तथा अंत में सुगम संगीत की तालें कहरवा, दादरा, धुमाली, पोस्त आदि हैं।

भारतवर्ष में विभिन्न तालों का प्रयोग संगीत में किया जाता है जबकि अन्य देशों में संगीत का लयात्मक रूप अत्यल्प है। तालों का पृथक-पृथक लयात्मक सौष्ठव के साथ मृदंग के वादक द्वारा प्रदर्शन ही भारतीय संगीत की विशेषता है। प्रचार में अनेकों तालें ऐसी हैं जिनका उपयोग विभिन्न गीत शैलियों के लिये किया जाता है। ताल की रचना किसी गीत अथवा वाद्य शैली हेतु स्वतंत्र रूप से नहीं हुई है। इसी कारण शास्त्रीय संगीत में तालों का प्रयोग विभिन्न लयों के आधार पर पृथक-पृथक होता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में ताल का प्रारंभिक समय कोई निश्चित नहीं है फिर भी उत्तर भारतीय संगीत पद्धति का प्रचलन समय 13वीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। ताल को शास्त्रीय संगीत की आत्मा माना जाता है तथा ताल ही शास्त्रीय संगीत में प्राण की तरह समायी हुई दिखाई देती है।

दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत और ताल—संगीत का सौंदर्यशास्त्र स्वर, ताल और पद संबंधी उन सभी बिन्दुओं का दार्शनिक चिंतन है, जो तत्संबंधी सौंदर्यानुभूति में सहायक है। कला की कलात्मकता उसके प्रयोग से अधिक उसके ग्रहण पर आश्रित है और यही कलात्मकता का बोध उसका सौंदर्य-शास्त्र होता है। चाहे वह संगीत के प्रसंग में हो अथवा अन्य किसी ललित कला के प्रसंग में। मानव जीवन की पूर्णता कलापेक्षी है मानव-अस्तित्व कलाधारित है एवं मानव-चेतना कलाकांक्षी है।

भारतीय संगीत का मूलाधार एक होते हुये भी दो भिन्न धाराओं में प्रवाहित हुआ है। उत्तर एवं दक्षिण भारतीय संगीत पद्धतियों के अलग-अलग रूप होते हुये भी ये एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। दक्षिण भारत में भी उत्तर भारतीय संगीत के समान ही ताल के विधान का विकास हुआ है। भारतीय संगीत जगत के एक सम्मानित व्यक्ति डा० परांजपे के अनुसार—कनार्टक ताल पद्धति से तात्पर्य पिछली 2-3 शताब्दियों से दक्षिण भारत में

प्रचलित ताल प्रणालियों से है। ताल-कला व ताल-शास्त्र दोनों का ही समन्व्य इन प्रणालियों में अन्तर्निहित है। दक्षिण भारतीय संगीत के अन्तर्गत तालांकन प्रणाली प्रायः प्राचीन व मध्यकाल परंपरा के अनुकूल है। प्राचीन भारत में गायन शैलियों की एक पद्धति ही प्रचार में थी, तत्पश्चात समय के परिवर्तन के साथ ही धीरे-धीरे गायन शैलियों में परिवर्तन होना आंरभ हुआ। कारण केवल विदेशी आक्रमणों का प्रारंभ होना ही था। जहाँ भी आक्रमण होते वहाँ संगीतज्ञ संगीत पर ध्यान न देकर जीवन की फिक्र करते थे। इसलिये या तो संगीतज्ञ उस स्थान को ही छोड़ देते अथवा संगीत छोड़कर किसी अन्य राह पर निकल पड़ते थे। दक्षिण-भारत पर आक्रमण नहीं हुये इसी कारण वहाँ के संगीत का प्राचीन रूप बरकरार रहा व वहाँ की कला इन प्रभावों से अछूती रही। प्रारंभ में यह परिवर्तन काफी कम रहा किंतु बाद में यह एक विशाल रूप धारण कर गया। वर्तमान समय में भी देखा जाये तो ज्ञात होता है कि वहाँ की गायन शैलियां 100 वर्ष पूर्व की हैं। उनसे हमारे संगीत का कुछ रूप परिवर्तित हो गया है, अर्थात हमारे स्वर, नाम, राग इत्यादि कुछ पृथक हो गये हैं। उनके गायन का एक विशुद्ध रूप दिखाई देता है। अतः उनकी शैलियाँ भी Fixed कहलाती हैं। किन्तु यह परिवर्तन होते हुये भी उत्तर व भारतीय संगीत काफी समानता रखता है।

'दक्षिण भारतीय संगीत' का प्राचीनकाल से ही अत्यंत लयात्मक स्वरूप रहा है। ताल के क्षेत्र में गणित के सिद्धांतों का प्रयोग अति सूक्ष्मता से किया जाता है। यह सूक्ष्मता उत्तर भारतीय संगीत या तालों में कम ही नजर आती है। दक्षिण के मूल सप्त तालों में पैंतीस प्रकार, लघु के पंच जाति भेदों के आधार पर गणित द्वारा संभव होते हैं जिनको अनेक रूपों में परिवर्तित करके विभाजित किया गया है। पृथक रूप से परिवर्तित करके नये-नये रूपों में विकसित करके 350 तालें संभव की जा सकती हैं। 'संगीत रत्नाकार' में 108 तालों की व्यवस्था है। कर्नाटक संगीत की सात प्रमुख तालें—ध्रुव, मठ, रुपक, झम्प, त्रिपुट, अठ व एकताल हैं—जिनके प्रत्येक अंग को तिगुना, चौगुना, पंचगुणा, छःगुना, नौगुना करके 7 तालों को 35 तालों के रूप दिये गये है तथा इन्हीं 35 तालों को बढ़ाकर अनेकों तालों का रूप दिया जाता है।

कर्नाटक ताल पद्धति में उत्तर भारतीय ताल पद्धति के समान 'खाली' का कोई स्थान नहीं होता, अर्थात इस पद्धति में जिस ताल में जितने चिन्ह होंगे उतनी ही ताली या 'भरी' होंगी। इसके अतिरिक्त और भी अनेकों अंतर इन दोनों पद्धतियों में दिखाई देते हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि दक्षिण के संगीत का अभी भी वही रूप चला आ रहा है जो आदिकाल में था। शास्त्रीय संगीत का वह रूप गायन, वादन तथा नृत्य तीनों ही सांगीतित रूप प्राचीनतम हैं।

गायन क्षेत्र में कर्नाटक पद्धति के अन्तर्गत वर्तमान समय में भी अंतिम श्रुति पर ही स्वर को महत्व दिया जाता है—जबकि उत्तर भारत में भातखंडे जी के बाद पहली श्रुति पर स्वर को महत्व दिया जाने लगा। दक्षिण में "चल स्वर" का स्थान पंचम को दिया जाता है तथा मध्यम ग्राम में पंचम एक श्रुति उतरा हुआ रहता है, इसके विपरीत उत्तर भारतीय संगीत के अंतर्गत पंचम को "चल स्वर" न मानकर "अचल स्वर" की संज्ञा दी जाती है। दक्षिण में विवादी स्वर का प्रयोग न करके वादी स्वर के दूसरे रूप को विवादी मान लिया जाता है किन्तु उत्तर भारत में ऐसा कोई नियम नहीं है, यहाँ किसी भी स्वर की विवादी स्वर मान लिया जाता है। इसके अतिरिक्त दक्षिण में 'जाति' के दस लक्षणों में विशेष रूप से अंश स्वर के नियमों का कठोरता से पालन किया जाता है व शेष नौ लक्षणों का पालन करने का प्रयास करते हैं, जबकि उत्तर भारत में उपर्युक्त नियमों का कोई पालन नहीं किया जाता। इस पद्धति में बहत्तर ठाठ आज भी पूर्ण रूप से प्रचलित हैं जबकि उत्तर भारत में एक भी ठाठ का प्रचलन नहीं है। उत्तर भारत में भातखंडे जी के द्वारा दक्षिण के बहत्तर ठाठों में से दस के नाम तो चुने गये किंतु उनके वे स्वर नहीं है जिनका प्रचलन होना चाहिये था। दक्षिण में अधिकांश लोग गुरु-शिष्य परंपरा के अंतर्गत ही गायन, वादन व नृत्य की शिक्षा ग्रहण करते हैं।

इसी प्रकार नृत्य का क्षेत्र भी उत्तर व दक्षिण भारत में काफी अंतर रखता है। दक्षिण में अधिक नृत्य शास्त्रीय रूप में ही प्रचलित हैं। उदाहरण के लिये—भरत नाट्यम। यह नृत्य शास्त्रीय संगीत के रूप में प्रचलित है तथा साथ ही यहाँ प्रचलित नृत्य भगवान की भक्ति से ओत-प्रोत हैं। यह नृत्य वहाँ भगवान शंकर की देन माना जाता है। दक्षिण-भारतीय

मंदिरों में देवाराधन के लिये इस नृत्य को शास्त्रीय क्रम के अनुसार प्रयोग में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त दक्षिण में केरल प्रदेश का मुख्य नृत्य 'कथकलि' है जिसमें कथाओं का समावेश करके किसी कथा को प्रस्तुत करने के लिये पात्रों को बड़े-बड़े मुखौटे लगाकर संगीतमय अभिव्यक्ति के साथ प्रस्तुत करने की प्रथा है। इसके अतिरिक्त आंध्र प्रदेश का कुचिपुड़ी व उड़ीसा का ओड़िसी नृत्य प्रचलित है। कहने का अर्थ है कि दक्षिण के सभी नृत्य भक्ति भाव से परिपूर्ण एवं कथाओं व धर्म को जीवित बनाये रखने में सक्षम हैं। इसके विपरीत विदेशी आक्रमणों के कारण यहाँ की संस्कृति में अनेकों परिवर्तन हुये। जिस कारण अनेकों प्रकार की वेशभूषा, तरह-तरह के व्यंजन व विविध प्रकार की कलाओं ने यहाँ जन्म लिया। उत्तर भारत का प्रमुख नृत्य कत्थक है। यह नृत्य भी कथा का गायन करने में सक्षम होता है। कथा का गायन करने वाले नृत्य ''कत्थक नृत्य'' कहलाये, जिनके द्वारा 'नटवरी नृत्य' नाम से एक ऐसी शैली का जन्म हुआ जोकि भाव प्रधान व चमत्कार प्रधान तत्वों से समावेशित था। इस नृत्य में गत, तोड़े, तत्कार, नायक-नायिका आदि का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त उत्तर भारत के अनेकों नृत्य हैं।

शास्त्रीय संगीत के तीनों अंग गायन, वादन व नृत्य तीनों का मूल आधार ताल ही है। ताल के अभाव में नृत्य का समस्त सौंदर्य ही समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार गायन का सौंदर्य भी ताल द्वारा ही आकर्षण से भरपूर किया जाता है। नृत्य के भावों का प्रदर्शन ताल द्वारा पूर्ण रुपेण किया जा सकता है। उत्तर भारतीय संगीत की अपेक्षा दक्षिण भारतीय संगीत, संगीत के प्राचीन सिद्धान्तों को वर्तमान समय में भी प्रचलित करके उसका प्राचीन रूप सुरक्षित रखे हुये है।

-x-x-x-x-x-x-x-x-x-x-

परिशिष्ट

सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची

1. भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन : ले० अरुण कु० सेन, सन् 1973, भोपाल, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी।

2. संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता : ले० चित्रा गुप्ता, सन् 1992, नई दिल्ली, राधा पब्लिकेशन्स।

3. भारतीय संगीत में ताल और रुप विधान : ले० सुभद्रा चौधरी, सन् 1984 लक्ष्य लक्षण मूलक अध्ययन, अजमेर, कृष्णा ब्रादर्स।

4. भारतीय संगीत की वास्तविक रूपरेखा : ले० डा०टी०आर शुक्ला, सन् 1994 प्रकाश बुक डिपो (प्रथम संस्करण) बरेली-243003

5. भारतीय संगीत वाद्य : ले०डा० लालमणि मिश्र, सन् 1973 भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली-36025

6. संगीत विशारद : ले० वसन्त, सन् अप्रैल—1998, (22वाँ संस्करण) संपादक—डा० लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस।

7. ताल वाद्य शास्त्र : ले० मनोहर लाल चंद्र राव मराठे

8. हिंदुस्तानी संगीत शास्त्र : ले० भगवत शरण शर्मा, सन् जनवरी 1986 (पंचम संस्करण), संगीत मंदिर, 101 दुकानी, खुरजा-203131

9. भारतीय संगीत शास्त्र की भूमिका : ले० डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

10. संगीत शास्त्र : डा० जगदीश सहाय कुलश्रेष्ठ सन् 1992।

11. संगीत विशारद : ले० वसन्त, सन् 1991
सं० डा० लक्ष्मी नारायण गर्ग,
संगीत कार्यालय, हाथरस।

12. उत्तरी भारत में संगीत शिक्षा : ले० तृप्त कपूर, सन् 1989

13. तानसेन जीवनी व्यक्तित्व तथा कृतित्व : ले० आचार्य हरिहर निवास द्विवेदी।

14. उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास: ले० पं० विष्णु नारायण भातखंडे,
सं० लक्ष्मी नारायण गर्ग,
संगीत कार्यालय, हाथरस।

15. तबला शास्त्र : ले० मधुकर गणेश गोडबोले, सन् 1991
अशोक प्रकाशन मंदिर,
इलाहाबाद—3

16. हमारा संगीत : ले० सौ० सुमन पाटणकर (भाग-4)
संगीत कला केन्द्र, बुलन्दशहर।

17. तबले का उद्गम, विकास और वादन शैलिया : ले० श्रीमती योगमाया शुक्ल, सन् 1987
प्रथम संस्करण, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित
मॉडल टाउन, दरियागंज, दिल्ली।

18. भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास : ले० डा० जोगेन्द्र सिंह बावरा, सन् 1994
(प्रथम संस्करण)
प्रकाशक : ए०बी०एस० पब्लिकेशन
नया बाजार, जालंधर।

19. भारतीय संगीत शास्त्र : ले० तुलसी राम देवांगन, सन् 1997
(प्रथम संस्करण) मध्य प्रदेश,
हिन्दी ग्रंथ अकादमी

20. ताल प्रकाश : ले० किशन महाराज,
सं० लक्ष्मी नारायण गर्ग,
प्रकाशक : संगीत कार्यालय, हाथरस
(उ०प्र०)

21. संगीत विशारद : ले० वसंत, सन् 1999, 23वाँ संस्करण, संपा० लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस।

22. संगीत बोध : डा० शरच्चन्द्र श्रीधन परांजपे, सन् 1980 द्वितीय संस्करण, मध्य प्रदेश, हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

23. भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान : ले० वसुधा कुलकर्णी, सन् 1990 प्रथम संस्करण, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर।

24. संगीत शास्त्र पराग : ले० गोविन्द राव राजुरकर, सन् 1982 प्रथम संस्करण, राजस्थान, हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

25. मृदंग तबला प्रभाकर : ले० श्री भगवान दास मृदंगाचार्य, (प्रथम संस्करण) प्रकाशक : लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस (उ०प्र०)

26. भारतीय संगीत का इतिहास : ले० डा० शरच्चन्द्र परांजपे, सन् 1985 द्वितीय संस्करण, प्र० चोखम्बा विद्या भवन, वाराणसी 221001

27. भारतीय संगीत में वाद्य वृन्द : डा० कविता चक्रवर्ती, सन् 1991 प्रथम संस्करण, राजस्थानी ग्रन्थागार।

28. भारतीय लोकजीवन एवं संस्कृति : ले० अमर सिंह वधान, सन् 1999 प्रथम संस्करण, खोसला पब्लिशिंग हाउस, 4380/4 कौशल्या अपार्टमेंट, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।

29. राजस्थान के ''रजवाड़ी गीत'' : ले० ठाकुर जसवंत सिंह, सन् 1990 प्रथम संस्करण, संघी प्रकाशन, जयपुर, उदयपुर।

30. हिमाचल के लोकवाद्य : डा० सूरत ठाकुर, सन् 1996
प्रथम संस्करण,
प्र० अभिषेक पब्लिकेशन्स, चण्डीगढ़।

31. वाद्य यन्त्र : ले०बी० चैतन्य देव, सन् 1993
प्रथम संस्करण, अनुवादिका : अलका पाठक,
नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली।

32. लोक संगीतों का विकासात्मक अध्ययन : डा० कुलदीप, सन् 1972, प्रथम संस्करण,
प्र० रामगोपाल परदेसी,
प्रगति प्रकाशन, आगरा।

33. रामपुर की सदारंग पंरपरा और प्रतिनिधि आचार्य बृहस्पति : ले० सरयू कालेकर, सन् 1984
बृहस्पति पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

34. भारतीय संगीत एक वैज्ञानिक विश्लेषण : ले० स्वतंत्र शर्मा, सन् 1986 मार्च,
प्रथम संस्करण, टी०एन० भार्गव एंड संस,
इलाहाबाद।

35. भारतीय शास्त्रीय संगीत एक मनोवैज्ञानिक आयाम : डा० साहित्य कुमार नाहर, सन् 1999
प्रथम संस्करण, प्र० राधेश्याम शुक्ल,
प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली।

36. संगीत की उच्चस्तरीय शिक्षण प्रणाली : डा० पुष्पेन्द्र शर्मा,
ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-110007

37. ताल प्रकाश : ले० भगवत शरण शर्मा, सन् 1959
प्रथम संस्करण, प्र० लक्ष्मी नारायण गर्ग,
संगीत कार्यालय, हाथरस।

38. मृदंग सागर : ले० शंकर जी सुत घनश्याम पखावजी
सन् 1967
प्र० श्रीनाथ द्वारा मेवाड़।

39. ख्याल गायन शैली विकसित आयाम : ले० सत्यवती शर्मा, सन् 1994
प्रथम संस्करण,
पंचशील प्रकाशन, जयपुर-302003

40. भारतीय संगीत और आचार्य बृहस्पति : डा० जतिन्द्र सिंह, सन् 1990 (प्रथम संस्करण) अभिषेक पब्लिकेशन, चंडीगढ़।

41. हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति (क्रमिक पुस्तक मालिका) : चौथी पुस्तक, ले० विष्णु नारायण भातखंडे, प्र० संगीत कार्यालय, हाथरस।

42. भारतीय संगीत का इतिहास : उमेश जोशी

43. ख्याल शैली का विकास : डा० मुधबाला सक्सैना, सन् 1985 विशाल पब्लिकेशन्स, कुरुक्षेत्र।

44. संगीत चिंतामणि : आचार्य बृहस्पति, संशोधित-संगीत कार्यालय, हाथरस

45. The Story of Indian Music : ले० O. Goswami

46. क्रमिक पुस्तक मालिका : पं० भातखंडे, भाग-3, सन् 1957

47. ताल परिचय भाग-2 : गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, नवीन संस्करण-2001 प्रकाशक, संगीत सदन प्रकाशन, 88, साउथ मलाका, इलाहाबाद-1

पत्रिका

1. संगीत कला विहार (पत्रिका) : अ०भा० गंधर्व महाविद्यालय मंडल, मुम्बई प्रकाशन।

2. संगीत (पत्रिका) : प्रकाशक, संगीत कार्यालय, हाथरस।